वचन-साहित्य-माला—प्रथम पुष्प

वचन-साहित्य-परिचय

हम सब एक ही पर-शिवकी सन्तान हैं,
हमारा बंधुत्व स्वाभाविक है।
बांधवोंमें कौन ऊंच और कौन नीच ?
म० बसवेश्वर

लेखक
रं. रा० दिवाकर
भावानुवादक
बाबुराव कुमठेकर

१९६०
सस्ता साहित्य केन्द्र
१७३-डी, कमला नगर,
दिल्ली-६

प्रकाशक
सत्साहित्य केन्द्र
१७३-डी, कमला नगर,
दिल्ली-६

प्रथमावृत्ति
अक्तूबर १९६०
मूल्य दस रुपये

मुद्रक
सत्यपाल धवन,
दी सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस,
८०-डी, कमला नगर,
दिल्ली-६

क्षमायाचना

उत्तर प्रदेशीय शासनके शिक्षा विभागने इस पुस्तकके प्रकाशनके लिए २००० रु० का अनुदान दिया था। अनुदान-के नियमानुसार यह पुस्तक जूनके अन्त तक प्रकाशित होनी थी। किन्तु सकारण या अकारण ऐसा नहीं हो सका। इसके लिए लिखित तथा प्रकट रूपसे क्षमा प्रार्थी हूं।

—अनुवादक

FOREWORD

I welcome very warmly the Hindi rendering of my Kannada book on the Veerashaiva Vachanakars. I congratulate Baburao Kumtekar on getting this rendering by him, namely Vachana Sahitya Parichaya published in the form of a nicely bound volume Both Kannada and Hindi languages stand indebted to him for adding the second arch to the bridge that he has started building between them – the first being his Hindi rendering of the songs of the great Kannada Saint-Singer, Purandara Das.

Students of Indology are sometimes likely to think that the study of Sanskrit, Pali and Prakrit or translation of works in these languages exhausts their subject. But it is time to discover that there are literary and other works in the various languages of India which have to be studied if one were to understand and appreciate the real depth, range, and richness of Indian life, thought and culture. Indian genius did not end nor did its vitality and originality stop with compositions in the languages mentioned above. The creative urge has continued and it is a mistake to think that the great literary and other works in the various languages of India are mere repetitions or imitations.

In the Kannada language, Vachana literature can be said to be original in many ways and is a type by itself. It is the creation of Veerashaiva mystics, thinkers and saints. We find the mention of about two hundred of them—thirty being women—over a range of nearly three centuries. This literature is not mere commentary. It is mostly in the form of original aphorisms. It is prose but sometimes rises to rhythmic excellences of a rare type. It is almost an outburst arising out of experience and taking shape in the simplest phrase available to the writer. The range of thought and feeling

is as wide as injunctions for a good and virtuous life and as deep as the ecstatic experience of the highest mystic The variety and ways of life also range from an ordinary ethical life to the dedicated life of one living in the unitive experience of God. The Vachanakars hold spiritual values as the highest and they attach mercilessly all distinctions of caste,creed, race and sex They praise dignity of labour to the extent of saying that labour for living is heaven itself. Some of them are quietistic others activists, still others contemplatives. But every one of them is full of spirituality.

Most of them followed the Veerashaiva cult and it is natural that many of the Vachanas should speak of Shaiva ritual and Veerashaiva symbolism derived from the Shaivagamas. But when the Vachanas speak about Yoga and yogic sadhana and about mytic experiences, they speak a universal language common to humanity and known to men and women who seek the Truth through inner experience. It is on such occasions that the Vachankars rise to Upanishadic heights and their language is like a mirror held to the intimate experiences of mystics all over the world.

It is heartening to see that Baburao could take up this kind of work and complete it. It is still more encouraging to find that Satsahitya Kendra of Delhi has come forward to publish this book. Lel me hope that this rare attempt will be appreciated by all lovers of real knowledge and by all who stand for national integration af India through mutual appreciation of the genuine contributions made to the life and culture of India by people speaking in diffirent languages and living in different parts of India.

Bomaby 5-2-1961.

R. R. Diwakar.

दो शब्द

वीर-शैव वचनकारों के सम्बन्ध में लिखी मेरी कन्नड़-पुस्तक के हिन्दी-संस्करण का मेरी ओर से हार्दिक स्वागत है। एक सुन्दर पुस्तक के रूप में प्रकाशित 'वचन-साहित्य-परिचय' के हिन्दी-रूपान्तर (कन्नड़ वचन गद्य की मौलिक शैली में) के लिए मैं बाबुराव कुमठेकर को धन्यवाद देता हूँ। कन्नड़ तथा हिन्दी भाषा-भाषी जन-समाज की सम्पर्क-शृंखला की इस दूसरी कड़ी के लिए दोनों भाषा-भाषी इसके अत्यन्त ऋणी हैं। इस शृंखला की प्रथम पुस्तक में कन्नड़ के महान् भक्त-गायक कवि श्री पुरन्दरदास की रचनाओं का रागानुसारी हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित किया जा चुका है।

भारत-विद्या के विद्यार्थियों के लिए संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि भाषाओं की रचनाओं अथवा इनके अनुवादों का अध्ययन एक प्रकार से काफी बोझिल-सा हो जाता है। किन्तु यदि कोई भारतीय जीवन, विचारधारा तथा संस्कृति की वास्तविक गहराई, उनकी विशालता, तथा सम्पन्नता से भलीभांति परिचित होना चाहता है तो उसके सामने भारत की विभिन्न भाषाओं का विशाल साहित्य पड़ा है। इसके अध्ययन के बिना कोई ज्ञान अधूरा ही रहेगा। किसी का यह सोचना नितान्त अनुचित है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं की साहित्यिक रचनाएँ केवल पुनरावृत्ति और अनुकृति-मात्र ही हैं। भारतीय रचनात्मक प्रेरणा अटूट रूप से चली आ रही है। न कभी भारतीय प्रतिभा का अन्त हुआ है, न उसकी अन्तर्निहित शक्ति तथा मौलिकता का भी।

कन्नड़ भाषा में, वचन-साहित्य अत्यन्त मौलिक तथा अपने ही ढंग की अनोखी वस्तु है, जो वीर-शैव अनुभावियों की रचनाओं का अनुपम और अनन्त भण्डार है। इस वचन-साहित्य में सौ वर्षों की अवधि में हुए लगभग दो सौ वचनकारों के जिनमें तीस महिलाएँ भी सम्मिलित हैं, अपने अनुभव हैं। यह साहित्य भाष्यात्मक नहीं, सूत्रात्मक है। यह गद्य में होते हुए भी कहीं-कहीं पद्यात्मकता की चरम सीमा तक पहुँच गया है। यह श्रुति-साहित्य है, कृति-साहित्य नहीं।

यह उनकी सामूहिक साधना में प्राप्त अनुभवों के कथन से भरा है: न कि रचना-मात्र से। उनके विचार तथा भावनाओं की विशालता समृद्ध जीवन के विकास की सीमा तक फैली हुई है और गहराई हृदय के अन्तराल के आत्मानुभूति की सीमा पार कर उसके गाभे में जा रोपित हुई है; तथा उनकी जीवन-पद्धति विविधता से इतनी भरी है कि उसमें जीवन के सामान्य नीति-नियमों से लेकर ईश्वर में समर्पित मुक्तावस्था तक की स्थिति का समावेश है। ये वचनकार आध्यात्मिकता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर जाति-पाँति, वर्ण-वर्ग, धर्म तथा लिंग-भेदादि को निर्दयतापूर्वक उखाड़ फेंकने का प्रयास करते हैं। वे श्रम-प्रतिष्ठा के इतने अधिक कायल हो गए थे कि उनके जीवन का आदर्श "कायक ही कैलास"-सा हो गया था। उनमें से कुछ चिन्तनशील तो कुछ कर्तृत्वशाली हैं, किन्तु ये सब हैं आध्यात्मिक अनुभाव से पूर्ण।

लगभग ये सभी वीर-शैव-साधना परम्परा के हैं, और यह स्वाभाविक भी है कि इनके वचन अधिकतर शिवागमान्तर्गत शैव-शब्द-प्रणाली में हैं किन्तु जब कभी ये योग, योग के अनुभव तथा अपनी आत्मानुभूति आदि के विषय में बोलते हैं, उस समय की इनकी भाषा जन-सामान्य की होती है। ऐसे अवसरों पर ये वचनकार उपनिषदों की भाषा में अपने विचार व्यक्त करते हैं जो सम्पूर्ण विश्व के अनुभावियों के हृदय के गवाक्ष से हो जाते हैं।

यह प्रसन्नता की बात है कि बाबुराव ने इस काम को अपने हाथ में लिया और उसे पूरा किया, साथ-साथ यह भी बड़ी उत्साहवर्धक बात है कि दिल्ली के सत्साहित्य केन्द्र ने इसको प्रकाशित किया। मुझे आशा है कि सच्चे ज्ञानार्थी तथा वे सब लोग इस सराहनीय प्रयास का स्वागत करेंगे जो भारत के विविध भाषा-भाषी लोगों द्वारा भारतीय जीवन-संस्कृति में दिये गए योगदान का पारस्परिक समन्वय करके राष्ट्रीय भावैक्य की स्थापना करना चाहते हैं।

बम्बई

५-२-१९६१ — रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

परिचय-खण्ड

वचनामृत-खण्ड

कुछ प्राथमिक शब्द

कभी-कभी जीवनमें ऐसा एक क्षण आता है कि उस एक क्षणमें जीवनके युग-युग प्रतिबिंबित हो जाते हैं। मेरे जीवनमें यह क्षण भी एक ऐसा ही क्षण है। मैं वचन-साहित्य-परिचयके लिए कुछ शब्द लिखने बैठा हूं और मेरी आंखों-के सामने सालोंका इतिहास केन्द्रित-सा हो गया है।

१९४७, भारत स्वतन्त्र हो गया, विदेशी सत्ताकी पुलिससे भागता-भागता फिरनेवाला मैं कुछ सम्भलकर कृतकृत्य भावसे "लोक-शिक्षा" के क्षेत्रमें कुछ करनेकी आकांक्षासे दिल्ली आ गया। पू० दिवाकरजीके पास रहकर हिन्दीमें एक मासिक पत्रिका प्रारंभ की। उन्हीं दिनोंमें पू० दिवाकरजीने अपना एक ग्रंथ "वचन शास्त्र रहस्य" मेरे हाथमें देकर कहा "कन्नड़ शिवशरणोंका अमृत-सन्देश है।"

मैंने उत्साहसे पुस्तकको लिया। उसके बाद प्रथमतः मेरे यकायक अत्यस्वस्थ हो जानेके कारण तथा कतिपय अन्य कारणोंसे मासिक पत्रिका प्रारंभ होते ही समाप्त हो गयी। मुझे अपने मित्रोंके प्रेम तथा सहयोगसे भी वंचित होकर दर-दर भटकना पड़ा। पुस्तक वैसे ही रह गयी।

१९५१, राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति वर्धाने भारतीय भाषाओंके चुने हुए साहित्यका हिन्दी अनुवाद करनेकी योजना बनायी। म० पं० राहुल सांकृत्यायनजी उसके संचालक बने। कन्नड़ और मराठी साहित्यके हिन्दी अनुवादके लिए मेरी नियुक्ति हुई। मैं राहुलजीके पास मसूरी आ गया।

राहुलजी मुझे बार-बार कन्नड़ शैव साहित्यका हिंदी अनुवाद करनेको कहते थे। उनकी प्रेरणासे मैंने कन्नड़ वीरशैव-साहित्यका अध्ययन प्रारंभ किया और इन्हीं दिनोंमें हिन्दी साहित्य सम्मेलनके पदाधिकारियोंके महाभारतसे समितिका वातावरण भी दूषित हुआ। समितिने अपनी योजना छोड़ दी। मसूरीका कार्यालय बन्द हुआ। मैं दिल्ली आकर पू० दिवाकरजीके पास रहने लगा। उनके घर उन्हींके परिवारके एक सदस्यकी भांति मैं रहता, उनके पुस्तकालयका उपयोग करता और कन्नड़ सन्त-साहित्यका अध्ययन करता। शिव-शरणोंके वचनोंका अनुवाद करता, जहां कहीं कुछ कठिनाई आती पू० दिवाकरजीसे पूछता, सुबह प्रार्थनाके बाद सूत कातते-कातते मुझे वे वचनोंका रहस्य समझाते। कभी-कभी वे मेरे अनुवादित वचनोंको देखकर मुस्कराकर मौन रह जाते।

एक बार पू० रा० द० रानडे दिल्ली आये। दिवाकरजी उन्हें गुरु स्थानमें मानते हैं। दिवाकरजीने रानडे साहबसे कन्नड़ वचनोंके हिन्दी अनुवादकी बात कही। रानडे साहबने मुझे बुलाया, अनुवादित वचन सुनानेकी आज्ञा दी, आधे

घंटेका समय दिया था किंतु अनुवादित बत्तीस पृष्ठ हुए, रानडे साहब वचनामृत सुन रहे थे, मैं सुना रहा था, उनका ममताका हाथ मेरे सिर, पीठ, गाल आदि छूकर अपनी ममताकी अमृत वर्षा कर रहा था। बचपनसे अपने वृद्ध परिजनोंके प्रेमसे वंचित होकर आवारागर्दी करनेवाले मुझ जैसे अनाथके लिए महान् निधि मिल रही थी। मेरे जीवनका वह अविस्मरणीय प्रसंग था। अनुवादित वचन समाप्त हुए। रानडे साहबका अगला कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। सन्त पुरुष जब किसीके ज़ीवनमें आते हैं अपने जीवनकी अविस्मरणीय सुगंध छोड़कर जाते हैं। पू० रानडे साहबकी ममताकी वह सुगंध आज भी मुझे सत्प्रेरणा देती है। उस स्पर्शके स्मरणसे आज भी शरीरके रोम-रोम खिलते है।

१९५३, मैं दिवाकरजीके पास पटना गया। इन वचनोंके हिन्दी अनुवादका काम चलता ही रहा। कन्नड़ साहित्यमें वचन साहित्यका अपना ही वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। वचन-गद्यकी शैली कन्नड़ साहित्यकी अपनी मौलिक शैली है। जब कभी मैं अनुवादित वचनोंकी मूल वचनोंसे तुलना करता तब उसकी नि:सारताका अनुभव करता और उनको फाड़कर फेंकता, पुन: लिखने लगता। टेबलके पास रखी गयी टोकरी फाड़े गए कागजोंसे भर जाती, मित्रोंको मजाकके लिए साधन मिल जाता।

१९५६, सातवीं बार अनुवादित वचनामृत खंड लेकर मैं बिहारके प्रसिद्ध साहित्यिक पं० नलिन विलोचन शर्माजीके पास गया। करीब महीना-भर उनके घर जाकर उनको मूल वचनोंके साथ अनुवादित हिन्दी वचन सुनाए। आवश्यक परिवर्तन किया। पंडितजीने रा० भा० सभाके लिए पुस्तककी मांग की। आचार्य शिवपूजन सहायजीने भी औपचारिक रीत्या पुस्तककी मांगकी। दिवाकरजी तो पदेन रा० भा० सभाके प्रमुख थे। उनसे भी बातें हुईं। पुस्तक रा० भा० सभाको देनेका निर्णय हुआ और मैंने परिचय खंड लिखना प्रारंभ किया। वह हंसते-खेलते पूरा हो गया।

उन्हीं दिनोंमें मैं लखनऊ आया था। कारणान्तरसे गुरुजनोंके पुण्यदर्शनका लाभ हुआ। बातचीतके प्रवाहमें इस पुस्तक की बात आयी। उन्होंने अपनी ओरसे प्रकाशित करनेके लिए पुस्तक ले ली। "आदरसे मूकवाणी वचन-बद्धताकी मजंबूरी नहीं कह सकी!" परिणामस्वरूप पू० दिवाकरजी भी मेरी ओरसे झुठलाए गए। गुरुजनोंके प्रति सात्विक आदरने कर्तव्यपथसे विचलित किया। मैं लज्जित हूं। पू० दिवाकरजी, शिवपूजनसहायजी, तथा पंडित नलिन विलोचन शर्माजीसे क्षमाप्रार्थी हूं। वे सब मेरी नादानीको उदारतासे देखकर क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

वचन-साहित्य वीर-शैव सन्त-साहित्य है। शैवोंमें नन्दीका महत्त्वपूर्ण

स्थान है। शैवोंका विश्वास है कि नन्दीकी पूजा करनेके पहले प्राप्त शिवजीका वरदान भी व्यर्थ जाता है। जीवनमें मैंने कभी नन्दीकी पूजा नहीं की। मैं नन्दीकी पूजा करनेका आदी नहीं रहा। परिणामस्वरूप नन्दीके शापसे शिवजीका वरदान व्यर्थ गया और यह पुस्तक दो ढाई साल तक धूल खाती पड़ी रही। सदैव नन्दीपर आरूढ़ शिवजी भी नन्दीकी ही आंखोंसे देखनेके आदी हो जाते हैं। मुझसे कहा गया—(१) इस पुस्तककी भाषा हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं है। (२) पुस्तकमें ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। (३) यह पुस्तक सांप्रदायिक है।

जहांतक भाषाका प्रश्न है मेरा जन्म दुर्दैवसे हिन्दी-भाषी प्रदेशमें नहीं हुआ है किंतु यह मेरा दुर्दैव नहीं रहा कि कन्नड़ और मराठी भाषाके सीमा-प्रदेशमे मेरा जन्म हुआ। इससे बचपनसे मुझे कन्नड़ और मराठी भाषाके सन्त साहित्यको सुनने और पढ़नेका सौभाग्य मिला। प्रकाशनकी दृष्टिसे यह पुस्तक दूसरी है, इससे पहले "पुरंदरदासके भजन" प्रकाशित हो गया, किंतु लेखनकी दृष्टिसे यह पहले लिखी गयी है। इसकी पांडुलिपि, पं० नलिन विलोचन शर्मा, प्रो० राजाराम शास्त्री (काशी विद्यापीठ), श्री शंभुनाथ बहुगुणा एम. ए. (लखनऊ), श्री बी. के. भटनागर एम. ए., एल. एल.-एम. (इलाहाबाद) आदि सुहृद मित्रोने देखी है। इन सज्जनोंने पर्याप्त सुझाव दिए हैं। प्रो० राजाराम शास्त्रीने तो एक-एक अक्षर देखा है। केवल भाषा ही नहीं दार्शनिक दृष्टिसे भी विचार किया है। कारणवश डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीजीने भी यह पुस्तक देखी है। उन्होने भी न केवल समाधान व्यक्त किया पुस्तकका स्वागत किया है। इन सब बातोंके होते हुए भी मुझे एक बात कहनेकी तीव्र उत्कंठा होती है कि हम अहिन्दी भाषा-भाषी हिंदी-प्रेमियोंका यह विश्वास है कि हिंदीकी प्रकृति टी. बी. पेशेंटकी प्रकृति नहीं है जिसमें आरती लेनेसे गरमी और पादोदक लेनेसे जुकाम होता है। हिंदी-भाषा-प्रदेशमें गंगा बहती है। भारतीय संस्कृतिमें गंगा नदीका विशिष्ट और महत्त्वका स्थान है। यह माननेमें किसीको आपत्ति नहीं हो सकती कि गंगा हिंदी-भाषा-प्रदेशका सांस्कृतिक चिन्ह है और गंगा मैया हरिद्वारसे कलकत्ता तकके सभी शहरोंके गंदे नालोंको उदरसात् करके भी अपनी पाप और ताप नाशन शक्तिको बनाए रख सकती है। हमारी मान्यता है कि हिंदी-साहित्य-वाहिनी गंगा मय्याकी भांति है जो हरिद्वारसे कलकत्ते तकके कई गंदे नालोंको हजम करती रही है; इसीमें दक्षिण से नर्मदा, ताप्ती, गोदा, भीमा, इंद्राणी, कृष्णा, तुंगा, कावेरी तथा ताम्रपर्णीके प्रवाह आ मिलनेसे उसकी प्रकृति नहीं बिगड़ेगी किंतु वह और विशाल होगी, गहरी होगी, शुद्ध होगी, पवित्र होगी, वेगवती होगी, बड़ी होगी। आजकी हमारी खड़ी-बोली बड़ी बोली होगी। आज इस खड़ी बोलीको

खड़ी बोली होनेके लिए अनन्तकी ओर हाथ फैलाना चाहिए न कि सदैव उसकी प्रकृतिकी चितामें घुलनेवाले डॉक्टरोंसे अंकित कृत्रिम सीमाके अंदर सिकुड़कर घुटते रहना चाहिए।

इसके अलावा दक्षिणमें रहनेवाले लोगोंकी ओर एक सांस्कृतिक परंपरा है। हम दक्षिणके लोग लाखोंकी संख्यामें प्रति वर्ष गंगास्नानके लिए उत्तरमें आते हैं। काशी और बदरी यात्राके लिए जाते हैं। हमारे सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विश्वासके अनुसार केवल गंगामें डुबकी लगानेसे हमारी यात्रा सांग और पूर्ण नहीं होती। गंगास्नानके बाद हम अपनी शक्तिके अनुसार परम पावनी गंगाको गंगाजलीमें भरकर ले जाते हैं दक्षिणके रामेश्वरके अभिषेकके लिए। उससे रामेश्वरके रामलिंगका अभिषेक करके धनुष्कोटिका जल, जहां पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिणके समुद्रोंका त्रिवेणी संगम है, लेकर आते हैं काशी-विश्वनाथके अभिषेकके लिए; तभी यात्रा सांग और पूर्ण होती है। कभी-कभी दादा काशीकी गंगाको गंगाजलीमें ले जाकर घरमें रखता है और पोता उससे रामलिंगका अभिषेक करता हुआ धनुष्कोटिका तीर्थ काशी-विश्वनाथके अभिषेकके लिए ले आता है। मेरे अन्य कन्नड़ बंधुओंने हिंदी साहित्यवाहिनीके गंगाजलसे कन्नड़ जनता जनार्दनका खूब अभिषेक किया है। कन्नड़ भाषामें "विश्व-साहित्यमें स्थानमान पाने जैसे एकसे अधिक" रामायण होने पर भी श्री तुलसीदासके मानसका कन्नड़ अनुवाद किया गया है। यह अनुवाद "कन्नड़की प्रकृतिके अनुकूल" सुन्दरतम षट्पदि छंदमें नहीं किंतु "हिंदीके दोहे और चौपाइयोंमें" किया गया है। इससे हमारी कन्नड़की प्रकृतिको कोई जुकाम नहीं हुआ या इससे किसी विद्वानको छींक नहीं आयी। इसीसे प्रेरणा लेकर मैं हिंदी भाषाभाषी मानव महादेवके लिए कन्नड़ कूडल-संगम (कृष्णा और मलापहारीके संगम) की यह छोटी-सी गंगाजली ले आया था जो भारतके मानव महादेवके पंडोंकी ओरसे अब तक मंदिरकी देहरीके बाहर रखी गयी थी; इसीको आज मानव-महादेवके अभिषेकके लिए उनके चरणोंमें रखा जा रहा है।

दूसरी बात है ऐतिहासिक तथ्यकी! वस्तुतः यह कोई इतिहासकी पुस्तक नहीं है किन्तु इसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य हैं और वे इतिहासके गण्य-मान्य विद्वानोंके मन्तव्यके अनुकूल नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त कुछ विद्वानोंकी मान्यता है "श्री बसवेश्वरने मुस्लिम धर्मसे प्रेरणा लेकर वीर शैव धर्मकी स्थापनाकी है" जो सत्यसे योजनों दूर है। आधुनिक शिक्षा-प्रणालीने देशका और कोई उपकार करने न करने पर भी अपने देशका गंगाजल ही नहीं, मांका स्तन्यभी अंग्रेजी चम्मचमें पीनेके अभ्यस्त "विद्वानों" की फौज खड़ी की है।

ऐसे कुछ विद्वान् जो दक्षिणकी किसी भी भाषाके अ, आ, से भी अनभिज्ञ होकर वहांकी भाषा, साहित्य, जन-जीवन, सन्तोंकी परंपरा आदि वहांकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक बातों पर अपना विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्त झोक देते हैं उससे दक्षिणकी भाषा, साहित्य तथा परंपरामें पला हुआ कोई व्यक्ति सहमत नहीं हो सकता। दुर्दैव या सुदैवसे इस पुस्तकका लेखक और भावानुवादक दोनों अंग्रेज दाईके हाथके गोट मिल्क पर नहीं पले हैं। उनको अपने पोषणके लिए पर्याप्त मांका दूध मिला है। मैं इन पृष्ठोंमें वीरशैव मतका इतिहास नहीं लिख रहा हूं किन्तु "न श्री बसवेश्वर वीरशैव मतके संस्थापक हैं और न उन्होंने मुस्लिम धर्मसे प्रेरणा ली है।" ये अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान्, अंग्रेजीमें अनुवादित यहां-वहांके कुछ वचनोंका उदाहरण देकर, उसको कुरानके कुछ वचनोंसे तुलना करनेकी सिफारिश करते हुए निर्णय देते हैं "उन्होंने जाति-पातिका विरोध करनेमें इस्लामसे प्रेरणा ली, उन्होंने एकेश्वरी तत्वज्ञानके समर्थनमें इस्लामसे प्रेरणा ली।" आदि। किन्तु वे यदि "यहां वहांके अपने जैसे ही अंग्रेजी विद्वानोंके अनुवादित वचनोंपर निर्भर न रहकर मूल वचनोंका अध्ययन करते तो श्री बसवेश्वर तथा वीरशैव मतके आचार्योंकी प्रेरणाके मूल स्रोतको पा लेते"। सदैव "सन्तोंकी ओरसे होनेवाले जाति-पांतिके विरोधको ईसाई धर्मकी प्रेरणा या मुस्लिम धर्मकी प्रेरणा कहनेकी विद्वत्तापूर्ण परिपाटी" सी हो गई है। सन्तोंकी इस प्रेरणाका मूल स्रोत जाननेके लिए श्री बसवेश्वरके एक दो वचन देनेका मोह संवरण नहीं होता यद्यपि ऐसा करना विषयान्तरसा है।

वचन शास्त्र सारसे—

"संकल्प विकल्प उदयास्तमानसे दूर शिव-शरण अकुलज कहते हैं, ये पागल विप्रगण स्वयं मातंगी गर्भ संभव जेष्ठ पुत्र होनेकी बात नहीं जानते; शिवभक्त इस कुलके हैं उस कुलके हैं कहनेवाले विप्र पंचम लोगो सुनो तुम्हारा पुराणवचन—

श्रीनाथपुरुषः षंडः। चंडालो द्विजवंशजः॥
नजाति भेदो लिंगार्चने। सर्वे रुद्रगणाः स्मृताः॥

चांडाल, पंचम, कब्बिलाभः ठठेरा, सुनार, कुंभकार, धोबी, धीवर, शिकारी आदि कहकर हमारे शिव-भक्तोंकी निन्दा करते हो तुम्हारे उत्तम सत्कुलोंकी ओर उंगली उठाकर दिखाएं हम? मार्कंडेय पंचम है, सांख्य स्वपच है, कश्यप लोहार है, रोमज ठठेरा है, अगस्त्य कब्बिल, वशिष्ठ डोम है, व्यास धीवर है, दुर्वासा चमार है, कौंडिल नाई है तुम्हारे वासिष्ठमें कहा है,

वाल्मीकीश्च वसिष्ठश्चागस्त्यमांडव्यगौतमाः॥
पूर्वाश्रये कनिष्ठाश्चः दीक्षया स्वर्गगामिनः॥

यह जानकर अपने कुछ पूर्वजोंका विचार कर कहो, अपने गोत्रको स्मरण कर देखो, अपना अहंकार छोड़ो, शिवभक्त ही वास्तविक कुलज हैं। इस पर विश्वास नहीं होता तो देखो तुम्हारे वेद क्या कहते हैं, अथर्वण वेदका वचन है "मातंगी रेणुकागर्भसंभवादिति कारुण्यमेधावी रुद्राक्षिणा लिंगधारणाय प्रसाद स्वीकुर्वन् ऋषीणां वर्णश्रेष्ठो (अ) घोर ऋषिः संकर्षणात् वेदं ब्रुवति" (१) "इत्यादि वेदवचन श्रुतिमार्गेण"

और वायवीय संहितायां—

ब्राह्मणोऽपि चांडालोऽपि। दुर्गुणः सुगुणोऽपिवा।
भस्मरुद्राक्ष कंठेश। देहे वासः शिवं व्रजेत्॥

और शिव रहस्यमें—

ग्रामस्य मलिनं तोयं। यथा वै सागरंगतम्॥
शिव संस्कार संपन्ने। जातिभेदं न कारयेत्॥

सुनो भाई! लिंगाराधनासे वर्ण सब मिट जाते हैं। ये सब ऋषि गुरु करुणासे, विभूति रुद्राक्ष धारण करके, लिंगार्चन करके पादोदक प्रसाद ग्रहण करनेसे वर्ण श्रेष्ठ बने हैं जी; इसलिए हमारे "कूडल संगम देव" को जानकर पूजनेवाला ही सद्ब्राह्मण है, अन्यथा चांडाल है जी!"

वचन साहित्यमें ऐसे अनेक वचन हैं जो अपनी प्रेरणाके स्रोतकी ओर संकेत करते हैं। शैवमत भारतका प्राचीनतम मत है। जैसे "शिव सर्वोत्तमत्व" शैव-मतका मूल सिद्धान्त है वैसे ही "वीरशैव शैवोत्तम है!" चौथी या पांचवीं सदीमें बनाए गए शिवकांचीके कैलासनाथ मंदिरपर शैवमतके आधारभूत २८ शिवागमोंका नाम खुदा है क्योंकि वहांकी पूजा अर्चा आदि उन शिवागमोंका विधिसे होती है। "उन शिवागमोंमें वीरशैव साधना प्रणालीके विधि-निषेधक स्पष्ट विवेचन है।" दूसरी बात भारतीय इतिहासका सामान्य विद्यार्थी भी य जानता है कि दक्षिणमें चौथी सदीके अन्तिम चरणसे छटी सदी तक बौद्ध, जैन तथा शैव मतका तीव्र संघर्ष रहा है। अन्तमें शैवोंकी विजय हुई है। तिरुज्ञान संबंधीसे प्रभावित होकर इन कुलोत्तुंग चोल और कूणपांडयने जैन धर्मका त्याग करके शैव दीक्षा ली है। अर्थात् शैव संतोके पास ई० स० पांचवीं छटी सदीमें ही ई० पू० पांच सौ वर्षों के पहलेसे दृढ़ मूल होकर विकसित बौद्ध और जैन धर्मका संकोच करने जितनी दार्शनिक प्रतिभा थी और तब अरबस्तानकी गर्भावस्थामें भी इस्लामका उदय नहीं हुआ था! जिस मतके आचार्यों और संतोंने इस्लामके उदयसे पहले ही जैन और बौद्ध जैसे समर्थ धर्मोंसे संघर्ष करके उनका संकोच करनेकी दार्शनिक प्रतिभा थी उसी मतके आगामी आचार्योंको अरबस्तानमें हालके जन्म पाए मुस्लिम धर्मसे प्रेरणा लेनेकी आवश्यकता होनेकी

कल्पना ही हास्यास्पद है !

किंतु विश्वकी प्रत्येक वस्तुको वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर देखनेमें अभ्यस्त हमारे आधुनिक विद्वानोंको ऐसा लगना स्वाभाविक ही है। क्योंकि वे सोचते हैं "हम भी विद्वान हैं, श्री बसवेश्वर भी विद्वान थे। हम भारतकी भाषाएं, साहित्य, परंपरा आदि नहीं जानते यद्यपि यूरोप अमेरिकाकी छोटी-मोटी बातोंसे भी पूर्णरूपसे परिचित हैं। हम भारतकी बातोंको भी अंग्रेजीके माध्यमसे जानते हैं, अंग्रेजीसे प्रेरणा लेते हैं वैसे ही श्री बसवेश्वरने अरबस्तानमें उदित इस्लामसे प्रेरणा ली होगी !" अपने जैसे सबको मानना पांडित्यका एक लक्षण ही है।

श्री बसवेश्वरने किसी नए मतकी स्थापना नहीं की। सदियोंसे दक्षिणमें जो मत प्रचिलत था, दक्षिणके आगमकारोंने, शैव सन्त नायनमारोंने, संस्कृत और तामिलके माध्यमसे जो कुछ कहा था उसीको कन्नड़के माध्यमसे कहा। इसका प्रारंभ भी श्री बसवेश्वरने नहीं किया। उनसे दो-तीनसौ वर्ष पहलेसे यह कार्य हो रहा था। श्री बसवेश्वर आदि वचनकार नहीं हैं। ई० स० १०४० के करीब जेड़र दासिमय्य, मेरे मिंडय्या, विश्व एलेश्वर केतय्य, आदय्य आदि दसों वीर शैव संत देखनेको मिलते हैं। इन सबने वचन लिखे हैं। कहते हैं प्रथम चालुक्य[1] जयसिंहकी पटरानी सुग्गल देवी इन दासिमय्यकी शिष्या थी। दासिमय्यने जयसिंहको वीरशैव दीक्षा दी थी। जयसिंहके दरबारमें जैन आचार्योंसे शास्त्रार्थ किया था। श्री बसवेश्वरके कई वचन कहते हैं कि वे इस दासिमय्यसे बड़े प्रभावित थे। यह दासिमय्य अपने एक वचनमें कहता है "गूंजने वाले आद्योंके वचनोंके लिए मैं शिव-दर्शन भी छोड़ दूंगा।"

दासिमय्याका यह वचन वचनसाहित्यकी परंपराको और अधिक पहले ले जाता है। क्योंकि दासिमय्यने "गूंजनेवाले आद्योंके वचनके लिए शिवदर्शन भी छोड़ देने" की बात अपने वचनके लिए खास नहीं कही होगी ! अर्थात् दासिमय्यसे पहले भी कन्नड़ वीर शैव संत रहे होंगे। यह उनके "आधार वचन" इससे स्पष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त गोरे और भूरे विद्वानोंका "इस्लामसे प्रेरणा लेकर श्री बसवेश्वरने वीरशैव मतकी स्थापना की" ऐसा सिद्धान्त कन्नड़ साहित्यका प्राथमिक विद्यार्थी भी नहीं मान सकता। यदि कोई कन्नड़ भाषाभाषी व्यक्ति इसे मान ले तो वह मूर्खोंमें गिना जायगा। "वास्तविक स्थितिकी जानकारी न होना अज्ञान है ! इस अज्ञानका भान भी न होना अज्ञान-वर्ग है, और अपने अज्ञानसे बे-भान होकर भी उस विषयके बारेमें अपने सिद्धान्त ठोंक देना अज्ञान-घन है; उसीको आज विद्वत्ता कहा जाता है !!"

---

१ इस जयसिंह का राज्यकाल १०७६-१०८१ था

और जब ये सिद्धान्त अपने देशकी अथवा मातृ-भाषामें न कहकर सुन्दर अंग्रेजी भाषामें कहे जाते हैं तब वह "अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत्ता" कहलाती है । ऐसे "अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्तोंसे सहमत होना मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होता है । यह हुई इस पुस्तकके ऐतिहासिक तथ्यकी बात और रही वचन साहित्यके सांप्रदायिक होनेकी बात ।

१९४८ जनवरी ३० को म० गान्धीजीने अपने पवित्र खूनसे देशका सांप्रदायिक कलंक पोंछा था तथा उनके खूनपर बहाए गए करोड़ों लोगोंके आंसुओंने वह बहा दिया था । फिर भी आजतक हमारे देशके तथाकथित नेताओंको सांप्रदायिकताके विरुद्ध चेतावनीकी सीटी फूंकते रहना पड़ता है ! यह चालीस करोड़ लोगोंके महान् राष्ट्रके लिए जितना दुःखद और दुर्दैवपूर्ण है उससे अधिक उस महापुरुषके बलिदान और विश्वके करोड़ों मानव बंधुओंके प्रेमाश्रुओंका अपमान है । कमर कसकर सांप्रदायिकताके विरुद्ध शंक फूंकनेवाले नेता तथा विद्वान लोगोमें जितना सांप्रदायिक विष है उतना सामान्य जनतामें नहीं है ! क्योंकि हमारे नेता और विद्वान लोग सांप्रदायिकताके प्रमाणभूत प्रमाणवादके महान् आचार्य हैं । जब मैं "सांप्रदायिकता" यह शब्द सुनता हूं कुछ घटनाएं मेरी आंखोंके सामने आती हैं ।

बचपनमें मैं अपने दादाके चरणोंमें बैठकर वेद पढ़ा करता था । कभी-कभी मैं अपने दादासे वेदका अर्थ पूछ बैठता, तब वे सिंहगर्जना करके कहते "अबे नास्तिक ! वेदका अर्थ पूछता है ? वह देववाणी है, श्रद्धासे पारायण करनेकी है । फिर कभी अर्थ पूछा तो याद रख छाती पर लात मारकर निकाल दूंगा !!"

कुछ दिन वेदाध्ययनसे उचटकर मैं अंग्रेजी पढ़ने लगा । वहां विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त मास्टर साहबसे पूछा । "सर ! पी यू टी पुट क्यों और बी यू टी बट् क्यों ? या तो पट् कहें या बुट् !!" मैं इसका कारण जाननेके लिए अड़ गया । चट्, चट्, चट्, मेरे कोमल गालों पर तीन चांटे पड़े ! मैं आज तक न उन चांटोंका अर्थ समझ पाया हूं, न उनको भूल पाया हूं !!

अभी कुछ साल प्रथम मेरे एक मित्रकी पत्नी मुझसे गीता पढ़ती थी । मैं उन्हें मूर्ति पूजाकी बात समझा रहा था । उनके लड़केने इसको "दकियानूसी बात" कहा । मांने हंसकर उसके बायबलके आकाशके बापका मजाक किया और उस अबोध बालकने अपना दाहिना हाथ कंधोंसे छुआया, होंठोंसे छुआया, माथेसे छुआ कर क्रॉस बनाता हुआ कुछ गुनगुनाया !

ऐसी ही कितनी ही घटनाएं हैं जो मुझे गहराईसे सोचनेके लिए बाध्य करती हैं । मैं सोचता हूं तो आंखोंके सामने युग-युगसे चलता आया एक प्रवाह दिखाई

देता है।' "काफिरोंकी बुतपरस्तीको मिटानेके लिए भारतके कलापूर्ण मंदिरोंको रोंधते चलनेवाला गज़नीका महमूद, "दुनियामें जो कुछ सच है वह सब कुराण में है, जो कुराणमें नहीं वह सच नहीं।" कहते हुए नालंदाका विश्वविख्यात पुस्तकालय जलानेवाला महमूद बिन बखत्यार, "वेद देववाणी है, श्रद्धासे रटनी चाहिए, अर्थ पूछा तो छातीपर लात मारकर निकाल दूंगा!" कहनेवाले मेरे पू० दादा, पी यू टी पुट् और बी यू टी बट्का कारण न बताकर मेरे कोमल गालोंपर तीन थप्पड मारनेवाले विश्वविद्यालयकी उपाधि प्राप्त अंग्रेजी मास्टर साहब, मांकी मूर्ति पूजाको दकियानूमी कहकर कानवेंटकी ममीके आकाशके बापका नाम आते ही कंधे होंठ माथेको हाथ छुआकर गुनगुनाने वाला कानवेंट संस्कार का अबोध बालक, हर बातमें कार्ल मार्क्स, लेनिन स्टालिन आदिका उद्धरण देनेवाले कम्युनिस्ट, उठते बैठते "बापूने कहा था" कहनेवाले खद्दरधारी नेता, अपनी हर बातके लिए गोरे साहबके कोटेशनोंकी झड़ी लगानेवाले आधुनिक विद्वान्, सबके सब एक जातिके हैं और उनकी जाति है सांप्रदायिक!! बाबा वाक्यं प्रमाणम् कहनेवाले देहाती अपढ़ बूढेसे लेकर मार्क्स, लेनिन, गांधी तथा नेहरू वाक्यं प्रमाणम् माननेवाले, सनातनी, कम्युनिस्ट, गांधीवादी और आधुनिक असाप्रदायिक साम्प्रदायवादी सबके सब संप्रदायवादी हैं, क्योंकि प्रमाणवाद संप्रदायवादकी बुनियाद है और अनुभवसिद्ध ज्ञान मुक्त चिन्तन की। मुक्त चिन्तन ही किसी भी संप्रदायसे परे हैं। सत्यान्वेषणका साधन है। इसीलिए वीर शैव सन्त चीख-चीखकर कहते हैं। अपने "आपको जाना तो वह ज्ञान ही गुरु है।" "अनुभव ही गुरु है!" "ज्ञान गुरु है, आचार शिष्य है!" 'जो अनुभवमें नही आता वह ज्ञान ही नहीं!"

वीर शैव सन्तोंका यह "ज्ञान ही गुरु और आचार ही शिष्य" का सिद्धान्त साम्प्रदायवादके विरुद्ध विद्रोहकी शंख-ध्वनि है। इसको साप्रदायिक कहना आश्चर्यजनक है। मुक्त और स्वतंत्र चिन्तनके अभावका द्योतक हैं और बचपनसे ही वेदको देववाणी मानकर रटनेवालोंकी भांति, बचपनसे ही बिना कारण जाने ही पी यू टी पुट् बी यू टी बट् रटने वालोंसे भला स्वतंत्र चिन्तनकी आशा कैसे की जा सकती है? एक ज्ञान वृक्षकी जड़ोंको सींचकर नित नये-नये फूटने वाले उसके अंकुरोको नखून लगाता जाता है तो दूसरा वर्ग ज्ञानकी विशालताके उन्मादमें ज्ञानकी जड़ोंको खोदकर उसे बिना जड़के अधरमें लटकनेवाला वृक्ष-सा बना डालता है। दोनों अपने-अपन ढंगके विद्वान् हैं। दोनों प्रमाणवादके पक्षपाती हैं। एक अपने ही समाजके प्राचीन पुरुषार्थसे रस लेकर उसकी प्रेरणासे चलता है तो दूसरा आधुनिक विकासशील राष्ट्रोंके, नहीं अपने गुलामीके जमानेके मालिकोंके दर्पसे दबकर बोलता है। एक राष्ट्रीय संप्रदायवादी है तो दूसरा अराष्ट्रीय संप्रदायवादी। दोनों अपनी बुद्धिका उपयोग करते

हैं "अपने माने हुए सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए" न कि "वास्तविक सत्यकी खोजके लिए।"

यह आजकी हमारी राष्ट्रीय बौद्धिक स्थिति है। हमारी आधुनिक शिक्षा देशमें अंग्रेजी दिलके हिन्दुस्तानियोंकी फौज खड़ी कर रही है जिसका द्योतक है मेरे मित्रके वे अबोध बालक "जो मांकी मूर्ति-पूजाको दकियानूसी मान कर कानवेट-की ममीके आकाशके बापका नाम सुनते ही कधे होंठ, और माथेको छूकर क्रास बना लेता है !" हमारे आधुनिक विद्वान भी इसीके कुछ बड़े मॉडल हैं !! यही देखकर सदैव सांप्रदायिकतासे विद्रोह करनेवाले सन्तकी आत्मा चीख उठती है "अपने बालकोंको अपना प्रेम दो, धन-दौलत दो, संपत्ति दो, सर्वस्व दो किंतु अपने विचार मत दो; क्योंकि तुम्हारे विचार भूतकालके हैं और इन बालकोंको जीना है भविष्यकालमें। भविष्यमें दिव्यत्वकी ओर उड़नेवाले इन बालकोंको अपने भूतकालके विचारोंकी बेडियांसे जकड़नेका पाप मत करो। खिलनेवाली मानवताका द्रोह मत करो।"

सन्त कभी सांप्रदायिक नहीं हुआ करते क्योंकि सन्त कभी किसी प्रमाणको—ग्रंथ प्रमाणको—नहीं मानता और केवल ग्रंथ प्रमाण माननेवाला सन्त नहीं बन सकता। कोई व्यक्ति तभी सन्त बन सकता है जब अपने पुरुषार्थसे सत्यका साक्षात्कार करता है। यदि सन्तके अनुभवको किसी ग्रथसे पुष्टि मिलती है तो वह उस ग्रंथका भाग्य है, सन्तका नहीं ! इससे सुविज्ञ पाठक समझता है कि उस पुस्तकमें कुछ तथ्य है ! इतना ही ! सत्यका साक्षात्कार किया हुआ मनुष्य कभी अन्य प्रमाणको स्वीकार नहीं कर सकता इसलिए वह किसी संप्रदायका अनुकरण नहीं करता। भारतके सन्तोंने सदैव प्रमाणवादका विरोध किया है और प्रमाणवाद किसी भी संप्रदायवादकी जड़ है। कन्नड़ वीरशैव सन्तोंने मानव मात्रको "अनुभव-जन्य ज्ञान-गुरुका आचार शिष्यत्व स्वीकार करने"की दीक्षा दी है जो आज, बीसवीं सदीमें भी धार्मिक ही नहीं राजनैतिक सांप्रदायिकताके उन्मादमें विनाशके कगारपर खड़े मानव समाजको चेतावनी है ! "हम सब एक ही परमात्माके वंशज हैं, इसलिए हम सबमें बांधव्य स्वाभाविक है" इस सहज स्वाभाविक बांधव्यसे "मानव मानव एक" होनेका आवाहन करनेवाले साहित्यको हमारे आधुनिक विद्वानोंने समाज ब्रह्मके गर्भगृहकी देहरीके बाहर रख दिया है ! इन्हीं विचारोंसे प्रेरित होकर मैंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानोंके मूल्यवान सुझावोंके बावजूद इस पुस्तकमें एक शब्दमें भी परिवर्तन न करनेका निश्चय किया; परिणामस्वरूप यह पुस्तक तीन वर्ष तक खटाईमें पड़ी रही। आज उत्तर-प्रदेश सरकारके शिक्षा-विभाग तथा सत्साहित्य-केन्द्रके मित्रोंकी उदार सहायतासे हिन्दी भाषा-भाषी मानव महादेवके चरणोंमें भेंट स्वरूप आ सकी

है । इसलिए मैं उत्तर प्रदेश सरकारके शिक्षा विभाग और अन्य मित्रोंका कृतज्ञ हूं ।

मूल पुस्तक पू० रं० रा० दिवाकरजीकी है । उसका नाम "वचन शास्त्र रहस्य" था । उसका हिन्दी भाषान्तर "वचन-साहित्य-परिचय" है । पुस्तकके नाममें ही दृष्टिकोणका अन्तर स्पष्ट है । साथ-साथ पुस्तकके "परिचय खंड" के भाषान्तरके समय दिवाकरजीने कहा था "भाषान्तर करते समय तुमको एक बातका खास ध्यान रखना चाहिए कि यह सब मैंने कन्नड पाठकोंको ध्यानमें रखकर लिखा था और तुमको हिन्दी पाठकोंको ध्यानमें रखकर लिखना है ।" अर्थात्—(१) मूल पुस्तकका नाम वचन शास्त्र रहस्य था और इस अनुवादित पुस्तकका नाम "वचन-साहित्य-परिचय" है । (२) वह लेखकने कन्नड़ पाठकों को ध्यानमें रखकर लिखा था और अनुवादकने उसका हिन्दी पाठकोंके दृष्टि-कोणसे अनुवाद किया है । (३) लेखकने मूल पुस्तक लिखते समय वचन साहित्य और कन्नड़ जनता, तथा लेखक और कन्नड जनताके ऋणानुबंधका ध्यान रखा था । अनुवादकने वचन-साहित्य और हिन्दी पाठक और लेखक तथा हिन्दी पाठकके ऋणानुबंधका विचार करके अनुवाद किया है । परिणाम-स्वरूप "परिचय खंड" में मूलके "रहस्य खंड" से पर्याप्त अंतर पड़ना स्वाभाविक था । इस दृष्टिसे परिचय खंडमें जो त्रुटिया है, उसका संपूर्ण दायित्व अनुवादकका है । मैंने मूल लेखकके भावोंको अक्षुण्ण रखनेका प्रामाणिक प्रयत्न किया है । इसका निर्णय आखिर मूल लेखक और दोनों भाषाओंके विज्ञ पाठकों-को करना है ।

मूल वचनोंके अनुवादमें भी मैंने वचनोंके भावोंके समान उनकी शैलीका अनुकरण किया है । उनके भावोंको अक्षुण्ण रखनेका पूर्ण प्रामाणिकताके साथ प्रयत्न किया है । इसमें मुझे समाधान है किन्तु मूल वचनोंके भाव सौंदर्यके साथ उनके ध्वनि माधुर्य और शब्द सौंदर्यकी रक्षा मैं नहीं कर पाया ! फिर भी मुझे विश्वास है सावधानीपूर्वक अनुवादका अध्ययन किया जाय तो मूलकी कल्पना आ सकती है । मांके प्यारसे पगलाये हुए मूर्ख बालकके सुन्दर सुमनोंको तोड़ तोड़कर "अम्मा ! फू !!" कहकर तुतलाते हुए मांके हाथमें देनेकी भान्ति मैंने अपनी मातृभाषाके इन कोमल कुसुमोंको देश-भाषाके प्रांगणमें लगानेका मूर्ख प्रयास किया है । इसमें अपनी मूर्खताका आनंद तो है ही ! मांके प्रेमसे पगलाया हुआ यह अबोध बालक क्या जाने कि अपनी मर्कट मुष्टिसे पकड़कर उन फूलोंको तोड़कर मांके हाथमें देने तक वह कितने कुम्हलाते हैं ! मेरी राष्ट्रमाताके चरणोंमें चढ़ानेके लिए तोड़े गये इन वचन सुमनोंको तोड़ते समय, संवारते समय, गूंथते समय, उसे चढ़ाते समय, मेरे अज्ञानके,

वासना विकारोंके, अहंकारके, राग-द्वेषादि अनंत त्रुटियोंके स्पर्शसे ये कितने मलिन हुए हैं, कितने कुम्हलाए हैं, इनकी कितनी पंखुड़ियां टूट गई हैं, यह मैं कैसे जानूं ? किंतु मैं एक बात जानता हूं, इनके स्पर्शसे मेरे हृदयका सौंदर्य बढ़ा है, उसमें कुछ सुगंध आई है, कुछ सुख मिला है जैसे मेरे स्पर्शसे इनका साहित्यिक सौष्टव, ध्वनि माधुर्य तथा शब्द सौंदर्य उतरा है !!

प्रेमसे हो या मूर्खतासे—मेरे लिए दोनों एक हैं, एकमें भावोंकी अनन्तता तो दूसरेमें अज्ञानकी—आठ नौ सौ साल तक कन्नड़ जनता जनार्दनके कंठहार बने हुए कुछ वचन सुमनोंको, सदियोंके बाद इन शब्दोंके साथ हिन्दी भाषा-भाषी मानव-महादेवके चरणोंमें अर्पण कर रहा हूं ।

मेरी त्रुटियोंको गिनो तो उनकी गणना ही नहीं, पढ़ते-पढ़ते भूला हूं, पूछते-पूछते भूला हूं, सुनते-सुनते भूला हूं, सोचते-सोचते भूला हूं, जानते-जानते भूला हूं, गुनते-गुनते भूला हूं, याद करते-करते भूला हूं, लिखते-लिखते भूला हूं, उसको सुधारते-सुधारते भूला हूं, मेरी भूलको ही सही मानकर कृपा करो मेरे स्वामी यही तुझे शोभा देता है ! मैं मानव हूं, भूलना मेरा स्वभाव है, तू महादेव है, क्षमा करना तेरी शोभा है ! यही तेरा धर्म है !!

साधना भारती, मसूरी बाबूराव कुमठेकर

७ जुलाई, १९६०

परिचय-खण्ड

विषय-प्रवेश

वचन-साहित्य-परिचय इस ग्रंथका नाम है। इसके दो खंड हैं। पहला "परिचय खंड" है और दूसरा "वचनामृत खंड"। पहले खंड में वचन-साहित्य का सामान्य परिचय दिया है। वचन-साहित्य किसी एक महान् साहित्यिक द्वारा लिखी गई साहित्यिक कृति नहीं है। वचन-साहित्य अनेक शैव संतों द्वारा समय-समय पर कहे गये अनंत वचन हैं। इस ग्रंथमें उन वचनोंमेंसे कुछ वचनों का संपादन किया गया है।

इन वचनोंका चयन और संपादन कन्नड़ भाषाके विद्वान् साहित्यिक और प्रसिद्ध पत्रकार श्री रंगनाथ रामचंद्र दिवाकरने किया है। दिवाकरजीने, जब वे १६३२ में हिंडलगी के बंदीगृह में थे, इन वचनों का संपादन करके 'वचन-शास्त्र-रहस्य' नाम से एक बड़ा ग्रंथ लिखा। जब वह ग्रंथ प्रकाशित हुआ तब कन्नड़ भाषाके कुछ विद्वान् साहित्यिकों ने उस ग्रंथ के विषय में लिखा था कि लोकमान्य तिलकजीने माँडलेके जेलमें गीता-रहस्य लिखा और दिवाकरजीने हिंडलगी जेलमें वचनशास्त्र-रहस्य। प्रस्तुत "वचन-साहित्य-परिचय" उसी ग्रंथ का संक्षेपमें किया हुआ स्वतंत्र हिंदी भावानुवाद है।

वचन-साहित्यको कन्नड़में वचन-शास्त्र कहने की परिपाटी है। शास्त्र-का अर्थ मोक्ष-शास्त्र से है, मोक्षका अर्थ मनुष्यकी नित्य निर्दोष आनंदकी स्थिति, अविरल शाश्वत सुख-स्थिति। वह मानव-मात्रका आत्यंतिक ध्येय हैं। प्रत्येक प्राणी शाश्वत सुख प्राप्त करनेका प्रयास करता है। वह महान् ध्येय कैसे प्राप्त करना चाहिए ? उसके साधन क्या हैं ? उन साधनोंमें क्या बाधाएं हैं ? उसमें कौन-से धोखे हैं ? उनका निवारण कैसे करना चाहिए ? आदिका सांगोपांग विवेचन विश्लेषण करना इस शास्त्र का क्षेत्र है। यही कार्य वचनकारोंने अपने वचनों द्वारा किया है, इसलिए उसको शास्त्र कहते हैं और शास्त्र शब्दके पहले जो वचन शब्द लगा है वह शैलीका अर्थ बोधक है। वचन कन्नड़ साहित्यकी एक विशिष्ट प्रकारकी गद्यशैली है। अर्थात् वचन-शास्त्रका अर्थ "वचन शैलीमें लिखा गया मोक्ष-शास्त्र" है।

मोक्ष-शास्त्र भारतके प्राचीनतम शास्त्रोंमें से एक है। इस विषय पर भारत के अनेक महापुरुषोंने चिंतन, मनन तथा प्रयोग किये हैं। संस्कृत भाषामें इसके अनेकानेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, आगम आदि अनेक प्रकारके असंख्य ग्रंथ हैं। किंतु कालांतरसे संस्कृत भाषा जन-भाषा नहीं रही। ऐसा हुआ कि जनताकी भाषा अलग और विद्वान शास्त्रज्ञोंकी भाषा अलग हो गई,

तथा सामान्य जनता जीवनको उन्नत बनानेके इस शास्त्रसे अनभिज्ञ और दूर होती गई। तभी भगवान बुद्धने लोक-भाषामें धर्मज्ञान देना प्रारंभ किया। इससे पहले जैन-धर्मके महान् आचार्य महावीर स्वामीने भी यही किया। कहते हैं कि भगवान बुद्धके पश्चात् जो धर्म-सभा बैठी थी उसमें 'धर्म' कहना चाहिए या "धम्म" तथा "भिक्षु" कहना चाहिए या 'भिक्खु' इस विषयपर बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ था ? इसका अर्थ इतना ही है कि धर्मज्ञान जन-भाषामें कहें या नहीं, इस विषयमें धर्माचार्योंमें बड़ा-भारी मत-भेद रहा। यह मत-भेद ज्ञानेश्वर महाराज के कालमें भी विद्यमान था। ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरीमें एक स्थानपर आवेशमें कहा है कि संस्कृत देव-भाषा है तो क्या मराठी चोरों की भाषा है ? मराठीमें मैं ऐसे शब्दोंका चयन करूंगा कि मुक्तात्माएं भी उसको पढ़ने और सुननेके लिए लालायित हो जाएं। अर्थात् कन्नड़ वचन-साहित्य भगवान बुद्ध और महावीर स्वामीकी प्रारंभ की हुई क्रांतिकारी परंपराका ही परिणाम है। वचनकारोंने कन्नड़भाषा-भाषी जनतामें संस्कृत-पंडितों के आध्यात्मिक साम्राज्यवादका विरोध करके आध्यात्मिक अथवा धार्मिक जनतंत्रका निर्माण किया। इस दृष्टिसे वचन-साहित्यका एक अपना वैशिष्ट्य है।

वैसे तो जैनोंने ही कन्नड़ भाषा में धार्मिक साहित्यकी रचना का प्रारंभ किया था। कन्नड़ भाषा के महाकवि पंपने स्पष्टरूपसे यह घोषणा की कि 'विश्व में जिनागम प्रकाशनेके लिए' साहित्य-निर्माण कर रहा हूँ। उनके युग में जैन धर्म पर अनेकानेक ग्रंथ लिखे गये। तत्पश्चात् वीरशैव संतोंने अपने धर्म प्रचारके लिए उसी परंपरा का विकास किया। किंतु जैनोंने, जो अधिक-तर उत्तरसे ही आये थे, अपनी ग्रंथ रचनामें संस्कृत भाषा और साहित्यका अंधानुकरण किया। उनके साहित्यके छन्द, शब्द-संपत्ति, अलंकार, बड़े-बड़े जटिल सामासिक पद आदि सब संस्कृतके हैं। केवल प्रत्यय, अव्यय, क्रियापदों का रूप, और सर्वनाम मात्र कन्नड़ हैं। उन्होंने कन्नड़ सरस्वतीपर संस्कृत का परिधान चढ़ाया, या संस्कृत सरस्वतीपर कन्नड़ परिधान चढ़ाया, यह कहना कठिन है। इसलिए यद्यपि विद्वानोंने उस कालके कवियोंको कवि-रत्नों की उपाधि दी, तथापि उनका साहित्य जन-सामान्य में लोक प्रिय नहीं हो सका। उस के बाद वीरशैव संत और साहित्यिकोंने लोक-भाषा में, उन्हीं देशी छंदोंमें, लोक शैलीमें साहित्य सृजन किया। वह लोकशिक्षा का माध्यम बना और जैन राजाओं के विरोध में भी हजारों-लाखों लोगोंने शैव दीक्षा ली ! इस समयका साहित्य एक प्रकारसे लोक-साहित्य था। लोकशिक्षा का वह सुन्दर माध्यम था।

जिन वीरशैव संतोंने इस शैलीमें अपने धर्म-प्रचारका कार्य प्रारम्भ किया उनकी परंपराकी प्राचीनताके विषयमें निश्चयात्मक रूपसे कुछ कहना संभव नहीं है। किंतु श० श० १०७६[1] के लगभग इनका स्वर्णयुग था। वीर-शैवोंका प्रचार तथा साहित्य इस युगमें संपूर्ण विकसित रूप में देखा जाता है अर्थात् कम-से-कम इस से सौ दो सौ वर्ष पहलेसे इसका प्रारंभ हुआ होगा, इस ओर कुछ ऐतिहासिक संकेत भी मिलते हैं। किंतु वीरशैवोंमें 'त्रिसष्टि पुरातनरु' कहकर ६३ आद्य वचनकारोंका, अर्थात् शैवसंतों का पूजन करनेकी परिपाटी है। उनके विषयमें अनेक पुराण तथा काव्य भी हैं। परंतु उनके विषयमें कुछ निश्चित रूपके ऐतिहासिक आधार नहीं मिलते। कुछ विद्वानोंका मत है कि उन पुरातनोंके पुराणोंमें आने वाले कुछ संतोंके नाम, गांवके नाम आदि तामिलके हैं। संभवत: तामिलके 'अखिरों'[2] से इनकी परंपरा प्रारम्भ हुई होगी ? तामिलके अखिर, अर्थात् शैवसंतोंकी परंपरा अति-प्राचीन है। पद्मपुराण के उत्तरखंडके पहले अध्यायका ४८ वां श्लोक 'उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता', इस ओर संकेत करता है ? कुछ भी हो, भारतके प्राचीन इतिहास के सूत्र जगह-जगह टूटे हैं, सर्वभक्षक महाकालकी प्रलय लीलासे जो बचा है उसका संरक्षण कर रखना ही हमारे हाथमें है !

कन्नड़-भाषी प्रदेशकी संत परम्पराओं में दो संप्रदाय है। एक शैव अथवा वीरशैव-संत-परंपरा, दूसरी, वैष्णव-संत-परंपरा। कर्णाटक में संतों को अनुभावी कहते हैं। अनुभावी का अर्थ है 'साक्षात्कारक', अनुभव किया हुआ, जिन्होंने आत्यंतिक सत्यका—जो सदैव एकाकार एकरूप है—साक्षात्कार किया है, अथवा उस महान् साक्षात्कारका अनुभव लिया है, उनको अनुभावी कहते हैं। संत साहित्यको अनुभावी साहित्य कहने की परिपाटी भी है। तथा भक्तोंको 'शरणरु' भी कहते हैं। क्योंकि वे अपना सर्वस्व परमात्मा के चरणोंमें समर्पण करके भगवान्‌की शरण गये थे। इसलिए उनके साधना मार्गको शरण-मार्ग भी कहा जाता है, अर्थात् कन्नड़में शैवसंतोंको 'शिव-शरणरु' और वैष्णव संतोंको 'हरि शरणरु' कहा जाता है। वैसे ही शिवशरणों ने अपने धर्म प्रचारके लिए वचनशैलीका उपयोग किया था इसलिए उनको 'वचनकार' कहा जाता है और हरिशरणों को 'कीर्तनकार' क्योंकि उन्होंने अपने प्रचारके लिए कीर्तन-शैलीका उपयोग किया था। यह ग्रंथ केवल शैव संतोके वचन-साहित्य का मुंहदेखा[3] परिचय करानेका नम्र प्रयास है।

---

१. ई० स० १२७५-६६

२. नायनमाररु।

३. संक्षिप्त, दर्शन मात्र से होने वाला परिचय=मुंह देखा परिचय।

जैसा ऊपरके परिच्छेदके अंतमें लिखा है यह ग्रंथ हिंदी पाठकोंको अथवा हिंदीके माध्यमसे भारतकी सर्वसामान्य जनताको कन्नड़ वचन-साहित्यका मुंहदेखा परिचय करानेका नम्र प्रयत्न है, वस्तुतः मुंहदेखा परिचय ही है। कन्नड़ संत-साहित्यकी बात दूर रही, केवल वीरशैव संत-साहित्य सागर-सा गहरा और हिमालय-सा उन्नत है। उसका गहराईके साथ अध्ययन करके अन्य भाषाके पाठकोंको उनकी भाषा द्वारा संपूर्ण परिचय कराना एक महान् दायित्व-का काम है और साहसका भी। यदि हिंदीके ही कुछ विद्वान् कन्नड़ तथा तामिलके प्राचीन साहित्यके भिन्न-भिन्न अंग-उपांगोंका अध्ययन करके उसका हिन्दी में अनुवाद करते तो न केवल हिंदी भाषा संपन्न होती, अपितु भारतकी सर्व सामान्य जनताका ज्ञान उन्नत होता। आशा है इस मुंहदेखे परिचयसे कन्नड़ वचन-साहित्यके साथ हिंदी के विद्वानोंका संबंध बढ़ेगा और उस साहित्यका अध्ययन करनेके लिए वे प्रवृत्त होंगे। यदि एक भी विद्वान इस ओर प्रवृत्त हो, तो अनुवादक अपनेको कृतार्थ समझेगा।

वचन-साहित्यका साहित्यिक परिचय

कन्नड़ साहित्यमें वचन-साहित्यका, शैलीकी दृष्टिसे, विषय और विस्तार-की दृष्टिसे तथा उसके इतिहासकी दृष्टिसे भी एक विशिष्ट और स्वतंत्र स्थान है। किसी भी साहित्यका अपना इतिहास, शैली, विषय आदि होता है। वचन-साहित्यका भी अपना पृथक् इतिहास, वैशिष्ट्यपूर्ण शैली, विषय आदि है। इस परिच्छेदमें उन सबका विचार किया जाएगा।

वचन शब्द संस्कृतकी वच् धातुसे बना है। वच्का अर्थ है बोल, बात, कहना, तथा आश्वासन भी। कन्नड़ साहित्यमें चंपू काव्यका भी एक युग रहा है। ई॰ स॰ ६०० से ई॰स॰ ११५० तक अनेक महाकाव्य चंपूशैलीमें लिखे गये हैं। इन चंपू काव्योंमें कहीं-कहीं काव्यात्मक गद्य विभाग भी आता है। इस गद्य विभागको वचन कहने की परिपाटी चली आ रही थी। आगे जाकर वीरशैव संतोंने अपने अनुभवोंकी अभिव्यंजनाके लिए तथा धार्मिक प्रचारके लिए इस शैलीका प्रयोग और विकास किया। जहांतक ऐतिहासिक जानकारी है 'देवर दासिमैया' सबसे पुराने वचनकार हैं। उनके वचनोंको देखकर ऐसा लगता है कि उनके कालतक यह वचनशैली पर्याप्त विकसित हो गयी होगी। आगे भी बसवेश्वर आदि वचनकारोंने इस शैलीको अपनाया, इसका अमर्याद विकास किया, और अपने धर्म-प्रचारमें इसका उपयोग किया। आज कई वचनोंको पद्यके रूपमें अतीव सुंदरताके साथ गाया जाता है, और उस समय भी गाया जाता था ऐसी मान्यता है। किंतु साहित्यके मर्मज्ञोंने एक स्वरसे उस शैलीको गद्य ही कहा है। कन्नड़में इस शैलीको 'वचन-गद्य' कहा जाता है। इस गद्य-शैलीमें पद्योंमें आवश्यक लय, प्रास, तालबद्धता तथा लालित्यादि गुण भी पाये जाते हैं। सामान्यतः किसी भी भाषाके साहित्यिक इतिहासका अवलोकन किया जाय तो पद्य ही पहले पाये जाते हैं, और आगे जाकर गद्य। कन्नड़ भाषा भी इसका अपवाद नहीं है, किंतु वीरशैव संप्रदायके साहित्य का स्वतंत्र अध्ययन किया जाय तो पहले गद्य और बादमें पद्यात्मकता पाई जाती है। तथा भारतीय संत-साहित्यके इतिहासमें संभवत: गद्यात्मक शैलीमें कहा गया संत-साहित्य यही है। विद्वानोंकी यह मान्यता सर्वविदित ही है कि पद्य भावात्मक अभिव्यंजनाका माध्यम है और गद्य विचारात्मक अभिव्यंजनाका। पद्योंमें विशिष्ट प्रकारका लालित्य, लोच, लय, माधुर्य और मोहकता होती है। पद्य स्मरण-सुलभ भी होते है। गद्यमें स्मरण-सुलभता नहीं होती। उन दिनों, जब इन वचनोंकी रचना हुई, मुद्रण-व्यवस्था

नहीं थी । प्रकाशन संस्थाएं नहीं थी । साहित्य सर्व-सुलभ नहीं था । ऐसी स्थितिमें भी अधिकतर परंपरासे इस महान साहित्यकी रक्षा की गयी है । यह तो जैसे वीरशैव समाजकी, संतों और साधकोंकी ज्वलंत एक-निष्ठाका प्रमाण है वैसे ही वचन-साहित्यके संशयातीत महत्वका भी ।

वचन-साहित्यके विस्तार के विषय में अधिकार से कुछ कहना असंभव है । अबतक अनेक वचन प्राप्त हुए हैं, जो प्राप्त हुए हैं वे मुद्रित होकर प्रकाशित भी हो चुके हैं । किंतु अनेक पोथियां मिल भी रही हैं । इसके अतिरिक्त आज कई वचन ऐसे मिले हैं जिनके वचनकारोंका पता नहीं मिलता, कुछ वचनकारोंका नाम मिलता है किंतु उनके वचनोंका पता नहीं चलता। इसका यही अर्थ है कि अब तक यह अनुसंधानका विषय है । इस विषयमें जितना अनुसंधान हुआ है वह अपर्याप्त है । पर्याप्त अनुसंधानकी आवश्यकता है । जबतक यह कार्य पूर्णत: सम्पन्न नहीं होता तबतक वचन साहित्यके विस्तारके विषयमें अधिकारसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता । किंतु वचनोंके बारेमें कुछ परंपरागत मान्यताएं हैं । उनके विस्तारके विषयमें ऐसी श्रद्धा है कि वे करोड़ोंकी संख्यामें हैं । इसके लिए कुछ आधार भी हैं। वचनकारोंमें सिद्धरामैया नामका एक वचनकार है । वचनकारोंमें उसका महत्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। विशिष्ट इसलिए कि वही एक वचनकार ऐसा है जिसके वचनोंमेंसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है । कुछ वचनकारोंके जीवनकी घटनाओं का उल्लेख मिलता है, वचनकारों के नाम मिलते हैं । सिद्धरामैया ने अपने एक वचनमें वचनों के विस्तारके विषयमें कहा है कि अल्लमप्रभु और उनके आठ साथियोंके ही वचन १,६३,११,३०,३०० हैं। आज जो वचन मिले हैं उनके अक्षर भी गिनें तो भी इतने नहीं होंगे ; अबतक २१३ वचनकारों के वचन मिले हैं ! अबतक जो वचन मिले हैं वे लाख तक भी नहीं पहुंचे हैं, उनकी संख्या हजारोंमें ही है । जहां प्राप्त वचनोंकी संख्या लाखको भी नहीं छूती, करोड़ों की बात लिखना और कहना शोभा नहीं देता । फिर भी एक संतका वचन झूठ है, ऐसा कहनेका साहस कैसे करें ? हो सकता है इन आठ नौ सौ वर्षोंमें अनेक ग्रंथ नष्ट हो गये हों । भारतके इतिहासमें बड़े-बड़े पुस्तकालय तथा ग्रंथोंको नष्ट करने की घटनाएं कुछ कम नहीं हुई हैं । किंतु प्राप्त वचन भी अपने विस्तार की दृष्टि से कन्नड़ साहित्य में अपना एक विशिष्ट और स्वतंत्र स्थान बना लेनेके लिए पर्याप्त हैं। साथ-साथ इन वचनोंपर लिखे गये भाष्य और टीकाएं भी कम नहीं हैं । उन भाष्यों और टीकाओंकी परंपरा भी बड़ी प्राचीन हैं । उनका विस्तार भी पर्याप्त है। गूढ़ वचनों का रहस्य जाननेमें इन भाष्यों और टीकाओंसे पर्याप्त

सहायता भी मिलती है। फिर भी, इन भाष्यों और टीकाओंको वचन-साहित्य नहीं कहा जा सकता।

वचन-साहित्यमें अध्यात्म, धर्म, दर्शन, नीति, समाज-शास्त्र आदिके सांगोपांग विचार मिलते हैं। किसी महलके बनानेमें चूना, सीमेंट गारा आदि, का जो महत्वपूर्ण स्थान है वही मानवीय जीवनमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारोंका है। भौतिक संपन्नताकी चरम सीमापर पहुंचनेपर भी मनुष्यके मन, बुद्धि तथा अंतःकरणके विकासके लिए धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की आवश्यकता है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक साधना ही मनुष्यकी प्रसन्नता-का मूल है। उसीसे मनुष्यका अंतर-बाह्य जीवन खिलता है। जैसे एक धागा बिखरी हुई मणियोंको पिरो देता है, भिन्न-भिन्न रंगरूपके फूलोंका हार गूंथता है, वैसे आध्यात्मिक विचार विश्वके मानव-कुलको उच्च ध्येयसे अभिमंत्रित करके सामूहिक विकासके लिए पथ-प्रदर्शन कर सकता है। वही भिन्न-भिन्न देश, राष्ट्रीयता, भाषा, संस्कृति, परंपरा, विचार, चाल-चलन आदिसे बिखरे हुए मानव-समूहको विश्व-बंधुत्वके एक सूत्रमें पिरो सकता है। वचनकारोंने यही प्रयास किया है। वचन-साहित्य इसी ओर संकेत करता है। वचन-साहित्य केवल वीरशैवोंका उपासना-साहित्य नहीं है। वह सब धर्मवालोंके लिए है। मानव मात्रके लिए है। यही वचन-साहित्यकी विशेषता है। यही उसकी गुरुता और महानता है। वचनकारोंने अपने साहित्यके द्वारा मानवमात्रको उस महान् आदर्शकी ओर संकेत किया है जिससे मानव महान् बनता है, जिससे नर नारायण बनता है। वचन-साहित्यमें केवल इस ओर संकेत ही नहीं, किंतु इस ओर जानेकी प्रेरणा भी है, उसका मार्ग भी बताया है, उस मार्गके धोखे भी बताये हैं। यही वचन-साहित्यका महत्व है। इसके अतिरिक्त उसमें वीरशैव संप्रदायके शक्ति-विशिष्टाद्वैत, षट्स्थल, अंगलिंग-संबंध, लिंगधारणादि अष्टावरण आदि विशिष्ट उपासनात्मक बातें भी हैं। वीरशैव उपासना पद्धतिको जानने के लिए वचन-साहित्य ही पर्याप्त है। उसको पढ़ लेनेके उपरांत इस विषयको जाननेके लिए और कुछ पढ़ना शेष नहीं रहता। साथ-साथ, मानव-मात्रका आत्यंतिक ध्येय, उसके साधना-मार्ग, उसके लिए आवश्यक गुणशील कर्म, नैतिक नियम आदिके लिए भी वचन-साहित्य अत्यंत चित्तवेधक, चिंतनीय और मननीय है।

संक्षेपमें, वचन साहित्यके विस्तार और विषयका विवेचन करनेके पश्चात् उसकी शैलीका विचार करें। किसी भी साहित्यकी शैली अथवा रचना-पद्धति के दो अंग होते हैं। एक बाह्यरूप तथा दूसरा आंतरिक रूप। इसके बाह्य रूपका विचार करते समय, वचनोंके प्रमाण, उसमें पायी जानेवाली पद्यात्मकता,

उसकी कथन-पद्धति आदिका विचार करना आवश्यक है । सामान्यतः वचनकारोंकी कथन-पद्धति सूत्रात्मक है, पुराणात्मक नहीं, अर्थात् थोड़ेसे शब्दोंमें अनंत अर्थ समाया हुआ है । वचनोंकी रचनाका उद्देश्य, उनके विषय आदि का विचार करने पर लगता है कि वचनोंका यह सूक्ष्म-सा रूप ही सुन्दर और उपयुक्त है । मनुष्यके अंतरंगमें उद्भूत होनेवाली भावना कल्पना विचार आदिको व्यक्त होनेके लिए, साकार होनेके लिए किसी माध्यमकी आवश्यकता होती है । उस माध्यमके द्वारा ही मनुष्यका भावात्मक अंतरंग मूर्त होकर व्यक्त होता है । तभी किसी मनुष्यकी कल्पनाएं, उसकी भावनाएं, उसके विचार, विकार आदि अन्य लोग समझ सकते हैं । कन्नड़ वचन-साहित्य देवोन्मादमें उन्मत्त हुए कन्नड़ शैवसंतोंके अंतःकरणको रूपाकारमें व्यक्त करनेवाला दर्पण ही है । अधिकतर वचन सात-आठवाक्य, अथवा २०-३० शब्दोके ही हैं । कुछ उससे भी छोटे है, तो कुछ दो-दो, तीन-तीन पृष्ठ भरदेने वाले भी हैं, किंतु ऐसे वचन बहुत कम है । जो वचन लंबे-लंबे है उनमें वचन-गद्यका वैशिष्ट्य नहीं है । उन वचनोमे सामान्यतः वचनोंमे पाया जानेवाला लालित्य, लोच, अर्थ तथा भाव-गांभीर्य आदि गुण नहीं, प्रसाद गुण नहीं, वह प्रास और ओजस्विता नहीं । वह सामान्य गद्यखंड-से हैं । उन्हें इसलिए वचन कहा जाता है कि वह वचनकारोंने कहे हैं, उसपर उनकी मुद्रिका अंकित है । किंतु उनमें वचनोंका गुण-धर्म नही । ऐसे वचन बहुत ही कम हैं ।

अपवादको, अर्थात् अत्यंत छोटे और अत्यन्त बड़े वचनोंको छोड़दें तो सामान्यतः सब वचन २०-३० शब्दोंके हैं । इनमेंसे कई अलग-अलग रागोंमें सुंदरताके साथ गाये जाते हैं । कुछ आलोचकोंका यह कहना है कि गाये जाने वाले वचन, वचन नहीं है भले ही उनको वचनकारोंने कहा हो । वैसे ही अनेक भाषा-टीकाएं आदि वचनोंके साथ मुद्रित होकर प्रकाशित हुई हैं, वचनोंका रहस्य समझनेमें उनकी आवश्यकता भी है, फिर भी उनको वचन-साहित्य नहीं कहा जा सकता । इन वचनोंमें अनेक उद्धरण आते हैं । ये उद्धरण कुछ वेदके होते हैं, कुछ उपनिषदोंके होते है, कुछ शैवागमोके होते हैं, कुछ पुराणोंके भी होते हैं । ऐसे अवतरण अधिक नही हैं । जो है वे आचार-धर्मके वर्णनके समय आये हैं । ऐसे उद्धरण कुछ वचनकारोंके वचनोंमें नहींके बराबर हैं और कुछ वचनकारोंके वचनोंमे बहुत हैं । श्री बसवेश्वर, अल्लमप्रभु, आदि वचनकारोंके वचनोंमें वे नहीं के बराबर कहे जा सकते हैं, तो चन्नबसवके वचनोंमें बहुत पाये जाते हैं । जहां कहीं नीति-नियमोंके वचन हैं वे स्वानुभवके आधार पर हैं, उनमें किसी प्रकारके उद्धरणों को कोई स्थान नहीं । अपने वचनोंमें वचनकारोंने जहां कहीं ऐसे उद्धरण दिये हैं वहां श्रुति, स्मृति, आगम

आदिका नामनिर्देश नहीं किया गया है। क्वचित् अपवादात्मक ऐसा निर्देश मिलता है। कहीं-कहीं वचनकारोंने आगमोंको भी श्रुति कहा है। जो उद्धरण नामनिर्देशके साथ आये हैं उनमें अथर्ववेदके अधिक है। साथ-साथ वचनोंमें कन्नड़ भाषाकी अनेक कहावतें अथवा लोकोक्तियां पायी जाती हैं जो आज भी उसी रूपमें प्रचलित हैं। जैसे—"हुत्तवु बडिदरे हावु साय बल्लदे ?"[१] "सुण्णद कल्लुमडलल्लि कट्टिकोंडु मडुविनल्लि बिद्दंते"[२] हावु डोंकादरे बीलु डोंके ?"[३] आदि। ऐसी अनेक कहावतें हैं। ये कहावतें आज भी उसी रूपमें जन-भाषामें प्रचलित हैं। करीब आठ-नौ सौ सालसे आज तक एक ही रूपमें प्रचलित इन लोकोक्तियों को देखकर पाठककी बुद्धि चकरा जाती है। उन लोकोक्तियोंका इतिहास जाननेकी उत्कंठा बढ़ती है इन लोकोक्तियोंकी वास्तविक आयु क्या होगी ? कन्नड़में एक कहावत है 'वेदकिन्त गादेये मेलु।'[४] कहावतकी प्राचीनताके कारण ही उसको यह मान्यता मिली होगी ?

अस्तु, कन्नड़ कहावतोंका कुल-गोत्र खोजना इस लेखकका उद्देश्य नही है। यहाँ पर इतना ही बताना है कि वचनकारोंने अपने वचनोंमें कहावतोंका पर्याप्त उपयोग किया है। कहावतोंके बाद वचनकारों की शब्द-संपत्तिका भी विचार करना है और उनकी मुद्रिकाका भी। भारतीय संत-साहित्यमें साधारणतः यह पाया जाता है कि उनके वचनोंमें उनका अपना नाम होता है, जिससे सुननेवाले अथवा पढ़नेवाले यह समझ सकें यह किसकी बाणी है। उसको छाप भी कहते हैं। दक्षिणमें इसको 'मुद्रिका' कहते है। वचनकारोंकी मुद्रिकाका विचार करते समय अधिकतर ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने इष्टदेवके नामका ही अधिकतर उपयोग किया है। संभवतः यह वचनकारोंकी दीक्षाका परिचायक है। क्योंकि घनलिंगीके एक वचनमें आया है कि "मेरे गुरु तोंटदार्यने मेरा 'घनलिंगी' ऐसा नामकरण किया।" वैसे ही सिद्धरामैयाने भी अपने एक वचनमें 'गुरु चन्नबसवद्वारा नामकरण किये हुए लिंगका नामलेता हूँ !' कहा है।

दूसरे प्रकारकी मुद्रिका वचनकारोंके गुरुके नामकी है। अनंत देवने 'अनंत गुरु अल्लममहाप्रभु' इस मुद्रिकासे अपने वचन कहे हैं, तथा मुक्तायक्काने अपने गुरु 'अजगण्ण' नामकी मुद्रिकाको अपनाया है।

इसके अतिरिक्त कुछ वचनकारोंने अपने नामका ज्यों-का-त्यों उपयोग किया है। जैसे 'अंबिगर चौडैया' प्रसिद्ध है।

---

१. बल्मीक पीटने से क्या सांप मरेगा ?

२. चूने का पत्थर गले में बांधकर झील में डूबने सरीखा।

३. सांप टेढ़ा हो तो क्या उसका बिल भी टेढ़ा है ?

४. गादे=कहावत, वेदसे गादे ही ऊँची है ! वेद से कहावत श्रेष्ठ है।

अब वचनकारोंकी शब्द-संपत्तिका विचार करें। वचनकारोंकी शब्द-संपत्ति-का विचार करनेसे पहले हमें कन्नड़ साहित्यके इतिहासकी कुछ मोटी बातें जान लेना आवश्यक है। कन्नड़ साहित्यका सूक्ष्मतासे अवलोकन किया जाय तो वचन-साहित्यका काल युग-परिवर्तनात्मक काल है। वचनकारोंके अग्रणी श्री बसवेश्वर[1] इस युगके युग-पुरुष हैं। साहित्यकारके नामसे युगका नामकरण करना हो तो, जैसी कि हिंदीमें परिपाटी है, इस युगको 'श्री बसवेश्वर युग' कहना होगा। बसवेश्वर के युगसे पहले 'पंपयुग' था। पंप[2] कन्नड़का महान् कवि है। विद्वानोंकी यह मान्यता है कि उनका काव्य विश्व-साहित्यमें भी उच्च कोटिका काव्य कहा जा सकता है। पंपयुगके १९ महाकवियों में १५ या १६ महा-कवियोंने किसी न किसी राजाश्रयमें रहकर साहित्यका निर्माण किया। और बसव-युगके ३९ महान् साहित्यिकोंमेंसे केवल १२ साहित्यिकोंने राजाश्रय-में रहकर साहित्य-सृजन किया। इसमें और एक बात अत्यंत महत्वकी है, और वह यह कि 'पंप युग' के १९ कवियोंमेंसे १५ या १६ महाकवि जैन थे और वह सबके सब राजाश्रयमें थे! तथा बसवेश्वर युगके महान् साहित्यिकोंमेंसे एक भी वीर-शैव साहित्यिक किसी भी राजाके आश्रयमें नहीं दीखता। जैन कवियोंके सभी ग्रंथोंकी शैलीका अवलोकन किया जाय तो पचानवे प्रतिशत चंपूकाव्य है और वीर-शैव साहित्यिकों की रचनाका विचार करें तो उनमें वचनगद्य, व्याख्यानगद्य, पद्य, त्रिपदी, रगले, षट्पदीके कई प्रकार, कंदवृत्त, सांगत्य, आदि विविध प्रकार पाये जाते हैं, जो संस्कृत अथवा संस्कृत-जन्य अन्य भाषाओंमें नहीं पाये जाते। पहला युग, जिसको पंपयुग कहा गया, राजाश्रयमें रहकर रचे गये राजमान्य साहित्यका युग था और श्रीबसवेश्वर-युगमें लोकशिक्षार्थ रचे गये लोकमान्य साहित्यका युग था। अर्थात् वचनकारों-की शब्द-संपत्ति लोकभाषासे ली गयी थी। वचन-साहित्यमें अधिकतर सरल, सुलभ, बहु प्रचलित कन्नड़ शब्द हैं। नहीं तो संस्कृतजन्य तद्‌भव या तत्सम। संप्रदायके पारिभाषिक शब्दोंको छोड़ दिया जाय तो संस्कृतके शब्द बहुत कम हैं। किंतु बसवेश्वर-युगसे पहलेके साहित्यमें सर्वत्र, संस्कृत-का अंधानुकरण दिखायी देता है। साथ-साथ उनकी शब्द-संपत्ति भी संस्कृत-प्रचुर ही नहीं, संस्कृतमय हो गयी थी। वचन-साहित्यका उद्देश्य ही लोक-सेवा और लोक-शिक्षा रहा, अस्तु लोक-भाषामें ही उसका निर्माण भी हुआ। उनके पारि-भाषिक संस्कृत शब्द, जैसे लिंग, अंग, इष्टलिंग, प्राणलिंग, निजैक्य आदि सर्व-

---

१. ई० स० ११५०

२. ई० स० ९४०

सामान्य लोगोंकी समझमें आने-वाले नहीं हैं। यकायक उसका अर्थ समझमें आना कठिन है। किंतु एक बार ऐसे शब्दोंका अर्थ समझ लिया जाय, तो कन्नड़-भाषा-भाषी जन-सामान्यके लिए वचन-साहित्यकी भाषा कठिन नहीं है। हाँ, वर्तमान युगमें, जब कन्नड़ भाषाने आधुनिक रूपमें अपना विकास किया है उसके कुछ शब्दों को, जो प्राचीन कन्नड़के है, समझना कठिन है। किंतु वह शब्द पुनः प्रचारमें लाने योग्य हैं। उन शब्दोंसे नयी कन्नड़ अधिक लालित्यपूर्ण, अर्थ और भावपूर्ण, तथा शुद्ध होगी। वचनोंकी वाक्य-रचना भी सरल, सुंदर, सरस, मधुर, काव्यात्मक और सूत्रात्मक है। उनमें आनेवाले क्रिया-पदरहित, अर्थपूर्ण सुबोध वाक्य भाषाका सौंदर्य और माधुर्य बढ़ाते हैं, भाषाको अधिक लालित्यपूर्ण बनाते हैं। भाषामें नया प्रवाह, धार, और स्वारस्य लानेवाले हैं। अर्थात् वचनकारोंने केवल विचारोंमें ही नहीं, अपनी साहित्य-शैली, शब्द चयन आदिमें भी युग-परिवर्तन और नया युगनिर्माण किया है।

वचनोंके बाह्य परिचयके उपरांत उसके अंतरंगका विचार करना रह जाता है। उसके अंतरगका विचार करते समय यह देखना होगा कि कितने प्रकारके वचन हैं। वचनोंका विभाजन करते समय, उनके भाव, विचार, तत्त्व आदिकी दृष्टिसे विचार करना होगा। उसमें आनेवाले अलंकार, प्रास, पद-लालित्य आदिकी दृष्टिसे विचार करना होगा। किंतु यहां और एक दृष्टिसे वचनोंका विश्लेषण किया है। वह है (१) सूत्रात्मक वचन (२) वर्णनात्मक वचन, (३) उपदेशात्मक वचन, (४) प्रार्थनात्मक वचन, (५) सती-पति भावात्मक वचन, (६) विरक्तात्मक वचन, (७) गूढ़ात्मक वचन, तथा (८) आत्मगत वचन।

(१) सर्व सुलभ, सुन्दर, सरल शब्दों द्वारा विषयकी गहराईको स्पष्ट रूप-से व्यक्त करनेवाले वचन ही सूत्रात्मक हैं। वचन-साहित्यमें ऐसे अनेक वचन हैं। इतना ही नहीं, इसमें आनेवाले वाक्य ही ऐसे हैं। जैसे 'आशॆये[1] दासत्व'[2] "निराशॆये ईशत्व"[3] "दासत्व ईशत्वद ई अनुव विचारिसि निराशॆयॊ लगिरु वेद[4]

---

१. हिंदी में केवल 'ए' और 'ऐ' तथा 'ओ' और 'औ' ऐसे ही हैं किंतु कन्नड़ में ह्रस्व 'ए' दीर्घ 'ए' और प्लुत 'ऐ' तथा 'ऑ', 'ओ', 'औ' ऐसे तीन अक्षर हैं। ह्रस्व 'ए' के लिए 'अ' पर ॅ तथा ह्रस्व 'ओ' के लिए आ पर ॅ दिया गया है।

२. आशा ही दासत्व।

३. निराशा=निरपेक्षा ही ईशत्व।

४. दासत्व और ईशत्वकी स्थिति समझकर ईशत्वकी स्थितिको जानकर निस्पृहता में स्थिर होना ही ईश-पद है।

ईश पदवय्या'', 'हसिविगॆ लय विल्ल',[१] 'विषयक्कॆ काल विल्ल',[२] कायकवे कैलास',[3] 'आत्म निश्चय वादल्लिये कैलास',[४] 'तन्न तानरिदॊडॆ तन्नरिवे गुरु'[५] ऐसे असंख्य सूत्रात्मक वाक्य वचन-साहित्यमें मिलेंगे। इस प्रकारके वाक्योंने कन्नड़ भाषामें नया प्रभाव भर दिया है।

(२) किसी भी विषयका विवेचन करके वर्णन कर समझानेवाले वचन वर्णनात्मक वचन कहे जाते हैं। ऐसे वचन बहुत कम हैं। सम्भवतः यह पद्धति वचनकारोंको पसंद नहीं थी। कहीं-कहीं एकाध वचन ऐसा पाया जाता है। जैसे, 'शून्य संपादने'[६] में चन्नबसवने कल्याणका वर्णन किया है। अथवा श्री अल्लम प्रभुने श्री बसवेश्वरके घरका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कारके कुछ वचन ऐसे हैं। ये वचन बड़े सुन्दर हैं। इनमें साक्षात्कारका सुन्दर वर्णन मिलता है। किंतु वचनकारोंने इस पद्धतिका कोई विकास नहीं किया।

(३) जिन वचनोंके द्वारा उपदेश दिया गया है वे उपदेशात्मक वचन कहलाते हैं। वचनामृतमें ऐसे कई वचन मिल सकते हैं। विशेष विवेचन न करते हुए विधि प्रधान वाक्योंसे उपदेश देना ही वचनकारोंने उचित समझा होगा। यही उनकी पद्धति रही है।

(४) जिसमें परमात्माकी प्रार्थना की गयी है ऐसे वचन प्रार्थनात्मक वचन कहे जाते हैं। ऐसे अनंत वचन हैं और वे भक्तिभावसे पूर्ण हैं। वचनामृतमें भी ऐसे अनेक वचन पाये जा सकते हैं।

(५) भगवानको पति और अपनेको सती मानकर कहेगये वचन सती-पति-भावात्मक वचन कहलाते हैं। यह मधुरभावकी साधना कही जाती है। वचनामृतमें इस प्रकारके कई वचन आये हैं। सती-पति संबंध अत्यंत निकटतम संबंध माना जाता है। सती और पति, मानो एक आत्मा और दो शरीर। वचनकारोंकी ही भाषामें कहना हो तो दो आंखें और एक दृष्टि। साथ-साथ वह अनंत उर्मियोंका उद्गम स्थान भी है। इन सब भावोंको वचनकारोंने व्यक्त किया है। अनेक वचनोंमें यह कहा गया है, 'अंग ही सती, लिंग ही पति।' अंगका अर्थ जीव है और लिंग का शिव। इसी रूपकका विस्तार मधुर-भाव है।

---

१. भूख का अंत नहीं।
२. विषयका काल नहीं।
३. कायक ही कैलास।
४. आत्म-निश्चय हुआ कि कैलास।
५. अपने आपको जाना तो वह ज्ञान ही गुरु।
६. एक ग्रंथ का नाम।

(६) निरुक्तका अर्थ है किसी शब्दकी व्युत्पत्ति। जिन वचनोंमें शब्दोंकी व्युत्पत्ति देनेका प्रयास किया गया है वे निरुक्तात्मक वचन कहे जाएंगे। वचनों में किया जानेवाला इस प्रकारका प्रयास भाषाशास्त्र, व्युत्पत्ति-शास्त्र अथवा व्याकरण शास्त्र, इसमेंसे किसी एक शास्त्रसे खास संबंधित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी यह काल्पनिक भी होता है। शब्दोंमें जो अक्षर होते हैं उनमेंसे अपने विचारके अनुसार अर्थ निकाल लिया जाता है। इस प्रकारकी व्युत्पत्ति जिन वचनोंमें पायी जाती है उनको निरुक्तात्मक वचन कहा गया है। जैसे 'लिंग' शब्दकी व्युत्पत्ति बताते हुए वचनकारोंने लिखा है, 'लिकारवे शून्य बिंदुवे लीलॅं, गकारवे चित्त" (लिकार ही शून्य, बिन्दु ही लीला, गकार ही चित्त)। उपनिषद् और आगमोंमें भी यह पद्धति पायी जाती है।

(७) जिन वचनोंका अर्थ समस्याकी भांति गूढ़ रहता है उनको गूढ़ात्मक वचन कहते हैं। कन्नड़में इन वचनोंको मुंडिगे कहते हैं। श्री अल्लम प्रभुके ऐसे कई वचन हैं। ऐसे वचनोंकी संख्या भी पर्याप्त है। हडपदप्पण्णाके भी ऐसे बहुत वचन हैं। अन्योंके भी ऐसे वचन हैं किंतु कम। जो लोग इस सप्रदाय की परम्पराको अच्छी तरह जानते है वही इन गूढ़ात्मक शब्दोंका अर्थ स्पष्ट कर सकते हैं। 'प्रभुदेवर रचने' नामका एक ग्रंथ है। उसमें अल्लम प्रभुके ऐसे वचन हैं।

(८) आत्मनिरीक्षात्मक अथवा आत्मबोधात्मक वचन आत्मगत वचन कहलाते हैं। ऐसे वचन बहुत कम हैं किंतु महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्हीं वचनों के गवाक्षोंमें-से वाचक वचनकारोंके हृदयमंदिरकी झांकी पा सकते है।

अपने अनुभव, विचार, अपनी भावनाएं कल्पनाएं आदि स्पष्ट रूपसे दर्शानेके लिए भाषाकी आवश्यकता होती है। यही भाषाका उद्देश्य है। जब यही अत्यंत सुन्दर, सरल, सरस और आकर्षक ढंगसे व्यक्त किया जाता है तब उसको साहित्य कहते हैं, वाङ्मय भी कहते हैं। वचनकारोने यही किया है। करीब आठ-नौ सौ वर्ष पहले कन्नड़ भाषाके शैव सतोने अपने गहरे, गंभीर और उच्चतम गूढ़ विचारोंको, अनुभवोंको, तथा अपने उमड़नेवाले भाव-सागर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म लहरोंको भी अत्यंत आकर्षक, सुन्दर, सुलभ, सरल शैलीमें लोगोंके सामने रखा है। मनुष्यके हृदय-सागरमें क्षण-क्षणमें अनंत कल्पना-तरंगे उठती हैं, असंख्य और विविध विचार लहरियां लहरती हैं, गहरी अनु-भूतियोंकी शक्तिशाली भावोर्मियां उमड़ती हैं। ये सब औरोंके लिए अज्ञात रहती हैं, अपने लिए भी जब तक यह सब शब्दोंकी पोशाक नहीं पहनतीं तब तक अस्पष्ट ही रहती हैं। हमारे हृदय-सागरकी यह महान संपत्ति, किसी कुलीन घरकी सौभाग्याकांक्षिणी कुल-वधूकी भांति जब कभी चित्तके दर्पणके

सामने अपना प्रतिबिंब देखने आती है, शब्दोंका सुन्दर वसन पहनकर आती है, उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि अलंकार पहनकर आती है, कभी-कभी अपनी सरल सुलभ सहज गद्यमय चालसे आती है तो कभी-कभी पद्यमय लालित्यपूर्ण, ताल-बद्ध नृत्य करती आती है। चित्तमें अपना प्रतिबिंब देखकर वह गिरा, वाणी, परम कल्याणी, ज्ञानपथगामिनी, प्रसन्न होकर मानवीय हृदय-सागरकी गहराईमें पड़े भाव भंडारको लुटाती है, सुरभित अनुभव-सुमनोंको उछालती है, और मानवको महामानव बनानेके लिए, नरको नारायण बनानेके लिए, प्रत्यक्ष बनकर, स्पष्ट बनकर, गुह्यात् गुह्यतम ज्ञान-विज्ञानको करतलामलककी भांति खोलकर मानवके सम्मुख रखती है। वाणीके इस पावन रूपको विद्वान् लोग साहित्य कहते हैं, वाङ्मय कहते है। वह वाणीकी लीला होती है। मां सरस्वतीकी वीणाकी मधुर झंकार होती है। मांके इस वीणा-वादनसे मनुष्य अपने जीवनका अंतर-बाह्य दर्शन करता है। जीवन-कमल खिलकर अपना रहस्य खोल देता है। तभी विद्वान् लोग कहते है, साहित्य वही है जो जीवनका अर्थ करता है।

किसी भी साहित्यका विचार करते समय यह देखना आवश्यक है कि सहित्यिकने किस उद्देश्यसे यह सब लिखा है? किस ढंगसे कहा है ? साहित्यकारने अपने अनुभव किस प्रकार, कितनी सुंदरतासे, सुलभ और सरल शैलीमें वाचकके सम्मुख प्रस्तुत किए है। और वह इसमें कहाँ तक सफल हुआ है! वचन साहित्यकी ओर देखते समय भी इसी दृष्टिसे देखना है, किंतु इससे पहले एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है कि वचनकार साहित्यिक नहीं थे। वे साहित्य-कला, अथवा साहित्य-शास्त्रके विद्वान् नहीं थे। साहित्य-निर्माण करना उनके जीवनका उद्देश्य नहीं था। वे सत्यका अनुसंधान करने वाले थे। सत्यके साधक थे। जो कुछ पाया वह अपने संगी साथियोंको देते-देते, सत्य के अनुसंधानकार्य में जो अनुभव आते थे उन्हें कहते-कहते, जीवनके अंतिम सत्यके अनुसंधानमें आगे बढ़नेवाले वीर थे। उस ओर जानेवालोंका पथ-प्रदर्शन करनेवाले पथ-प्रदर्शक थे। सत्यार्थी थे। सत्याग्रही थे। उनके जीवनमें अपने उद्देश्य-प्राप्तिके विषयमें अपने प्रियतमको खोजनेवाली विरहिणीकी व्याकुलता थी, अपने नये खिलौनेसे खेलनेवाले बालककी तन्मयता थी, भूमिके अंदर छिपे धनको खोदनेवाले लोभी का लालच था। इन्हीं भावोंसे उन्होंने मानवीय जीवनके आत्यंतिक साध्यकी खोज की। इस खोजमें जो अनुभव हुए वे अपने साथियोंसे कहे। जिन बातोंसे वे प्रसन्न हुए उन बातोंको उन्होंने अपने अन्य मानव-बंधुओंसे कहा। उन्होंने अन्य दर्शनिकोंकी भांति कभी खंडन-मंडन करके 'इति सिद्धं', ऐसी घोषणा नहीं की। उन्होंने इतना ही किया कि जिस रास्ते पर वह चले

उस रास्ते पर जाने वालोंका मार्ग दर्शन दिया। जिस बातसे उनको आनंद मिला उस बातको उन्होंने अपने साथियोंको दिया। यही उनका उद्देश्य था। वे अपने वचनोंके द्वारा इसमें सफल हुए इसमें संशय नहीं। यदि ऐसा न होता तो करीब एक हजार वर्ष तक विस्मरण-सुलभ गद्यात्मक शैलीमें लिखे हुए ये असंख्य वचन कन्नड़ भाषाभाषी लाखों लोगोंके कंठका भूषण नहीं होते। मुंडिगेके रूपमें प्रचलित कुछ गूढ़ात्मक वचनोंको छोड़ दिया जाए तो सर्वसामान्य वचनोंने भाषामें स्थायी रूपसे घर करके रहनेवाली लोकोक्तियोंका स्थान ले लिया है। लोकोक्तियोंके रूपमें भाषामें स्थायित्व प्राप्त करने वाले वचनोंने केवल कन्नड़ भाषा-भाषी जनताकी ज्ञान-वृद्धि ही नहीं की है, कन्नड़भाषाकी अभिव्यंजना शक्ति को भी बढ़ाया है। वचन-साहित्यके कारण कन्नड़भाषा-भाषी जनताके लिए संस्कृतमें स्थित मोक्ष-शास्त्र सर्व-सुलभ हुआ है। मोक्षके लिए आवश्यक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, कर्म, समर्पण आदि-का रहस्य सर्व-सामान्य जनताके लिए भी रहस्य नहीं रह गया। सबको इसका बौद्धिक ज्ञान हुआ। वचनोंमें आनेवाले शब्द अधिकतर विशुद्ध कन्नड़ शब्द हैं, उनमें आनेवाले श्रुति, उपनिषद्, आगमादिके उद्धरणोंका अर्थ भी कन्नड़ में रहता है, तथा उनमें पुराणादिका संदर्भ भी नहीं होता, इससे वे सर्वसुलभ हो गये हैं, सर्वप्रिय हो गये हैं। सबके लिए उपयुक्त भी हो गये है। किसी विद्वान्ने कहा है "सच्चे और उच्च कोटिके साहित्यमें और कुछ हो या न हो, किंतु वह पाठककी योग्यतानुसार समझमें आने योग्य होना चाहिए, सबके लिए प्रकाश देनेवाला होना चाहिए, क्योंकि साहित्य समाजके लिए दीपक होता है।" वचन-साहित्य इस कसौटी पर खरा उतरता है। यदि किसीको कन्नड़ भाषाका सामान्य ज्ञान हो तो उसके लिए वचन-साहित्य सुलभ है, साथ-साथ सामान्य विवेक और सचाई को समझनेकी थोड़ी उत्कंठा हो तो सोने में सोहागा ही है, और संप्रदायकी परंपराका थोड़ा-सा ज्ञान अधिकाधिक फलप्रद है, 'अधिकस्याधिकं फलं' न्यायसे दूधमें शहद-सा है। जैसे छोटी-सी चिनगारी कूड़ेके बड़ेसे बड़े ढेरको भी राख कर देती है, वैसे ये छोटे-से वचन जिज्ञासु पाठकके अज्ञान, संशय आदिको जलाने-के लिए पर्याप्त हैं। इन वचनोंमें मानवीय जीवनकी आंतरिक उलझनोंको सुलझाने की कोमलता है, किंतु केवल लौकिक विषयोंके वर्णनमें कालहरण करनेकी मनोरंजकता नहीं है। इन वचनोंमें जिज्ञासुके अंतःकरणमें ज्ञानकी ज्योति जलानेकी शक्ति है, किंतु रंजनात्मक माधुर्य वाणीविलासका लालित्य और चित्तरंजनकी रंजकता अथवा रसिकता नहीं है। यह वचन-साहित्यका उद्देश्य नहीं है। वचन-साहित्यका उद्देश्य सत्यार्थियोंको सत्पथ दिखाना है। वचन-साहित्यकी आलोचना करते समय वह अपने उद्देश्यमें कहां

तक सफल हुआ है यह देखकर ही आलोचना करनी होगी। किसी भी साहित्य के उद्देश्यका विचार न करते हुए सर्वसामान्य नियमों के आधार पर साहित्यका मूल्यांकन करना उचित नहीं होता। ऐसा मूल्यांकन, कमल-काननमें गये हुए सुनारके द्वारा कोमल कमल-पखुड़ियों को अपनी कसौटी के पत्थर पर कसकर किये गये मूल्यांकन-सा होगा। यदि यह मान लिया जाय कि वचनकारोंने अपने अनुभवजन्य सत्यसे अन्य जिज्ञासु सत्यार्थियोंके पथप्रदर्शनके लिए वचन कहे हैं तो एक हजार वर्ष तक टिककर उन्होंने अपना कार्य करते हुए अपना मूल्यांकन स्वयं कर लिया है।

वचनकारोंने अपने अनेक वचनोंमें अनेक प्रकारके अत्यंत गूढ़ और उच्च विचारों को सरलता और सुलभतासे व्यक्त किया है। उनमें अव्यक्त परमात्माके वर्णनसे लेकर, सृष्टि, सृष्टि रचनाका क्रम, मुक्ति, साक्षात्कार आदि दार्शनिक विषय, सर्वार्पण, भक्ति, ज्ञान, ध्यान आदि साधना मार्गोंका विवेचन, तथा सत्य बोलो, परस्त्री को मां समझो, दया करो, आदि नीतिवचन भी हैं। इसी पुस्तकके दूसरे खंडमें पाठक ऐसे वचनों को देख सकते हैं। इसी पुस्तकके द्वितीय खंडके पहले अध्यायमें परमात्माका जो वर्णन है वह वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रंथोंमें आए परमात्माके वर्णनसे कम नहीं है। वैसे ही धर्म, नीति, साधनामार्ग आदिके विषयमें कहे गये वचन भी अत्यंत सरल, सुंदर, और मनोवेधक हैं। इस पुस्तकमें अंकित वचन ही वचन-साहित्य नहीं है। सहस्रों वचनोंमें से कुछ सौ इस पुस्तकमें आये हैं। इस पुस्तकमें अंकित वचनोंके अतिरिक्त, वीरभाव, आर्तभाव तिरस्कार, करुणा, विनोद आदि दर्शानेवाले वचन भी कम नहीं हैं। वैसे ही मधुर-भावको व्यक्त करनेवाले वचन भी पर्याप्त हैं। इन सबका विचार करते हुए निर्विवाद रूपसे यह कह सकते हैं कि वचनकारों ने अपनी ही एक विशिष्ट शैलीमें अपने मनोभावों को अत्यंत सुंदरताके साथ व्यक्त किया है।

वचनकारोंने अपने वचनोंमें अलंकारका भी पर्याप्त प्रयोग किया है। यह मानी हुई बात है कि अलंकार गद्यमें पद्यसे कम ही रहते हैं। एक विद्वान् साहित्यिकने, साहित्यमें कविताका स्थान दर्शाते हुए कहा है कि वनमें लता, समाजमें वनिता, और साहित्यमें कविता एक-समान है। जैसे समाजमें वनिता पर जो अलंकार शोभा देते हैं वे पुरुषों पर शोभा नहीं देते, वैसे ही साहित्यमें कवितामें जो अलंकार शोभा देते हैं वह गद्यमें शोभा नहीं देते, इसलिये पद्यों में अलंकारोंकी जैसी अपेक्षा की जाती है वैसी वचन-गद्य में नहीं होनी चाहिए। किंतु वचनकारोंने अपनी बातको सुननेवाले तथा पढ़नेवालों के मन पर अंकित करनेकेलिए जितने और जैसे अलंकारोंकी अपेक्षा थी उतने और वैसे अलंकारोंका उपयोग किया है। जिस सीमा तक अपने वचनों

को सजानेसे पाठकोंपर वचनोंकी अच्छी छाप पड़ेगी, उसी सीमातक वचन-कारोंने अपने वचनोंको सजाया है। वचनोंमें जहाँ अर्थ-चमत्कार है वहाँ शब्द-चमत्कार भी कम नहीं है। उनके शब्द-चयनमें कहीं-कहीं काव्यको भी लजाने वाला शब्द-लालित्य है। उदाहरणके लिए कुछ मूल वचनोंको यहाँ उद्धृत करें तो अनुचित नहीं होगा, जैसेः—

१—मनद मॉनॅय कॉनॅय मेलॅ नॅनॅद नॅनहु जनन मरणव निलिसि, ज्ञानज्योतिय उदय भानुकोटिय मीरि, स्वानुभवद उदय ज्ञानशून्यदलर्डागद धनवने-नॅबे गुहेश्वरा।[1]

२—मनसिन[2] संशय कनसिन भूतवागि काडुवदु नोड़ा।
मनसिन संशय अलिदरॅ कनसिन काट बिट्टोडुवदु नोडा।

३—नीनॉलिदरॅ[3] कॉरडु कॉनरुवदय्या।
नीनॉलिदरॅ बरडु हयनहुदय्या।
नीनॉलदरॅ विषव अमृतहुदय्या।
नीनॉलिदरॅ सकल पदार्थ इदरल्लॉप्पुवु।

४—वचनदल्लि[4] नामामृत तुंबि,
नयनदल्लि मूरुति तुंबि,
मनदल्लि निम्म नेनहु तुंबि,
किवियल्लि निम्म कीरुति तुंबि
कूडल सॅगम देवा निम्म चरणदॉलु
सॉगव बंडनुंब तुंबियगिपॅनु।

५—करि[5] घन अंकुश किरिदॅन्नबहुदेनय्या।
गिरि घन वज्र किरिदॅन्नबहुदेनय्या।
तमंध घन निम्म नेनहु किरिदॅन्न बहुदेअय्या।
कूडलसंगमदेवा निम्म कृपॅय घनव नीवे बल्लिरि।

६—सिंहद मुंदॅ जिमिदाटवे ?[6]
प्रलयाग्निय मुंदॅ पतंगदाटवे ?
निम्म मुंदॅ नम्नाटवे कलिदेवरदेवा।

७—तुंबिदुदु तुलुकदु नोडा।[7]
नंबिदुदु संदेहिसदु नोडा।
ऑलिदुदु ओसरिसदु नोडा।

---

१. इसका हिंदी अनुवाद देखिए वचनामृ में व. सं. ६६
२. व. सं. ४४६ ३. व. सं. ३०२ ४. व. सं. ३१० ५. व. सं. २७४
६. व. सं. ३१६ ७. व. सं. १४८

नॆरॆयरिदुवु मरॆयदु नोडा ।
चन्नमल्लिकार्जुनय्या नीनॉलिद शरणंगे निस्सीम सुखवैया ।

८—अमृतक्कॆ हसिवुंटे ?[८]
जलक्के तृषॆयुंटे ?
धन पुरुषंगॆ विषयवुंटे ?

९—'विश्व दॉळगॆ नीने देवा ।[९]
विश्वभरितनु नीने देवा ।
विश्वपतियु नीने देवा ।
विश्वातीतनु नीने देवा ।

१०—एन्नंतरंग नीवय्य ।[१०]
एन्न बहिरंग नीवय्य ।
एन्नरिवु नीवय्य ।
एन्न मरवु नीवय्य ।
एन्न भक्ति नीवय्य ।
एन्न युक्ति नीवय्य ।
एन्न आलस्य नीवय्य ।
एन्न परवश नीवय्य ।

ऐसे कितने ही वचन गिनाये जा सकते है। ये वचन समाक्षरोंके पद-लालित्य दिखानेके लिए पर्याप्त हैं। अब इनमेंसे कुछ वचनोंके पदोंका विचार करें। पहले वचनका पद-लालित्य अपने आप स्पष्ट है। दूसरे वचनमें आने वाले शब्द मनसिन, कनसिन संशय, काडु काट, नोडा आदि शब्दों, की समानता और प्रास काव्यात्मक है। तीसरे वचनमें नीनॉलिदरे शब्दकी पुनरुक्ति, कॉरडु बरडु, कांनरहुदय्या, हयनहुदय्या शब्दोंकी समानता, तथा तालबद्धता अपना पदलालित्य दिखानेके लिए पर्याप्त है। चौथे वचनके चारों चरणोंमें आने वाला तुंबि शब्द, एक है। पहले तीन चरणोंमें वचन, नयन-मन आदि शब्द, चतुर्थ चरणमें आनेवाले किवि, कीरुति आदि शब्द, तथा अंतिम चरणमें आनेवाला तुंबि शब्द, इन शब्दोंमें आनेवाला समाक्षरोंका लालित्य वचन की काव्यात्मकता दिखानेके लिए पर्याप्त है। साथ-साथ पहले चार चरणोंमें आए हुए 'तुंबि' शब्दका अर्थ 'भरकर' है तो अंतिम बार आये हुए 'तुंबि' शब्दका अर्थ 'भ्रमर' है। पाँचवें वचनमें आनेवाले करि, धन, गिरि, किरि, आदि शब्दोंका साम्य, लालित्य, तुक एवं समान अर्थकी दृष्टिसे दिये गये दृष्टांत, अत्यन्त आकर्षक और मार्मिक हैं। वैसे ही नौवां और दसवां वचन भी विश्व, नीने, देवा आदि शब्दोंके

८. व. सं. ३३२ ९. व. सं. २१० व. सं.

ध्वनि-साम्य, पद-साम्य, पुनरुक्ति प्रास आदिसे प्रत्येक चरणके पहले आनेवाले 'एन्न', अंतमें आनेवाला 'नीवय्या' शब्द, बीचमें आनेवाले अंतरंग-बहिरंग अरिवु-मरवु, भक्ति-युक्ति आदि शब्दोंसे वास्तविक पद्य बन गये हैं। ये वचन कोई अपवादात्मक नहीं हैं। ऐसे हजारों उदाहरण मिलते हैं।

ऊपर लिखे हुए वचन कविताके ढंगसे लिखे गये हैं, किंतु वह पद्य नहीं हैं। वचनकारोंने लोकभाषामेंसे जिन सीदे-सादे सरल शब्दोंका चयन किया है उनकी समानता, उनका लालित्य, लोच, लय, प्रास, ध्वनि आदिसे अत्यंत आश्चर्यजनक रूपसे कौतुकास्पद अर्थ-सामंजस्य साधा है। उनका शब्द-चयन और रचना-चातुर्य अक्षरशः अनुपम है। गद्यमें कोई तालबद्धताकी अपेक्षा नहीं करता। गद्यमें कोई शब्दोंके सम-प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करता। किंतु वचन-साहित्यमें वह सहज साध्य हुआ है। वचन-गद्यमें स्वाभाविक ताल-बद्धता आयी है। इसीलिए गद्यको पद्यकी भांति, अथवा कविताकी भांति गानेकी परिपाटी पड़ी होगी। गाये गये वचनोंको सुनकर स्वभावतः सुननेवालोंको यह भ्रम हो सकता है कि वचन कविता है। परन्तु केवल इतनेसे ही वचनोंको कविताकी कसौटी पर कसकर देखना उचित नहीं कहा जा सकता। उनके शब्दोंकी मात्राएं गिनकर उनको गणोंमें कसनेका अधिकार नहीं मिल सकता। वचन गद्य हैं, पद्य नहीं, यह जानकर ही उसकी ओर देखना चाहिए। कन्नड़के साहित्य-मर्मज्ञोंने उनको गद्य माना है। किंतु अन्य गद्य-शैलियोंसे भिन्न होनेके कारण वचन-गद्य कहा है।

वचनोंमें अनेक प्रकारके दृष्टांत आये है। किसी भी विषयको सुननेवाले अथवा पढ़नेवालेके मन पर प्रतिबिंबित करनेके लिए सुन्दर, सुलभ दृष्टांत आवश्यक है। जटिल विषयको सरल, सुलभ बनानेके लिए दृष्टांत सर्वोत्तम साधन है। वचनकारोंने इस साधनका अत्यंत प्रभावकारी ढंगसे उपयोग किया है और वह भी प्रचुर मात्रामें। वचनकारोंने अज्ञात सृष्टिमें अनुभूत सत्यको, अमूर्त कल्पनाओंको अनेक प्रकारके सुन्दर दृष्टांतों द्वारा अत्यंत कुशलताके साथ व्यक्त किया है। वचनकारोंके दृष्टांत अपूर्व ही कहे जाएंगे। इनके कुछ उदाहरण देखिए :—

(१) **काद कंचिनमेलॅ नीरु बिट्टंतॅ।**
गरम तवेपर पानी छोड़नेकी भांति।

(२) **बधिरन काव्य।**
बहरेका काव्य (बहरेको सुनाया गया काव्य)

(३) **हुलिय बायल्लि सिक्क हुल्लॅयंते।**
शेरके मुंहमें फंसे हिरणकी भांति।

(४) **मूक कंड कनसिनंतायितय्या ।**
गूंगेका देखा स्वप्न-सा हुआ रे ।

(५) **हाविन हेडे हिडिवु कॅन्नॅं तुरिसिकॉंडनु ।**
सांपका फन पकड़ कर कनपटी खुजला ली ।

(६) **उरिय कॉल्लॅय कॉडु मंडॅय सिक्कि बिडिसिदंत्तॅं ।**
जलती मशालसे बालोंकी उलझन सुलझानेकी भांति ।

(७) **भित्ति इल्लदॅ बरॅद चित्तारव ।**
बिना भित्तीके चितारा गया चित्र ।

(८) **अंधकन कैयल्लि दर्पणविट्ट फलवेनु ?**
अंधेके हाथमें दर्पण देनेसे क्या लाभ ?

(९) **एल्लिल्लद गाण नडिसिद एत्तिनंतॅं ।**
बिना तिलका कोल्हू खींचनेवाले बैलकी भाँति ।

(१०) **हसिद हॉट्टॅय मेले कट्टोगरद मॉट्टॅ कट्टिदरॅ-हसिवु हिंगुवदे**
भूखे पेट पर रोटीकी पोटली बाँधनेसे भूख मिटेगी ?

(११) **कैयल्लि ज्योति हिडिदु कत्तलु दुडुकुववु ।**
हाथमें दीपक ले कर अँधकार ढूंढ़ना ।

(१२) **मंजिन शिवालयक्कॅ बिसिलिन कलस, उंटे ?**
हिमके शिवालय पर धूपका कलश डाल सकते हैं ?

ऐसे अनेक दृष्टांत हैं। वचनामृतमें ही जो दृष्टांत आए हैं वही सौ से अधिक हैं। उनके दृष्टांतकी भांति वर्णन भी अप्रतिम हैं। वैसे तो वचन-साहित्यमें वर्णनात्मक वचन बहुत ही कम हैं। किंतु जहां कहीं हैं मानो शब्दचित्र ही हैं। वचनकारोंने अपने शब्दोंकी लकीरों द्वारा सुनने वालोंके सामने स्पष्ट चित्र चित्रित कर दिया है। उदाहरणोंके लिए श्री बसवेश्वरने ईश्वरचिंतनका उपदेश देते हुए आनेवाले बुढ़ापेका मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—

नॅरॅ कॅन्नॅगॅ, तॅरॅ गल्लकॅ, शरीर गूडु होगद मुन्न, हल्लु होगि बॅन्नु बागि, अन्यरिगॅ हंगागद मुन्न, काल मेलॅ कैयनूरि, कोलु हिडियुव मुन्न, मुप्पिनिं-दोप्पुवलिवद मुन्न, मृत्यु मुट्टद मुन्न पूजिसु कूडल संगमदेवन ।

भरी हुई कनपटी और भरे हुए गाल पिचकनेसे पहले, शरीर कंकाल होनेसे पहले, दाँत गिरने और कमर झुकनेसे पहले (मूलमें कमरके स्थान पर पीठ है) दूसरों पर भार होनेसे पहले, घुटनों पर हाथ टेक कर लकड़ीके सहारे उठनेसे पहले, बुढ़ापेसे शरीरकाँति मिटनेसे पहले, मृत्युका स्पर्श होनेसे पहले कूडल संगम देवका नाम लो ।

यह बुढ़ापेका कितना सुंदर चित्रण है ! ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। वचनकारोंने अधिकतर उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकका प्रयोग किया हैं। इसी प्रकार उनके व्यंग भी कम चुभने वाले नहीं हैं। वर्ण-भेद और जाति-भेदके पक्ष-पातियोंसे वह स्पष्ट सवाल पूछते हैं "ब्राह्मणकी आत्मापर जनेऊ था ? स्त्रियोंकी आत्माके स्तन होते हैं ? चांडालकी आत्माके हाथमें झाड़ थी ?" केवल राम-नाम लेनेसे सबकुछ हो जाएगा, ऐसा कहने वालोंकी हंसी उड़ाते हुए व्यंग्य करते है, 'मिष्टान्नके स्मरणसे पेट भरेगा ? धनके स्मरणसे दारिद्रय मिटेगा ? रंभाके स्मरणसे कामवासना मिटेगी ?' आदि। वचन-साहित्यमें पाए जानेवाले शब्द तथा अर्थालंकार, वचनोंमें पाया जानेवाला रचना-कौशल, उनके दृष्टांतोंमें पाई जानेवाली कल्पनाका गगन-विहार तथा अमूर्त भावोंको स्पष्ट रूपसे व्यक्त कर बताने वाली अभिव्यंजना-शक्ति, अदृश्य सत्यको दृश्य जगतमें लाकर प्रकाशित करनेवाली अभूतपूर्व प्रतिभा किसी भी श्रेष्ठ प्रकारके काव्यसे कम नहीं है। यह एक प्रकारका उत्तम गद्य-काव्य है।

किसी भाषाके साहित्यकी, किसी भी शैलीकी कुछ मर्यादाएं होती हैं, कुछ सीमाएं होती हैं, कुछ गुण-दोष होते हैं। उनका थोड़ा-सा विवेचन करके इस अध्यायको समाप्त करें। साहित्यकी प्रत्येक शैलीका कुछ निश्चित उद्देश्य होता है और उपयोग भी। लेखक अपने उद्देश्यके अनुसार अपनी शैली चुनता है। साहित्यका कोई एक रूप सभी उद्देश्योंमें सफल नहीं होता। वचन-शैली भी इसका अपवाद नहीं है। मनमें उठनेवाली भावोर्मियोंको, कल्पना-तरंगोंको, विचारोंकी उमंगों तथा मनकी संवेदनाओंको, हृदयकी वेदना-यातनाओंकी कसकको, थोड़से शब्द-सुमनोंमें गूंथकर व्यक्त करनेके लिए यह शैली उत्तम है। कथोपकथनमें सर्वोत्तम है। भावोंकी अभिव्यंजनाके लिए सर्वोत्कृष्ट है। इस शैलीकी साधनामें दीर्घ प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती। अपने हृदयकी किसी गहरी अनुभूतिको वचनका रूप देकर धनुषसे छूटनेवाले बाणकी भाँति प्रयोग किया जा सकता है। इन गुणों के कारण मनमें उठनेवाली किसी प्रबल तरंग को सूत्रात्मक रूपसे लिखनेमें, कथोपकथनमें, अपने ध्येय-वाक्यको अथवा स्मर-णीय विषयको लिख रखनेमें वचन-शैली अत्युत्तम कही जा सकती है। यह शैली अत्यंत सरल है। किंतु इस शैलीमें प्रभावशाली ढंगसे लिखना, अथवा बोलना सबके लिए संभव नहीं होगा। वचनकारमें बिंदुमें सिंधु भरनेकी क्षमता होनी चाहिए। जिस वचनमें स्फूर्ति नहीं, प्रेरणा नहीं, भावनाका आवेग अथवा उन्माद नहीं, गहरी अनुभूतिकी तीव्रता नहीं, विचारों का गांभीर्य नहीं, कल्पनाओंका गगन-विहार नहीं, अंतःकरणकी संवेदना नहीं, वह वचन नहीं ! यह सब वचन के गुणधर्म हैं, स्वभाव-धर्म हैं, वैसेही जैसे जलना आगका गुणधर्म है, बहना पानीका

गुणधर्म है, शीतलता चंद्रमाका गुणधर्म है। इन सब गुणोंके अभावमें आग, पानी तथा चंद्रमाकी कल्पना भी असंभव है वैसे ही उपरोक्त गुणोंके अभावमें वचन-शैलीकी कल्पना भी असंभव है।

कन्नड़ वचन-साहित्यमें ये सब गुण उत्कटतासे पाए जाते हैं। जैसे कमलिनीके मकरंदसे उन्मत्त भ्रमर मृदु-मधुर गुंजरव करते है, आर्द्र वनमें बैठकर कूकने वाली वसंतकी कोयल अपना कोमल पंचम आलापती है वैसे ही अपने अमृतानुभवका वर्णन करते समय वचनकार अपने इकलौते लाडले शिशु से तुतलाकर बोलनेवाली मांकी भाँति मधुसे भी मधुर और कमलसे भी कोमल पदावलीका चयन करते हैं और समाजकी विकृतियोंका खंडन करते समय, धर्म-ध्वजोंके ढोंगके कपट जालको फाड़कर फेंकते समय, सामाजिक मूर्ख-मान्यताओंके विरुद्ध विद्रोह करते समय, क्रोधसे पागल सिंहकी भाति दहाड़ते है; तथा भक्तिके मधुर भावोंका दिग्दर्शन कराते समय, अंग और लिंग, अथवा जीव और शिवके मधुर मिलनकी महिमा गाते समय अपने प्रियतमके गुण, रूप, और रंगका बखान करते समय, विरह-विकलतासे द्रवित चिर-विरहिणी की भांति उनकी वाणी गद्‌गद हो जाती है। प्रत्येक वचन मानों उनकी गहरी और तीव्र अनुभूतिका दर्पण है। इस वचन-शैलीने कन्नड़ भाषाकी अभिव्यंजना शक्तिको अपरिमित बल दिया है। उसकी अपार वृद्धि की है। आज एक सहस्र वर्षके बाद भी ये वचन आजके साहित्यको केवल स्फूर्ति और प्रेरणा ही नहीं देते, ऊंचे दीप-स्तंभकी भांति मार्ग-दर्शन भी करते हैं। यह इस वचन-साहित्य और शैलीकी सफलताका मापदंड है।

वचनकारोंका सामूहिक व्यक्तित्व और जीवन-परिचय

वचन-साहित्यका विहगावलोकन करनेके बाद उसके रचयिताओंके बारेमें कुछ जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। किंतु वचन-साहित्य किसी एक साहित्यिककी कृति नहीं है। वह वचनकारोंकी सामूहिक साधनाका परिणाम है। इसलिए किसी भी वचनकारके व्यक्तिगत जीवनका विचार करनेके पहले उनके सामूहिक व्यक्तित्वका विचार करना आवश्यक हो जाता है।

वचनकारोंकी दृष्टिसे 'वचन अमृतवाणी है।' वचनकारोंने अपने अनुयायियों से स्पष्ट कहा है कि शुद्ध आचार-विचार जाननेके लिए अथवा अपनी भूलको जानकर उसको सुधारनेके लिए वचनोंको देखना चाहिए। शरणोंके वचन मोक्षके आगर हैं। ज्ञानके सागर हैं। दिव्यत्वके भंडार हैं। माया-मोहके लिए मौत हैं। उनकी दृष्टिसेव ही वचनकार हैं जिनके वचन मोक्षके लिए साधन-रूप हैं। सुदीर्घ साधना और गुरू-कृपासे जिन शरणोंके हृदयमें ऐसे वचन उदित हुए हैं, जिनके वचनोंमें साक्षात्कारका अनुभव मूर्तिमान हुआ है वही वचनकार हैं। इन वचनकारोंको कभी-कभी शिवयोगी, ज्ञानी, भक्त, शरण आदि कहा गया है। हम उनको सन्त कहते है। 'सर्वे सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः' के महान साधक। इन सब नामोंसे शरण ही उनका उचित और अन्वर्थक नाम लगता है, क्योंकि उन्होंने अपना सर्वस्व भगवानके चरणोंमें समर्पित किया था। वे भगवानकी शरण गये थे, और उनको यही नाम सबसे अधिक अच्छा लगता था। वे अपने आपको 'शिव शरणरू' कहलाते थे।

ये शिवशरण साहित्यकार नहीं थे, किंतु अपना सर्वस्व भगवानके चरणमें समर्पण किये हुए साधक थे, सिद्ध थे। उन्होंने तमिलके 'आल्वार' और 'अरिवर'[1] की तरह कर्नाटकके धार्मिक जीवनमें क्रांति की है। इसलिए वे क्रांति-दूत थे। कन्नड़-भाषा-भाषी सामान्य जनतामें आध्यात्मिक ज्ञानको पहुंचाकर उसे आध्यात्मिक-पथ प्रदर्शित करनेवाले पथ-प्रदर्शक थे।

उन्होंने जाति-पांतिके भेदको मिटाया। मोक्ष-शास्त्रको सर्वसुलभ बनाया। अतिप्राचीन कालमें श्री महावीर और भगवान बुद्धने धर्मतत्वोंको गूढ़ताके आवरणसे मुक्त किया। भारतके साधारणसे साधारण मनुष्य भी समझ सके, ऐसी लोक-भाषामें उन तत्वोंका प्रचार किया। इससे समाजमें बड़ी उथल-पुथल मची। सामान्य जनता भी धर्मोन्मुख बनी। मोक्ष-साधना सामूहिक बनी। प्रकट चिंतन और सामूहिक प्रयोगसे आध्यात्मिक साधनाकी गूढ़ता जाती रही और

१. नायनमार।

समाजमें अंधश्रद्धाके स्थान पर दक्षतापूर्ण विवेक-शक्तिका विकास हुआ। वचन-कारोंने भी इसका अनुकरण किया। इससे कर्नाटकमें भी बड़ी उथल-पुथल मची। आगे चलकर महाराष्ट्रके संतोंने और भारतके अन्य प्रदेशोंके संतोंने भी यही किया। इतना ही नहीं, १६वीं शताब्दीमें यूरोपमें भी मार्टिन लूथरने इसी-का अनुकरण किया। वचनकारोंने केवल धर्म-तत्वोंका निरूपण ही नहीं किया, उसका आचरण करके भी दिखाया और सर्वसुलभ सगुण-भक्तिको अपने संप्रदायका साधन बना कर धार्मिक क्षेत्रमें जनतंत्रकी स्थापना की।

वचनकारोंके जीवनका उद्देश्य सत्यका साक्षात्कार रहा है। वचन-साहित्य-का मूल्यांकन करते समय, उनके सामूहिक व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत जीवनका विचार करते समय क्षण भर भी आलोचक यह भूल नहीं सकता कि 'वे न साहित्यिक थे न कलाकार।' वे तो साक्षात्कारके साधक थे। उन सबका ध्येय एक था। किंतु साधना पद्धति एक नहीं थी। उनके साधना-मार्ग भिन्न-भिन्न थे। यह साधना-भिन्नता उनके आपसी सहयोग और संगठनमें बाधक नहीं हुई। क्योंकि उनमें जो ध्येयात्मक एकता थी वह अत्यंत प्रबल थी। जैसे एक धागा भिन्न-भिन्न रंग-रूप अथवा आकार-प्रकारके फूलोंको गूथकर मालाका आकार देता है, वैसे ही उनके साध्यकी एकता साधना-भिन्नताको एकताके सूत्र-में पिरोये रखनेमें समर्थ हुई। वह साध्यको ही प्रधान मानते थे, और साधना-को गौण। वचनकारोंकी दृष्टिसे सत्यका साक्षात्कार ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य है। वही स्थिर लक्ष्य है। वही सच्चा प्राप्तव्य है। उनकी दृष्टिसे साक्षात्कारको ही जीवनका एकमात्र प्राप्तव्य न मानते हुए की जानेवाली साधना वैसी ही व्यर्थ है जैसे बिना सरका धड़, बिना शौर्यका सैनिक, और बिना जलका सरोवर होता है। उनका लक्ष्य अच्छे धनुर्धारीके लक्ष्यकी तरह स्पष्ट था। उनकी ध्येय-मूर्ति सदा-सर्वदा उनकी दृष्टिके सामने रहती थी। उस लक्ष्यको पानेके लिए वे उतावले थे। उसकी प्राप्तिमें होनेवाला विलंब उनको विह्वल बना देता। इसलिए उनकी साधना-भिन्नता उनके सहयोग और संघटन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। उनका संघटन स्थिर और शक्तिशाली रहा। एक ही एक स्पष्ट ध्येयसे प्रेरित अथवा एक ही मंत्रसे अभि-मंत्रित इन साधकोंने अपनी-अपनी योग्यतानुसार अलग-अलग प्रकारके साधना-मार्ग अपनाये। उन्होंने अपने स्वभाव-धर्मके अनुसार, भक्ति, ज्ञान, ध्यान, कर्म आदिका आसरा लिया। किंतु सर्व-समर्पणको वैसे ही अपनी साधनाकी नींव मान लिया जैसे साक्षात्कारको अपनी साधनाका साध्य। उन साधकोंमें कोई भक्त था, कोई ज्ञानी था, कोई योगी था। स्वयं श्री बसवेश्वर भक्त थे। चन्न बसव ज्ञानी कहलाते थे, और 'अखंडेश्वर' नामकी मुद्रिका से वचन कहलाने

वाले षण्मुख स्वामीने योग-शास्त्रका अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। वैसे ही आयदक्कि मारय्य कर्मका मर्म समझाते हुए फिरता था। इसका अर्थ कोई यह न करे कि वचनकार वैरागी थे, संन्यासी थे। साक्षात्कार और आध्यात्मिक साधनाका प्रचार करते हुए घूमते थे। वे प्रचार-वीर नहीं थे। वे सब संसारी थे। अपने-अपने पेटके उद्योगमें लगे हुए थे। सद्गृहस्थ थे। उन्होंने अपने नामके आगे अपने उद्योगका नाम जोड़ा है। जैसे अंबिगर चौडय्य,[1] हडपद्प्पण्ण,[2] मोलिगये मारय्य[3] आदि। श्री बसवेश्वर स्वयं किरानी थे। बादको मंत्री बने और अंतिम समय तक अपना कर्तव्य-कर्म करते रहे। सकलेश मादरस राजा थे। उन्होंने अपने जीवनमें इह-पर, श्रेय और प्रेय, भुक्ति-मुक्ति इन दोनोंका समन्वय साधकर दिखाया है। इन वचनकारोंके लिए कोई खास उद्योग-व्यवसाय होना चाहिए, ऐसा कोई बंधन नहीं था। यदि कोई बंधन था तो यही था कि जो भी उद्योग-व्यवसाय वे करें वह प्रामाणिकताके साथ करें। उसमे बेईमानी न हो। धोखादेही न हो। अनीति न हो। उनकी दृष्टिसे समाज के हितकी भावनासे किया जानेवाला प्रत्येक व्यवसाय पवित्र है। किसी उद्योग-व्यवसायके कारण मानी जानेवाली श्रेष्ठता-नीचता भ्रामक है। वह कृत्रिम है। कोई भी व्यवसाय उनके आत्मविकासके मार्गमें बंधनकारक नहीं हुआ। किसी भी व्यवसायने उनकी मोक्षकी साधनामे रुकावट पैदा नहीं की। क्योंकि वे मानते थे यह सब भगवानकी पूजा ही है। अपना-अपना व्यवसाय करते हुए जो कुछ मिलता था वह सब भगवानके चरणोंमें अर्पण करते थे। इसे लिंगार्पण कहते थे। और जो कुछ अपने लिए लेते थे 'प्रसाद-ग्रहण' कह कर लेते थे। जो कोई भी अपने घर पर आता था 'वही ईश्वरका रूप' मान कर उसका आदर-सत्कार करते। यह सब उनके आचार-धर्मका अंग था। उनकी नीतिमत्ता अत्यंत उच्च प्रकृतिकी थी। चरित्र संशयातीत था। करनी और कथनीमें मेल ही नहीं था, वे दोनों एकरूप थे। वे कहते थे जैसे अनुभव किया वैसा कहना शील है, जैसा कहा वैसा चलना शील है। वे कट्टर अहिंसावादी थे। पूर्णतः निरामिषभोजी थे। देवी-देवताओंके नामपर किये जानेवाले बलिदानके भी विरोधी थे। उनका जीवन अंतर-बाहर शुद्ध था। उनका तत्वज्ञान स्पष्ट और तेजस्वी था। आचार-विचार निर्मल थे। उनके कार्य सेवामय थे। जीवन-पद्धति सर्वेषाम् अविरोधी थी। इसलिए उनके वचनोंमें सामर्थ्य थी। बल था। शक्ति थी। इसीके बल-बूते पर वे सदियों तक लाखों लोगोंके कंठके भूषण बनकर करोड़ों लोगोंके जीवनका पथआलोकित करते रह सकने में समर्थ रहे।

---

१. नाव खेनेवाला चौडय्या, २. नाई अप्पण्ण, ३. लकड़ी बेचनेवाला मारैय।

वचनकारोंके शुद्ध, उदार और मुक्त धार्मिक आचार-विचारके कारण कर्नाटकके अनेक मत, संप्रदाय, तथा पंथोंने ऊँच-नीचके भावको त्याग कर उनका अनुकरण किया। वचनकारोंने भी अपने संप्रदायमें आये हुए लोगोंको बिना किसी भेद-भावके धर्म-बंधु माना। उनके साथ समानताका व्यवहार किया। पुरुषोंकी तरह देवियोंका भी समादर किया। देवियाँ भी वचनकार बनीं। वहाँ धर्मके नामपर किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं था। स्त्री-पुरुष-भेद भी नहीं था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि स्त्री और पुरुषों में कोई भेद है ही नहीं। जैसे शरीरमें भिन्नता है वैसे स्वभाव-धर्ममें भी भिन्नता हो सकती है। किंतु इसी कारण धार्मिक जीवनमें उन्हें हीन मानना उचित नही कहा जा सकता। स्त्री जातिने व्यक्तिशः और सामूहिक रुपसे अपने कुटुब तथा संतान के लिए जो कुछ त्याग और बलिदान किया है उसे देखते हुए उनका पावित्र्य, उनका त्याग, उनकी निष्ठा, भक्ति, सहनशीलता आदिको मुक्त कठसे स्वीकार करना होगा। ऐसे श्रेष्ठ और गौरव पूर्ण गुणोंके आगर स्त्री समुदायको मोक्षके लिए 'अनधिकृत' कहना वचनकारोंने उचित नहीं समझा। वचनकारोंने उन्हें भी सादर सप्रेम दीक्षा दी। उनको अपने विकासके लिए अनुकूल वातावरण प्रदान किया। आवश्यक पथ-प्रदर्शन किया। और उन देवियोंने भी, अन्य वचनकारोंकी तरह साक्षात्कार करके अपने अभूतपूर्व अनुभवोंको शब्दोंमें गूथ कर अमर कर दिया। ऐसी देवियोंकी संख्या भी कम नही है। उनमें उड़तडी-की 'अक्क महादेवी', मुक्तायक्क आदि कुछ नाम श्री बसवेश्वर अल्लम प्रभुके साथ लिए जाते है। इतना उनका महत्व है। धर्मवीरोंको शोभनेवाले महादेवी के दिव्य चरित्रके कारण उनके वचन अत्यन्त तेजस्वी बन पड़े हैं। स्त्री-सुलभ भक्ति-रसको व्यक्त करनेमें उनके वचन अन्य वचनकारोंके वचनोंसे अधिक सरस बन गये है।

अनुभवपूर्ण वचन कहनेवाले इन वचनकारोंके सामूहिक व्यक्तित्वका विचार करते समय उनकी परंपराका भी विचार करना आवश्यक है। किंतु अब तक यह अनुसंधानका ही विषय रहा है। कन्नड़में, वीरशैवोंका धर्म, उनका संप्रदाय, उनका तत्व-ज्ञान, उनकी परंपरा आदिके विषयमें इतना प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य भरा पड़ा है कि उसकी खोज होना अत्यावश्यक है। जैसे-जैसे वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोणसे उसका अनुसंधान होता जाता है, नये-नये तथ्य सामने आते हैं। कभी यह मान्यता थी कि श्री बसवेश्वर ही आद्यवचनकार हैं। वही वीरशैव संप्रदायके संस्थापक हैं। किंतु आज वह मान्यता नहीं रही। आजके विद्वान मानते हैं कि इसके पहले भी वचनकार हो चुके होंगे। ऐसा माननेके लिए प्रबल कारण भी हैं। श्री बसवेश्वरके

समय (शा० श० १०७२) वचन शैलीमें जो अभिव्यंजना शक्ति, जो साहित्यिक सौष्ठव, जो प्रवाह और जो तीव्रता पाई जाती है वह पांच-दस वर्षोंकी साधनाका परिणाम नहीं हो सकता। इसके पहले कमसे कम एक-दो शतक इस शैलीकी साधना हुई होगी। तभी इस शैलीमें श्री बसवेश्वरके कालमें पाई जानेवाली साहित्यिक सुघड़ता, सुन्दरता, सरसता, और सौष्ठव आदिका विकास हुआ होगा। दूसरी दृष्टिसे भी, श्री बसवेश्वरके कालमें कर्नाटकमें जो धर्म-जागृति पाई जाती है वह भी दस-पंद्रह वर्षोंकी साधनाका परिणाम नहीं हो सकती। उसका पूर्वेतिहास कुछ अवश्य होगा। श्री बसवेश्वर युगमें उसका रूप अपने अत्युच्च शिखरको पहुँच चुका था। इतना ही नहीं श्री बसवेश्वरके कालमें कुछ वचनकार ऐसे थे जो आयुमें उनसे अधिक थे। श्री सकलेश मादरस श्री बसवेश्वरसे कमसे कम ५०-६० साल बडे थे, ऐसा विद्वानोंका मत है। वह कल्लुकुरीके राजा थे। उनके विषयमें जो कुछ जानकारी मिलती है उससे लगता है कि 'जब वह राज्य करते थे तब भी वैराग्य-संपन्न साधुकी तरह रहते थे।' अपने अंतिम दिनोंमें वह विरक्त हुए। पूर्व-परंपराके अनुसार अपना राज्य पुत्रको सौंप कर कल्याणमें आकर रहने लगे। कल्याण आनेके पूर्व उनको शरण मार्गका पूर्ण ज्ञान था इसका भी आधार मिलता है। साथ-साथ कल्याणमें आनेके पूर्व वह अपने पितासे भी मिले थे जो शरण मार्गसे साधना करते हुए श्री शैलमें थे। पिताने ही उनको कल्याण जानेको कहा था। आज भी सकलेश मादरसके वचन मिलते हैं, किंतु उन वचनोंके विषयमें निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे उनके कल्याण आनेके बाद लिखे गये थे अथवा उसके पहले ! यह समझनेका कोई साधन अब तक उपलब्ध नही है।

इसी प्रकार श्री देवरदासिमय्या नामके वचनकार श्री बसवेश्वरसे पूर्व-कालीन हैं। उनका काल विद्वानोंने शा० श० ९३०-९८२ सिद्ध किया है। कन्नड भाषाके प्राचीन कवियोंके जीवनवृत्तकी जानकारी देनेवाला 'कविचरित-कार' भी यही कहता है। अर्थात् देवरदासिमय्या, बसवेश्वरसे बहुत पहले हो चुके हैं। और उनके वचन भी आज प्राप्त है। वह पर्याप्त सुघड, गंभीर भावसे भरे, प्रौढ़, गहरी अभिव्यजना-शक्तिसे ओत-प्रोत हैं। इतना ही नहीं, वह कहते हैं, 'एक-दो क्षण मुझे गूंजने वाले शिवशरणोंके वचन सुनाए जायं तो मैं भगवानको भी त्याग दूंगा।' इस वचनसे हम जान सकते हैं कि श्री बसवेश्वर से भी पहले शिव शरणोंके वचनोंकी ओर किस आदरसे देखा जाता था। देवर-दासिमय्या जिन 'गूंजनेवाले वचनोंको सुननेके लिये भगवानको भी छोड़ सकते हैं' वे उनके अपने वचन नहीं रहे होंगे ! वे उनसे पूर्वकालीन शिव शरणोंके ही होंगे ! उसी प्रकार श्री बसवेश्वर, अल्लम प्रभु आदि ने भी 'आद्यर वचन'

'पुरातनर वचन' कह कर जिन ग्राद्योंकी वंदना की है, जिन वचनोंका महत्व गाया है वह भी इसी तथ्यकी ग्रोर संकेत करता है। यह सब बातें वचनकारोंकी परंपराको श्री बसवेश्वरके कालसे एक दो शतक पीछे ले जानेमें पर्याप्त हैं। इसके ग्रलावा एक बात ग्रौर है। वीरशैव ग्रपने किसी शुभ-कार्यके ग्रारंभमें 'त्रिषष्ठि पुरातनरु' कहकर ६३ पुरातन ग्राद्य वचनकारोंकी पूजा करते हैं। उनके गीत गाते हैं। उनके नामपर ६३ पुराण भी लिखे गये हैं। किंतु ग्राधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे इस विषयमे कोई ऐतिहासिक ग्राधार नहीं मिलता। तो, केवल हमारे एक विशिष्ट दृष्टिकोणसे देखने पर जिसके लिए कोई ग्राधार नहीं मिलता, वह सब ग्रसत्य है, ग्रथवा तथ्यहीन है कहना कहां तक उचित होगा? इस मत-भेदके प्रश्नको छोड़ भी दिया जाय तो भी ग्राजके ग्राधुनिक दृष्टिकोणसे जो प्रमाण मिले है वही वचनकारोंकी इस परंपराको श्री बसवेश्वरसे एक दो शतक पीछे ले जानेमे पर्याप्त है।

ग्रस्तु, इस विषयमें जब तक प्राप्त ऐतिहासिक सामग्रीकी पूरी छान-बीन नहीं होती ग्रौर उसमेंसे स्पष्ट सिद्धांत नहीं निकाला जाता, तब तक तर्कसंगत कल्पनाके ग्रलावा ग्रौर कोई चारा नहीं है। श्री बसवेश्वरके कालमें जो धर्म-जागृति पाई जाती है वह ग्रपने पूर्ण विकसित रूपमें थी। श्री बसवेश्वरके कालमें वचन-साहित्यकी जो प्रगल्भता पाई जाती है वह भाषा, भावना, साहित्यिक सौष्ठव ग्रादि सभी दृष्टियोंसे ग्रत्यंत पुष्ट ग्रौर प्रौढ़ है, मानो फलनेके लिए महुला करके फूला हुग्रा विशाल वृक्ष हो। बसवेश्वर ग्रौर उनके साथियोंके कार्य उस वृक्षके सरस, मधुर फल ही थे। करीब सौ-दोसौ वर्षोंसे धीरे-धीरे प्रवाहित इस धाराने श्री बसवेश्वरके कालमे उमड़-उमड़ कर ग्रपने किनारोंको तोडकर समग्र कन्नड़-भाषा-प्रदेशको प्लावित कर डाला। कन्नड़-भाषा-प्रदेशके धार्मिक जीवनको नित-नये भावोंसे हरा-भरा बना दिया। तभी ग्रनुभव--मंटप नामसे एक संस्थाका सूत्रपात हुग्रा। ग्रनुभव-मंटपकी यह ग्रभूतपूर्व संघटना कन्नड़-सरस्वतीका साहित्य मंदिर, कन्नड़-जन-जीवनकी प्रचंड धर्म-जागृति ग्रौर ग्रानेवाले नवयुगके लिए कलशप्राय: बनी।

ग्रनुभव-मंटप उस युगकी धार्मिक ग्रौर सांस्कृतिक संस्था थी। स्वयं वचनकारोंने ही ग्रपनी इस संस्थाका यह नामकरण किया था। 'संगन बसवेश्वर' नामकी मुद्रिकावाले एक वचनकारने लिखा है "श्री बसवेश्वर ग्रादि बुजुर्गोंके 'निज ग्राचरणकी स्थितिका रहस्य हमसे कहो' ऐसी प्रार्थना करनेके बाद श्री ग्रल्लम प्रभु शून्य सिंहासन पर विराजमान हुए।" शैव संत इस ग्रनुभव-मंटपको 'शिवमंटप' भी कहते थे। शिव ही सर्वोत्तम है, शिव ही परम दैवत है, ऐसी उनकी मान्यता है। इसलिए उन्होंने कभी-कभी ग्रनुभवको शिवानुभव, तथा

अनुभव-मंटपको शिव-मंटप भी कहा है। अनुभवका अर्थ है साक्षात्कारका अनु-अनुभव। उस अनुभवको वचनकार अत्यंत महत्व देते थे। तभी उन्होंने अपनी संस्थाको भी अनुभव-मंटप यह नाम दिया। उनकी यह मान्यता थी, 'अपनेमें स्थित अनुभवसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं!' अपने अनुभवके विषयमें जिनकी इतनी निष्ठा है वे भला अपनी संस्थाको इसके अलावा दूसरा कौनसा नाम देते ?

यह अनुभव-मंटप कल्याणमें था। कल्याण कलबुर्गासे ६० मील पर स्थित है। वह पहले द्वितीय चालुक्य वंशकी राजधानी थी। बादमें उसे बिज्जलने अपनी राजधानी बनाया। बिज्जलने शा० श० १०७९ तक राज्य किया। वह जैन था। किंतु बसवेश्वरको बहुत मानता था। बसवेश्वर पहले उसके राज्यमें किरानी थे। बादमें अपनी योग्यतासे मंत्री बने। वह बड़े भक्त थे। सत्य-धर्म का प्रचार करनेकी उनमें तीव्र उत्कंठा थी। 'यही मेरे जीवनका उद्देश्य है' ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। इसलिए उन्होंने अनेकानेक शरणोंको अपने घरमें आश्रय दिया। यदि उसी युगमें लिखी पुस्तकों पर हम विश्वास करें तो 'शून्य संपादने' नामक ग्रंथके ३२०वें पृष्ठ पर लिखा है, "करीब एक लाख बानवे हजार जंगम (शैव संन्यासी) उनके आश्रयमें थे।" यह संख्या कहाँ तक ठीक है, इस पर संशयके लिए स्थान होने पर भी इसमें शक नहीं कि बहुत-से शैव संन्यासी इनके आश्रयमें थे। इस अनुभव-मंटप अथवा श्री बसवेश्वरके घरके विषयमें इसी पोथीके ६०वें वचनमें कहा है, "कल्याणमें श्री बसवेश्वरका घर होनेसे मृत्युलोकमें भक्तिका साम्राज्य हो गया।" उसी पुस्तकका ८५वां वचन कहता है, "वह (बसवेश्वर) प्रथम-नायक था और अनेक भक्तोंके अंतरंगका साथी था।" इसी पोथीका ३१६वां वचन कहता है, 'अनुभव मंटपके शून्य सिंहासन पर चढ़नेके लिए श्री अल्लम प्रभु बसवेश्वरके घर पर गये।" इस वचनसे यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है कि अनुभव मंडप श्री बसवेश्वरके घरमें ही था। अल्लम प्रभु अनुभव-मंटपके अध्यक्ष थे। उन्हींकी अध्यक्षतामें आध्यात्मिक साधना, सिद्धि, साक्षात्कार, आदि विषयोंमें ज्ञान-चर्चा होती थी। अल्लम प्रभु अपने शून्य सिंहासन पर बैठकर अन्य वचनकारोंसे, अनुभावियोंसे प्रश्न पर प्रश्न पूछकर उनके अनुभवोंकी गहराई देखते थे। अनुभव-मंटपका यह शून्य सिंहासन किसी मठके महंतकी गद्दी नहीं थी। किंतु यह अंगगुण, अर्थात् शरीर गुणोंको त्यागकर लिंगगुण अर्थात् आत्मगुणोंमें स्थित होनेकी विशिष्ट स्थिति थी। उसको हम सिद्धावस्था कह सकते हैं। अल्लम प्रभु अपनी सिद्धावस्थामें लीन होकर शून्य बनकर रहते थे। यही वचनकारोंका 'शून्य पद' है। अल्लम प्रभु सदैव लिंगमें समरस होकर रहते थे। शून्य होकर रहते थे। महात्मा कबीरके शब्दोंमें कहना हो तो 'सहज समाधिमें लीन रहते थे।'

अल्लम महाप्रभुके शब्दोंमें ही कहना हो तो "वह सिंहासन बिना अंतरंग-बहिरंगका, बिना अंतरावलम्बनका, बाहर न देख सकनेवाली पुष्प-शय्या पर रंग-रूप-रहित मूर्तिमान शून्य-सा विश्व-विचित्र था !" इससे भी स्पष्ट शब्दोंमें बसवेश्वरने कहा है, "परमात्माकी प्रतीक्षामें निर्निमेष देखते समय वे आकर मेरे हृदय-सिंहासन पर बैठ गये !" अनुभव-मंटपका शून्य सिंहासन महंतोंकी गद्दीकी तरह कोई भौतिक मठकी गद्दी नहीं थी। यह कहनेके लिए ऊपर दिये प्रमाण पर्याप्त हैं !

अल्लम प्रभुकी अध्यक्षतामें चलनेवाली इन ज्ञानगोष्ठियोंमें अनुभवके अलावा अन्य बातोंके लिए यत्-किंचित् भी स्थान नहीं था। अल्लम प्रभुका स्पष्ट निर्देश था "अनुभावसे अनभिज्ञ लोगोंसे" तथा "जहां-तहां अनुभावकी बातें नहीं करनी चाहिए।" इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुभव-मंटपकी ज्ञान-चर्चा आजके काफ़ी-हाउसकी चर्चाकी तरह नहीं थी। महादेवी अक्का उडुतडीकी रानी थीं। सिद्धावस्थामें वह अनुभव-मंडपमें आईं। जिस समय वह अनुभव-मंटपमें आईं उनकी स्थिति अद्भुत थी। उनके शरीर भाव नष्ट हो चुके थे। वह दिगंबरा थी। दैवी उन्मादमें उन्मत्त थीं। ऐसे समय भी अल्लम प्रभुने जो प्रश्न पूछे उन्हें देखनेसे लगता है अल्लम प्रभुके सामने अनुभावकी चर्चा करना लोहेके चने चबानेसे कम नहीं था। अल्लम प्रभु, बसवेश्वर आदि अनुभावी अपने प्रश्नोंसे आगंतुक साधकोंका अंतःकरण छील-छीलकर देखते थे। अनुभव-मंटपमें स्थान पाना, आजकल जगह-जगह पर पाए जानेवाले आधुनिक साधुओंके मठों और आश्रमोंमें स्थान पाने जैसा सुलभ नहीं था। महादेवी अक्का वहां कहती हैं, "आशा, तृष्णा, आदिका त्याग करनेसे पहले अंतर-बाह्य शुद्ध होने से पहले, मैं कौन हूं यह जाननेसे पहले, यहां पर पैर नहीं रखना चाहिए—यह मैं जानती हूँ !" इस वचनसे पता चलता है कि अनुभव-मंटप कैसा था। वह तो आत्मानुभूतिका दिव्य-केंद्र था। वहां जीवनके प्रत्येक पहलूको अधिकसे अधिक शुद्ध, उज्ज्वल तथा लोकोपयोगी बनाते हुए उसका दिव्यीकरण कैसे किया जाय, उस विषय पर चर्चा होती थी। अनुभव, आचार-विचार, धर्म-नीति, चाल-चलन आदि जीवनके प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालनेवाले वचन आज उपलब्ध हैं। वह जीवनको समग्र मानकर उसका विचार करते थे। अनुभव-मंटपमें ऐसे कितने लोग थे, इसके बारेमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। किंतु यह अवश्य कह सकते हैं कि वहां जाति, गोत्र, लिंग, वय, उद्योग, व्यवसाय आदिका कोई बंधन नहीं था। वहां राजा थे। रंक थे। पंडित थे। पामर थे। स्त्रियां थीं। पुरुष थे। संन्यासी थे। संसारी भी थे। उनमें केवल कर्नाटकके ही लोग नहीं थे, दूसरे प्रदेशोंके भी थे। भिन्न-

भिन्न भाषा बोलनेवाले साधक वहां थे । मोलिगये[1] मारय्या इस नामसे प्रसिद्ध साधक काश्मीरका राजा था । वह अपना देश, कोश, वास, भंडार आदि का सुख त्याग कर आया था, इसका आधार मिलता है । वैसे ही सकलेश मादरस कल्कुरीका राजा था । आदय्या गुजरात-सौराष्ट्रका व्यापारी था । इसके साथ ही साथ अनुभव-मंटपकी ज्ञान-चर्चामें जो नाम आते हैं उनके नामोंका ही विचार करनेसे पता चलेगा कि वहां कैसे लोग आते थे । वहां जो आते थे उनमें मोलिगये मारय्या, सकलेश मादरस, बसवेश्वर, अक्क महादेवी जैसे राजा, महाराजा, रानी, प्रधान आदि तो थे ही, उनके साथ-साथ बेडर दासिमय्या[2], मडिवाल माचय्या[3], मेदार केतकय्या[4], हडपद्दप्पण[5], अंबिगर चौडय्या[6], ढक्केय बोम्मण्ण[7], सुंकद बंक्कण[8], ओक्कलु मुच्चय[9], मादर चन्नैय[10], डोहर कक्कैय[11], गाणद कण्णप्प[12] सूजिकायकद रामी नंदे, वैश्य संगण्ण, आदि सब अनुभव-मंटपकी ज्ञान-चर्चामें पाए जाते हैं । अनुभव-मंटपमें जाति-पांतिका भेद-भाव नहीं था, यह कहनेके लिए ये सब नाम ही पर्याप्त हैं ।

अनुभव-मंटपमें लौकिक और भौतिक दृष्टिकोणसे किसी प्रकारकी ऊँच-नीचकी गंध भी नही थी । बसवेश्वरने कहा है "सब एक ही ईश्वरकी संतान होनेसे सबमें बन्धुता स्वाभाविक है ।" इसी स्वाभाविक बंधुत्वके बंधनमें वे सब आबद्ध थे । इसी स्वाभाविक बंधुत्वके आधार पर वह सबके लिए समानरूप सर्वान्तर्यामीके विषयमें चर्चा करते । उसकी खोज करते । उसकी पूजा करते । उसके साक्षात्कारका प्रयास करते । वचनकारोंका सबसे सुसंघटित सुदृढ़ संघ अगर कहीं देखा जा सकता है तो वह अनुभव-मंटपमें ही देखा जा सकता है । यदि संतोंकी सामूहिक साधनाका इतना सुन्दर रूप कहीं देखा जा सकता है तो वह भी अनुभव-मंटपमें ही देखा जा सकता है । एक ही एक लक्ष्य रख कर, भिन्न-भिन्न प्रकारकी साधना करनेवाले, भिन्न भिन्न जाति तथा भिन्न-भिन्न योग्यताके लोगोंमें होनेवाली इस ज्ञान-चर्चासे वचन-साहित्यमें जो एक प्रकारकी अपूर्वता आई है वह अन्य किसी साहित्यमें नहीं पाई जाती । साथ-साथ अनेक लोगोंकी ओरसे अलग-अलग स्थान, काल और प्रसंगोंमें कहे गये जो

---

१. लकडी बेचनेवाला; २. शिकारी दासिमय्या; ३. धोबी माचय्या; ४. टोकरी बुननेवाला केतकय्या=मेदार जाति अंत्यजोंकी है; ५. नाई अप्पण्ण; ६. नाव खेनेवाला चौडय्या; ७. ढोल बजानेवाला बोमण्ण; ८. चुंगी उगाहने वाला बंक्कण्ण; ९. किसान मुंच्चय; १०. डोम चन्नैय; ११. चांडाल (?) कक्कैय; १२. कोल्हू चलानेवाला कण्णप्प, १३. दर्जी रामीका बाप.

वचन हैं उन सबमें पाई जानेवाली सुसंबद्ध एकवाक्यता, सूत्रबद्धतासे मानवीय मन चकित-सा हो जाता है। वह अभिभूत हो जाता है।

अनुभव-मंटप वचनकारोंका एक बड़ा भारी संगठन था। वह उनकी अपनी संस्था थी। वचनकारोंके व्यक्तिगत जीवनके विषयमें कहनेसे पहले उनके सामूहिक व्यक्तित्वके विषयमें और कुछ बातें कहना शेष है। वचनोंकी संख्याके विषयमें लिखते समय पहले ही लिखा जा चुका है कि वचनकारोंने कहा है कि वे करोड़ोंकी संख्यामें हैं। किंतु वचनकारोंके विषयमें वह बात नहीं है। वचन-शास्त्र-सार नामकी पोथीके परिशिष्टमें कुल २१३ वचनकारोंका नाम मिलता है। उनमेंसे १६८ वचनकारोंका नाम और मुद्रिका दोनों हैं। ४५ वचनकारोंकी मुद्रिका मात्र है, नाम नहीं मिलता। उनके नामका अबतक कोई पता नहीं चला। २१३ वचनकारोंमें २८ देवियां हैं। ऐसे अनेक वचनकारोंका यत्किंचित् भी पता नहीं चलता जिन्होंने अत्यन्त अनुभवपूर्ण वचन कहे हैं। उदाहरणके लिए हम 'निजगुरु स्वतंत्र सिद्ध लिंगेश्वरा' इस मुद्रिकासे लिखे गये वचन ले सकते हैं। अपने सर्वार्पणके सिद्धांतके अनुसार, सामान्यतया सब वचनकार अपने वचनके साथ अपना नाम न देकर अपने इष्ट लिंगका, अथवा अपने गुरूका नाम देते थे। अपने नामसे ही वचन कहनेवाले वचनकार केवल आठ-दस ही हैं। २१३ में यह संख्या 'अपवादात्मक' कही जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टिसे अथवा आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे देखने पर उनका गाँव, काल, नाम, आदि मिलता तो बड़ा अच्छा होता। किंतु परमार्थ दृष्टिसे विचार करनेवालोंके लिए इसकी क्या कीमत? उन्होंने भगवन्नामका ध्वज उठाया। वह स्वयं उस ध्वजके स्तंभ बन गये। बाद में आने वालोंने 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' कह कर ध्वजका वंदन किया। स्तंभ अज्ञात ही रह गया। इस तरह धर्म-ध्वजके इन स्तंभों का पता ही नहीं चला! सचमुच ध्वजका आधार बनने पर भी उसके स्तंभकी भला कौन कदर करता है? आज ऐतिहासिक दृष्टिसे इन सब वचनकारोंका इतिवृत्त देना दूर रहा उनमेंसे कई लोगोंके नामका भी पता नहीं चलता। फिर भी, उन्होंने अपने अनुभवपूर्ण वचनोंसे समाजको ज्ञानका प्रकाश दिया है, इसके लिए उन अज्ञात वचनकारोंके प्रति भी हमें कृतज्ञ रहना चाहिए।

ये सब वचनकार अपनी उपजीविकाके लिए 'कायक'[1] करते थे। सिद्धावस्थामें भी वे अपना कुल-परंपरागत व्यवसाय करते रहे। उनमेंसे कई लोगोंके नामसे ही इसका पता चलता है। काश्मीरका महाराजा भी अनुभव-मंटपमें आनेके बाद लकड़ी बेचकर अपनी उपजीविका चलाता था। जो कुछ 'कायक'[2]

१. शारीरिक परिश्रम, आजोविकाकी साधना; २. पारिश्रमिक

आता था वह उसी दिन लिंगार्पण किया जाता था। बादमें प्रसादके रूपमें उसका ग्रहण होता। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवनमें 'शरीर-परिश्रम और अपरिग्रह'का मेल बिठाया था। सब प्रकारका कायक करनेवाले लोग वचनकारोंमें थे। उनमें चमारका, डोमका, मरे हुए जानवरोंको चीरनेका कायक करनेवाले भी थे। ये सब अपना-अपना 'कायक' अपने इष्टलिंगको अर्पण करते। अपने नियमानुसार योग्यतानुसार जंगम-पूजा[1] करते। दासोहम् २ करते। अपने कायक आदिसे बचे हुए समयमें ज्ञान-चर्चा करते। इस ज्ञान-चर्चामें जो कुछ अपना अनुभव कहते वह अपने इष्ट लिंगके नामसे, गुरुके नामसे कहते, मानो उनको अपने शरीरका भान ही नहीं हो। नाम-रूपादि शरीरका है न ? और वह नाशवान है ! आत्मा ही अमर है। वह अखंड है। वहाँ पर नाम-रूप आदि कहाँसे आएगा ? इस एकात्मभावके अनुभवसे ही अनेक वचनकारोंके भिन्न-भिन्न स्थान-काल और परिस्थितिमें कहे हुए वचनोंमें आश्चर्यजनक एकसूत्रता आई होगी ? जो कुछ हो, जैसे एक जगह स्वामी विवेकानंदजीने कहा है, "मैं नहीं तू हैका अनुभव करना ही धर्म है" वचनकारोंने यह अनुभव कर लिया था। इस लिए अमर साहित्यका निर्माण करने पर भी उनका 'मैं' नहीं रहा। वह ईश्वरके नाममें विलीन होकर ईश्वर-रूप हो गये, मानो नदी समुद्रमें डूबकर समुद्र हो गयी, बरफ पानीमें पिघलकर पानी हो गया।

वचनकारोंने अपने इतिवृत्तके विषयमें कहीं कोई निर्देश नहीं किया। अपने स्थान, कुल, आदिके विषयमें कभी कुछ नहीं कहा। किंतु उनके वचन कन्नड़भाषी लोगोंके भावाकाशमें गूंज रहे हैं, कन्नड़ साहित्य-गगनमें चमक रहे हैं। करीब एक हजार वर्ष पहले उन्होंने जो रास्ता बताया था उस पर आज भी कुछ लोग चल रहे हैं। उन्होंने कभी यह नहीं सोचा होगा कि हमें वचन लिखने चाहिए जो आगे जाकर वचन-साहित्य अथवा वचनशास्त्र कहलाएंगे। उन सब वचनोंको व्यवस्थित रूप देना चाहिए। आधुनिक व्यापारियोंकी तरह सजाकर रखना चाहिए उनको सपनेमें भी यह बात नहीं सूझी होगी। यदि ऐसी कोई बात उनके मनके किसी कोनेमें भी होती तो वह बुद्धि पुरःसर ऐसा प्रयत्न करते। किंतु विशाल वचन-साहित्यमें कई गोते लगाने पर भी इस भावनाका नामो-निशान नहीं मिलता। उसकी गंध भी नहीं आती। और आये भी तो कैसे आए ? वह तो ईश्वर-साक्षात्कारके लिए पागल थे। उन्होंने अपना सर्वस्व ईश्वरार्पण कर दिया था। उनका विश्वास था कि साक्षात्कार ही हमारे जीवनका उद्देश्य है। उन्होंने अपने स्वभावधर्मानुसार साधना करते समय जो अनुभव

---

१. शैव संन्यासियोंका आदर सत्कार २. गुरु, लिंग या जंगमकी पूजा करके प्रसाद ग्रहण करना

आए वह औरोंके मार्गदर्शनके लिए जैसे के तैसे कहे। इन अनुभव-गोष्ठियोंमें जो परस्पर निरूपण हुआ उन्होंने वचनोंका रूप ले लिया। उसीसे वचन-साहित्यका महासागर बना। इसलिए वचनकारोंके जीवनके विषयमें बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। जो है वह नहींके बराबर है। वह केवल कुछ संकेत भर है। आगे कुछ वचनकारोंके जीवनके बारमें जो कुछ जानकारी दी है वह उनके वचनोंको समझ लेनेकी दृष्टिसे संकेत रूप ही है। उनके जीवनकी ओर वह इंगित मात्र है।

वचनकारोंका सामूहिक व्यक्तित्व दर्शाते समय पिछले परिच्छेदमे हमने लिखा है कि २१३ वचनकारोंमें २८ देवियाँ थीं। उनमेंसे दो-चार देवियोंके वचन उनके अपने नामसे ही मिलते हैं। जैसे, लिंगम्मा। यहां मुक्तायक्क, मोलिगये मारय्यकी धर्मपत्नी महादेवीयम्मा, उडुतडीकी अक्क महादेवी, सती लक्कम्माके जीवनके संकेत चिन्ह ही दिये जा रहे हैं।

(१) मुक्तायक्का, अजगण्णकी बहन। अजगण्ण एक उच्चकोटिका साधक था। मुक्तायक्काने उसीको अपना गुरु बनाया था। भाई-बहन दोनों साक्षात्कारके लिए अपनी-अपनी योग्यतानुसार साधना कर रहे थे। इसी बीचमें अजगण्णकी मृत्यु हो गयी। अपने भाई और गुरुकी मृत्युसे मुक्तायक्का बावली हो गयी। इस दुःखसे उसका हृदय तड़प रहा था। वह प्रलाप कर रही थी। तभी अल्लम प्रभुसे उसका साक्षात्कार हुआ। उन दिनोंमे सिद्धावस्थाप्राप्त अल्लम प्रभु भटक रहे थे। अल्लम प्रभुने मुक्तायक्काका प्रलाप सुना। अल्लम प्रभु जान गये कि यह ज्ञानी है। अल्लम प्रभु उनसे बातें करने लगे। यह संवाद 'शून्य संपादने' नामक ग्रंथके २२ से ३५ पृष्ठ तक प्राप्य है। यह सारा प्रसंग अत्यंत तात्विक, उदात्त और उद्बोधक है। अल्लम महाप्रभु पूछते हैं, "कितनी बहनोंके भाई नहीं मरते ? मुक्तायक्काकी तरह ऐसा प्रलाप करनेवाली बहनें कितनी है ?"

"अजगण्णने मेरी आंखें बांधकर दर्पणमें तेरा योग दिखाया था रे !" मुक्तायक्काने उत्तर दिया।

अजगण्ण आध्यात्मिक मार्गमें भी मुक्तायक्काके अग्रज थे। मुक्तायक्काका प्रलाप ज्ञान-मार्गके अग्रजके लिए ही विशेष था। अल्लम प्रभुने पूछा, "खिला हुआ मस्तक हथेली पर रखकर अश्रुओंके मोती पिरोनेवाली तू कौन है ?"

"मस्तक खोकर प्रकाशनेवाली यह ज्योति मेरे अग्रजकी है !" मुक्तायक्काने, "मैं अजगण्णकी बहन हूं" यह कहते हुए अजगण्णकी चिन्मय आत्माका भी परिचय दे डाला।

"तू ज्ञानी है, ऐसा दुःख न कर।" अल्लम प्रभुने कहा।

मुक्तायक्का अपने अग्रजके दिव्य-ज्ञानका परिचय देते हुए कहती है, "यह सब खोकर मैं कैसे जीऊं ? कहते हैं न, बिना गुरुके मोक्ष नहीं मिलता ?"

तब अल्लम प्रभु उसको समझाने लगे, "अपने आपको जान लिया कि वह ज्ञान ही गुरु है। दूसरे गुरुकी आवश्यकता नहीं।"

अल्लम प्रभुकी बातोंसे मुक्तायक्काको शांति नहीं मिली। उन्होंने सीधे कहा, "अब तक तेरी भूखका बंधन नहीं टूटा। तेरी बातोंका मंथन नहीं मिटा। मुझे क्या ज्ञान सिखाने आया है ? जा अपना रास्ता नाप।"

मुक्तायक्कासे ऐसी बातें सुनने पर भी अल्लम प्रभु वहांसे नही हटे। वह संत थे। सच्चे अर्थोंमें संत थे। एक बार संतकी कृपा हुई, उद्धार अनिवार्य है। अल्लम प्रभुने कहना शुरू किया "शरण, जाकर भी निर्गमनी है। बोलकर भी मौन है। अपने आपमें सद्‌गत होनेसे वह निर्लेप है !" अल्लम प्रभुकी करुणा अपमान सहकर भी उद्धार करनेके लिए तड़पती थी। उस करुणाकी जीत हुई। अल्लम प्रभुकी वह दिव्यवाणी ! वे सिद्धावस्थाकी स्थितिका वर्णन करते गये "शिवशरणोंकी स्थिति पानी पिये हुए लोहेकी-सी है, शून्यको आलिंगन किये हुए हवाकी-सी है......।" मुक्तायक्का शब्द-मुग्ध होकर सुनती रही। उसके ज्ञान-चक्षु खुले। वह अपना प्रलाप भूल गयी। आखिर उसने मुक्तकंठसे कहा, "मेरे अजगण्णमें मुझे विलीन कर, तूने मुझे आग निगले हुए कपूरका-सा बना दिया रे......!"

'शून्य संपादने'में लिखे गये इस संभाषणमें मुक्तायक्काका निःस्सीम बंधु-प्रेम, तत्त्व-निष्ठा, गहरी विवेक-शक्ति, आदिका सुन्दर परिचय मिलता है।

(२) "क्या तू मुझे ज्ञान सिखाने आया है ?"—कह कर अल्लम प्रभु-जैसे सिद्धकी अवहेलना करनेका आवश्यक धैर्य मुक्तायक्कामें था, तो अपने पति के अज्ञानको दूर करके उनको "निजैक्य" का बोध करानेकी योग्यता हमारे मोळिगये मारय्यकी धर्मपत्नी महादेवीयम्मामें थी। यह प्रसंग 'शून्य सपादने' ग्रंथके २४२ से २४८ पृष्ठतक आया है।

वह अपने पतिसे अत्यत मार्मिकताके साथ पूछती है, "तुम अब लिंगैक्य होनेकी बात कहते हो तो क्या इसके पहले लिगमे एकार्थ नहीं हुआ था ?"

वह पूछती है, "अपना देश, कोष, वास, भंडार आदि छोड़कर यहां आकर भक्ति करनेसे यदि ऐक्य होना हो तो क्या यह ऐक्य-भक्ति इसका (तुम्हारे त्यागका) पुरस्कार है ?"

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मोळिगये मारय्य पूर्वाश्रमका काश्मीर नरेश था। वे अपना सर्वस्व त्याग कर साक्षात्कार करनेके लिये कल्याणमे आकर साधना करते थे। उन्होने उपजीविकाके लिए लकड़ी काटकर बेचनेका

कायक अपनाया था। इसीपर कटाक्षकर वह पुण्यांगना पूछती है, "लकड़ी काटते-काटते तुममें (त्यागका) अहंकार आ गया है? हम उनसे (भगवानसे) मिले हैं, ऐसा (सबसे) कहनेमें तुम्हारी ही हानि है।"

एक ओर वह अपने पतिको ज्ञान दे रही है। साथ-साथ वह अपनी सीमाका भी उल्लंघन नहीं करती। वह पतिसे नम्र होकर कहती है "शक्तिकी (स्त्रीकी) बातें कहकर उनकी अवहेलना नहीं करना।"

पतिको अपनी भूलका ज्ञान होता है। वह अपनी पत्नीसे नम्र प्रार्थना करके कहता है, "मुझे निजैक्यका रहस्य बताओ!"

वह कहती है, "तुम (मेरे लिए) महालिंगस्वरूप होनेसे मुझे वह अधिकार नहीं है। मेरी स्त्री जाति है। तुम्हारे चरणोंमें रत रहनेके अलावा मैं दूसरा धर्म नहीं जानती!"

"तुम सच्ची पति-परायण धर्मपत्नी हो। मेरे सदाचार, सद्भक्तिके अंतर्गत हो। तुम्हारी भक्तिकी फसल ही मेरा सत्पथ है। मेरी भक्तिकी तुम शक्ति हो!" आदि बातोंसे पति, पति पत्नीके अद्वैत धर्मका भान दिलाता है। यह सब सुनकर वह सती पतिको ऐक्य-भक्तिका बोध कराती हुई कहती है, "तुम्हारी स्थिति अंधेके हाथमें रत्न होनेकी-सी हुई।"

इस प्रकार पतिकी मीठी भर्त्सना कर वह कहती है, "आत्म निश्चय होनेमें ही कैलास है। भिन्नभाव-रहित होकर जाने हुएको अनुभव करना ही ऐक्य स्थल है।............इसका आनंद मेरे और तेरे मिलनेके आनंद सा है!"

इस पुण्यांगनाकी बातें पढ़ते समय लगता है वह कन्नड़ भाषामें उपनिषदोंकी रचना करनेवाली कोई महान विदुषी हो। पति-पत्नीके इस संभाषणमें महादेवियम्माके ज्ञान, विनय, विनोद, आदिके साथ सतीपति-संबंधकी आध्यात्मिक मर्यादाका उत्कृष्ट दिग्दर्शन हुआ है। यह संभाषण पति-पत्नीके आध्यात्मिक संबंधका सुन्दर आदर्श वाचकके सामने रखता है। उपनिषदोंमें याज्ञवल्टकने अपनी पत्नीको आत्म-ज्ञान सिखाया है और यहां पत्नीने अपने पतिके ज्ञान-चक्षु खोले हैं। पतिके ज्ञान पर पड़ा हुआ अज्ञान, अहंकार आदिका परदा उठा कर उसको आत्म-बोध कराया है।

(३) महादेवी अम्मा अपने ज्ञानसे पतिका पथप्रदर्शन करनेवाली सती शिरोमणि हैं तो उडुतडीकी अक्क महादेवी पतिसे विद्रोह करनेवाली वीर वैराग्यशालिनी धर्म-माता। उनका वैराग्य, उनकी निष्ठा, उनका तीव्र अनुभव और अनिर्वचनीय साहस यह सब भारतीय अध्यात्म-जीवनके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। उनका समग्र जीवन अध्यात्म-जगत्का दैदीप्यमान हीरा है। उनके वचन उनके उज्ज्वल चारित्र्य और शीलसे पुष्ट हुए हैं। उनका

चरित्र चामरस कविने "अमुर्लिग लीले" नामके काव्यमें लिखा है। उनके कल्याणमें पहुँचनेके बादका वर्णन 'शून्य सम्पादने' में २०६ से २९९ वें पृष्ट तक विस्तारसे दिया गया है।

उडुतडी नामका गाँव उनकी जन्म-भूमि है। उनके माता-पिताका नाम सुमति और विमल था। वे दोनों वीरशैव थे। गरीब होने पर भी शील-संपन्न थे। धर्म-प्राण थे। उन्हींसे अक्क महादेवीका जन्म हुआ। वे अनुपम सुंदरी थीं। अपने माता-पिताकी इकलौती लाड़ली बेटी थीं। बड़े लाड़-प्यारसे पली, पढ़ीं और बढ़ीं। उनके अनुपम सौंदर्य पर मुग्ध होकर कौशिक नामके जैन राजाने उनसे विवाह किया। किन्तु पत्नीकी इच्छानुसार राजाने वीरशैव धर्म में दीक्षित होनेसे इन्कार कर दिया। अक्क महादेवीने अपने रानी पदको त्याग दिया। भौतिक भाग्य-भंडार पर लात मारी। दिगंबरी बन कर कल्याणमें आईं। उस समय वे नव-यौवना थीं। परम सुंदरी तो थीं ही। उनके सामने दो रास्ते थे, एक ओर भौतिक भाग्य-वैभवका अंबार था, दूसरी ओर दुःख कष्ट, वेदना, यातना और विडम्बनाका कैलास! उन्होंने इसी कैलासको अपना आदर्श मानकर घोषणा की, "चन्नमल्लिकार्जुन ही मेरा पति है। वही मेरा स्वामी है। अन्य किसी पतिसे मेरा कोई संबंध नहीं।" और अपना सर्वस्व कैलासपतिको समर्पण कर दिया।

वह चलीं। सैंकड़ों मील चलीं। कल्याण पहुँची। श्री बसवेश्वरके घर पर उनका वैसा ही स्वागत हुआ जैसे विवाहके बाद पहली बार मायके आई हुई घरकी अपनी लड़कीका होता है। स्वयं नीलांबिकादेवीने (श्री बसवेश्वरकी धर्मपत्नीने) सैंकड़ों मील चलकर घर आई हुई लड़कीको नहलाया। अपने हाथसे खिलाथा। कुशल प्रश्न किये। आखिर वह अनुभव-मंटपमें गयीं। संतोंका दर्शन किया। उनको नमस्कार किया। अल्लम प्रभु शून्य सिंहासन पर विराजमान थे। उन्होंने कहा, "तुम नवयौवना सुंदरी हो। अपने पतिका ठौर-ठिकाना बताओ। तभी यहां शरणोंके साथ बैठ सकोगी। नहीं तो जैसी आयीहो वैसी ही चली जाओ।"

कैलासपति ही मेरा पति होना चाहिए, ऐसी मैंने जीवन भर तपस्या की। सबने उसके साथ विवाह करके मेरी इच्छा पूरी की।" महादेवी ने उत्तर दिया।

उस समय उन दोनोंमें जो सुदीर्घ संभाषण हुआ वह अत्यन्त उद्बोधक है। अल्लम प्रभु एकके बाद एक अपने प्रश्नरूपी तेज शस्त्रसे उनका हृदय और मस्तिष्क छीलते जाते हैं; और दूसरी ओर वह वीरांगना उतने ही शान्त-भावसे, उतनी ही नम्रतासे, किंतु उससे सौगुनी दृढ़तासे उत्तर देती जाती है।

"मैं तुम्हारी बातपर विश्वास नहीं कर सकता!" अल्लम प्रभु कहते हैं— "कौशिकने दीक्षा नहीं ली, इस गुस्सेमें तुम यहाँ आयी हो। अगर तुममें सच्चा

वैराग्य होता, अगर तुम्हारे भाव सच्चे होते तो अपने लज्जा-द्वार को बालोंसे इस तरह ढक लेनेकी क्या आवश्यकता थी !"

किसी नवयौवना स्त्रीके लिए यह प्रश्न कितना मर्मांतक था। उस समयका वर्णन करते समय कविने लिखा है—"उसने अपने बालोंसे लज्जा द्वार ढक लिया था !"

अक्क महादेवीका उत्तर भी उतना ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी था। वह कहती हैं, 'मुझे इस शरीरकी परवाह नहीं है। यह मुर्झाकर काला पड़ा तो क्या और विद्युल्लताकी तरह चमक उठा तो क्या ? किंतु कामकी मुद्रिकासे तुम्हें दुःख-दर्द न हो, इसलिए बालोंसे छिपा लिया !"[१]

इसी प्रकार यह प्रश्नोपनिषद् चलता गया। आखिर अल्लम प्रभु जैसे सिद्ध पुरुषने भी अक्क महादेवीके दिव्यज्ञान और अनुभवको देखकर चकित होते हुए कहा, "स्त्रीके रूपके अलावा और सब कुछ परम तत्त्वमें विलीन-सा है।"

इसके बाद ही अनुभव-मंटपके आचार्योंने मुंह खोला। बसवेश्वरने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा, "अपने ब्रह्माचरणमे उसने अपने आपको भुला दिया है।"

अनुभव-मंटपके आचार्यों द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर अक्कमहादेवी परम नम्र बन गयीं। उन्होंने कहा, "मैं तो इस संसारकी पुतली हूँ। अपनी भूलों को स्वीकार करनेमें ही अपना हित है।" फिर उन्होंने कहा, "श्रीगंध-(चंदन) काटकर तराशकर पीसनेसे दुःखी, कष्टी होकर क्या अपनी सुगंध छोड़ देगा ?"

अक्कमहादेवीने स्वयं बसवेश्वर, अल्लम प्रभु, चन्नबसव आदिका आदरके साथ उल्लेख किया है। एक जगह चन्नबसवने अक्कमहादेवीके अधिकार और महत्त्वके विषयमें कहा है, "वह तो सदासर्वदा चन्नसंगय्यमें विलीन होकर बिना अलगावके रहती है। उसका एक वचन आद्योंके साठ वचनोंके समान, दण्णायकके बीस वचनोंके समान, अल्लम प्रभुके दस वचनोंके समान और अजगण्णके पांच वचनोंके समान है !"

इस अवस्थामें, अतीव व्याकुलतामें किया हुआ उनका भगवानका वर्णन (साहित्यिक दृष्टिसे) अत्यंत मधुर, मोहक और हृदयंगम हैं। सीता-हरणके बाद रामायणमें जैसे राम अकुलाते हुए वृक्ष-लताओंसे सीता के विषयमें पूछते हैं वैसे ही अक्कमहादेवी उस भगवानके विषयमें पूछती हैं, "तुमने देखा है क्या मेरे चन्नमलिकार्जुन को ? देखा हो तो बतारी !"

---

१. मूलवचनः ननगे कायद परिवेयिल्ला नन्न काय कर्रने कंदिदरु अष्टे मिरंने मिंचिदरु अष्टे ! आदरे कामन मुद्रिकेयिंद निमगे नोवादीतेंब भावनेयिंद एन्न कूदल मरे माडिदे। नोवु=दुःख, दर्द

अक्क महादेवीका अल्प-सा पवित्र जीवन, अनुभव मंटपके अन्य शरणोंके साथ हुआ उनका संभाषण, उनके वचन, उनका व्यवहार-चातुर्य, उनका साहस, उनकी धर्मपरायणता उनकी भक्ति, और उनका साक्षात्कारका अनुभव एकसे एक बढ़कर अधिक तेजस्विताके साथ चमकते हैं। मानो आकाशमें अनंत नक्षत्र अपने प्रकाश दिखानेकी होड़ कर रहे हों! उनका जीवन भी भव्य, एवं आकाशकी तरह निर्लेप है।

(४) लक्कम्मा, शरणों के खेतोंमें, आंगनमें, तथा अन्यत्र जहां-तहां पड़े अनाजके दानोंको चुनकर प्राप्त धान्यके कायकसे अपनी जीविका चलानेवाले आयदक्कि मारय्यकी धर्मपत्नी।

उस समयमें यह व्यवसाय कहलाता था, भिक्षा नहीं। मारय्याकी यह मान्यता थी, "कायक ही कैलास हैं।" "लिंग-पूजा, अथवा गुरु-पूजा रुकी तो क्षम्य है, किंतु कायक रुका तो क्षम्य नहीं।"

एक बार वह अल्लम प्रभुके घर गये। अल्लम प्रभु उनसे बातचीत करने लगे, "कर्म करनेकी क्रियासे ही अन्य सब ज्ञान होना चाहिये। किंतु क्रिया कर्मके रहस्यमें चित्त न रहनेसे निजैक्य संभव नहीं है।"

आयदक्कि मारय्य अल्लम प्रभुका उपदेश सुननेमें तल्लीन हो गया। उनका उपदेश सुनने के अनंतर उनकी प्रशंसा भी करने लगा। तभी उनकी पत्नी दौड़ती-भागती हुई वहां आयी। लक्कम्माने अपने पतिसे कहा, "तुम्हारा कायक रुक गया ना" और 'कायक' का स्मरण दिलाया। पत्नीकी बात सुन कर वह अनाजके दाने चुननेकेलिये भागा। बसवेश्वरके घर नित्य हजारों भिक्षुक आते थे। उनको भिक्षा देनेमें कई दाने वहां गिर जाते। उन सबको चुनकर घर पर आया। यह देखकर लक्कम्माने पतिको फटकारते हुए कहा, "राजा महाराजाओंका पीछा करने वाली आशा-तृष्णा शिवभक्तोंके पीछे भी पड़ने लगी है क्या? हमें जिस दिन जितनेकी आवश्यकता है उतना ही पर्याप्त है[1]। जो अधिक है वह सब वहीं डाल कर आओ जहांसे लाए हो! हमें इतने में ही 'दासोहम्' करना चाहिये। अधिककी आशा उचित नहीं!"

आयदक्कि मारय्याने पत्नीके कहनेके अनुसार अपना कार्य किया। तदनंतर पत्नीसे प्रार्थना की, "लिंगमें ज्ञान स्थिर होनेका ज्ञान कहो!" और ज्ञानचर्चा छेड़ दी। तब लक्कम्मा कहती है, "हमें कैलासकी आशा ही क्यों करनी चाहिए। यह [2]"दासोहम्" क्या कम है?"

तब पतिके पुनः 'निजैक्य' का रास्ता बतानेकी प्रार्थना करने पर उसने

---

१. अंदिनंदिगे=जिस दिन जितने की आवश्यकता है, २. लिंगार्पण किया हुआ प्रसाद ग्रहण

कहा, "अहंकारका अतिक्रमण कर 'त्रिविध दासोहम्'[1] करना ही 'निजैक्य' का मार्ग है। अहंकार ही 'भवका' मायाका मूल है। जब वह नष्ट होगा तभी निजैक्यका भावांकुर जमने लगेगा। आगेकी कल्पना न करते हुए, पीछेकी भावना न धरते हुए, अच्छी तरह एकरस, 'समरस' होने पर ही मुक्तिकी आशा है।"

इसके बाद गुरुदक्षिणा मांगनेवाले गुरुकी तरह उस देवीने पतिसे कहा, "दासोहम्के लिए अन्य जंगमोंके साथ श्री बसवेश्वर अल्लम प्रभुको भी अपने घर पर बुलाओ!"

"यह हम जैसे गरीबोंका कौर नहीं है!" पतिने हिचकिचाहटके साथ कहा।

तब वह सती आत्म-विश्वासके साथ कहती है, "शुद्ध चित्तसे कायक करनेवाले सद्भक्तके लिए जहां देखो वहां लक्ष्मी अपने आप उसकी हो जाती है।"

पत्नीकी बातोंसे प्रभावित होकर पतिने अनुभव-मंटपके साधकोंको अपने घर 'दासोहम्' के लिए बुलाया। अल्लम प्रभु, बसवेश्वर आदि वचनकार उनके घर गये। 'दासोहम्' हुआ। उस गरीब दम्पत्तिका आगत-स्वागत देखकर बसवेश्वरने कहा, "घर देखनेसे गरीब है, हृदय देखनेसे सम्पन्न। धनसे अकिंचन है, किंतु मन-धन संपन्न हैं। जहां दंपति एक भाव एक जीव होते हैं, वह जीवन ईश्वरार्पण होता है।"

इसके अनंतर कविने उनका निजैक्य होनेकी बात कही है। मोलिगेय मारय्यकी पत्नीने पतिको ज्ञान ही दिया था, पर लक्कम्माने ज्ञानके साथ धैर्य भी दिया। स्त्रियोंको जीवनमें आगे आनेका अवसर दिया जाय तो वह किस प्रकार कार्य करके दिखा सकती हैं, पुरुषोंके लिए किस प्रकार प्रेरणाका स्रोत बन जाती हैं, इसका यह सुन्दर उदाहरण है। लक्कम्माके वचन अत्यन्त सुलभ, सूत्रात्मक और अर्थ-पूर्ण हैं। उन्होंने वहां लोकोक्तियोंका स्थान पाया है।

(५) सोलहवीं सदीमें राघवांक कविने एक काव्य लिखा है। उसका नाम 'सोमनाथ पुराण' है। उसमें आदय्य नामके एक वचनकारका जीवन-वृत्तांत दिया है। आदय्य 'सौराष्ट्र सोमेश्वर' इस मुद्रिकासे अपने वचन कहते थे।

आदय्य सौराष्ट्रके रहनेवाले हैं। द्वारका उनका गांव है। सौराष्ट्रका सोमनाथ (?) सोमेश्वरलिंग उनका इष्ट लिंग है। उनकी माताका नाम पुण्यवती और पिताका नाम घोरदत्त था। वह व्यापार-उद्योगके लिए कर्नाटकमें आये। वहां पुलिगेरेमें रहने लगे। उस समयका पुलिगेरे आजके लक्ष्मेश्वरके पास है।

---

१. तन-मन-धन भगवदर्पण कर उसका प्रसाद रूप उपभोग करना।

उन दिनोंमें पुलिगेरेमें जैनोंका बड़ा प्राबल्य था। आज भी लक्ष्मेश्वरमें बहुत जैन रहते हैं। वहाँके एक जैन वर्तककी लड़की पद्मावतीसे आदय्यका विवाह हो गया। पद्मावती पहलेसे ही आदय्यके प्रेम-पाशमें बद्ध थी। इसीलिए उसने विवाह होनेसे पहले शिवदीक्षा ली। वह जैन वर्तक बड़ा धनी था। उसकी दूसरी कोई सन्तान नहीं थी। इससे आदय्य अपने श्वशुरके घरमें रहने लगे। धीरे-धीरे आदय्यका वर्चस्व बढ़ता गया। एक दिन ऐसा आया कि जहाँ जैन मंदिर था वहीं वह शैव–मंदिर–सोमेश्वरका-बना सके। उनके वचनोंमें अपने गांव, नाम, गुरु परंपरा अथवा साधनादिके विषयमें कुछ नही मिलता। किंतु उनके वचनोंमें गहरे अनुभवकी झलक मिलती है। इससे लगता है वह उच्च कोटिके शिवशरण थे।

उनके वचनोंको देखनेसे पता चलता है कि प्रपंचकी किसी उलझनमें न फंसते हुए, निष्कलंक सम्यक्ज्ञान, समता, समाधान, सहज आनंद आदिका अनुभव करनेवाले शरणोंमें वह भी एक थे। उनके वचनोंमें वेद, शास्त्र, पुराण आदिके शब्द-जालमें न फंसते हुए, सौराष्ट्र-सोमेश्वरकी भक्ति करनेका उपदेश मिलता है। उनके वचनोंसे पता चलता है कि वह सगुण भक्त रहे होंगे।

उन्होने शरणोंकी स्थितिका वर्णन करते समय लिखा है, "द्वंद्वातीत होकर, मनको न बहकने देते हुए, जहाँ रहे वहां स्थिर, जहाँ गये वहाँ निर्गमनी, बोल कर भी मौन, शरीर होने पर भी अशरीरी ऐसे शरण ही श्रेष्ठ हैं!"

उन्होंने भूमध्यमें जलती हुई स्वयं प्रकाशित आत्म-ज्योतिकी मानसोपचारिक पूजाका सुन्दर वर्णन किया है। जैसे, "स्मरणके निर्माणके बाद बने हुए मनोलय नामक पुष्प" आदि। इस वर्णनको देखकर ऐसा लगता है कि वह ध्यान धारण आदिका रहस्य अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने विराट् पुरुषका अत्यंत काव्यमय वर्णन किया है। उन्होंने अपने वचनोंमें करीब २५-३० अन्य वचनकारोंके गुण विशेषका वर्णन किया है। ऐसा लगता है कि वे आयुमें बसवेश्वर से छोटे थे। एक गुजराती-भाषाभाषी व्यक्तिका कन्नड़-भाषा-प्रावीण्य देखकर कुछ क्षण मन चकित हो जाता है। यह शरण-मार्गके अत्यंत अभिमानी और निष्ठावंत भक्त थे।

(६) "सकलेश्वर" इस मुद्रिकासे वचन कहनेवाले सकलेश मादरस प्रथम कल्लुकुरीके राजा थे। इनका चरित्र वर्णन पद्म पुराणके द्वितीय अध्यायमें आया है। उसी प्रकार बसव पुराणके उन्नीसवें और बीसवें अध्यायमें भी इनका जीवन वृत्तांत देखने को मिलता है।

इनके पिताका नाम मल्लरस था। वह भी अपनी वृद्धावस्थामें राज्य-भोग त्याग कर श्री-शैलके बिल्व-वनमें शिवयोगी बनकर साधना करते थे। सकलेश

मादरस जब अपना राज्य त्यागकर श्री-शैल गये तब अपने पिता मल्लरससे उनकी भेंट हुई। राज्य त्याग कर जाते समय इनके साथ इनकी पत्नी और पुत्र भी थे। किंतु इन्होंने अपने पुत्रको कुछ दिन अपने साथ रखनेके पश्चात् घर लौटा दिया। वृद्ध पितासे भेंट होने पर उनके पिताने कहा, "तू अभी अपूर्ण है। तुझे पूर्णत्व प्राप्त नहीं हुआ। पचास सालके बाद, बसवेश्वर कल्याणमें स्थानापन्न होंगे। तू वहाँ जाकर उनके पास रह।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि मल्लरस बसवेश्वरसे पर्याप्त वृद्ध थे। तथा बसवेश्वरके उदयसे पचास साल पहले भी यह धर्म-जागृति विद्यमान थी। तत्पश्चात् ये अपने पिताकी आज्ञानुसार बसवेश्वरके साथ रहने लगे और, बसवेश्वरके ऐक्यके बाद कल्याण छोड़कर अपने शिष्य शिवदेव और महालिंगरामके साथ कुछ दिन बिताकर लिंगैक्य हुए।

इनके ८८ वचन आजतक प्रकाशित हुए हैं। उनमें पाँच इतने अशुद्ध हैं कि उनका अर्थ ही नहीं होता। इनके वचन अधिक नीति-प्रधान है। यह शरीर की अवहेलना नहीं करते। इनके वचन स्मरण सुलभ हैं। उन्होंने अपने वचनों में कहा है, "कहीं भी जाओ अन्योंका आश्रय नहीं छूटता। जंगलमें जाने पर भी वृक्ष लताओंका आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए जो कुछ मिलता है वह सब परमात्माका दिया हुआ है ऐसा मानकर सब कुछ उसको अर्पण करनेमें ही कुशलता है।"

उन्होंने सर्वार्पणका रहस्य समझाया है। वैसा ही समत्वका महत्त्व भी कहा है। समत्वका महत्त्व कहते समय यह कहते हैं, "तीन चौथाई सोचनेपर ही पढ़ा हुआ एक चौथाई पचता है।" "जो श्रम-दम करता है, वही धनी होगा" "कमलसे कमलपर उड़नेवाले भ्रमरको ही मकरंद मिल सकता है।" "आशा में तुच्छता है तो निस्पृहतामें महानता है," आदि वचन अत्यन्त सूक्ष्म, सुलभ तथा अर्थपूर्ण हैं। मल्लरस और मादरस इन पितापुत्रने यह सिद्ध कर दिया है। अपने आत्म-वैभवके सामने राज्य वैभव व्यर्थ है।

(७) 'बसवप्रिय कूडलसंगमदेव' यह हड़दप्पण्णकी मुद्रिका है। उनके चरित्रका कोई अंश नहीं मिलता किंतु यह बसवेश्वरके पास ही रहते थे। जब श्री अल्लम प्रभु कल्याणमें आये, बसवेश्वर पूजामें बैठे थे। इसीने जाकर बसवेश्वरको अल्लम प्रभुके आनेकी बात कही और बसवेश्वरने उसीको अल्लम प्रभुकी अगवानीके लिए भेजा था।

इनके २२२ वचन प्रकाशित हुए हैं। इनके एक-दो वचनोंमें 'चन्नमल्लेश्वर तुम ही जानते हो!' 'चन्नमल्लेश्वर ही साक्षी है!" ऐसे पद मिलते हैं। इससे

प्रतीत होता हे कि चन्नमल्लेश्वर इनका इष्ट-देव है ! इसी प्रकार इनके एक वचनमें यह आया है, "मेरे परमाराध्यने चन्नमल्लेश्वरकी मायाको कुचल कर, मेरे तन, मन, धनका स्वामी बनकर.........।" इस कथनसे संदेह होता है कि संभवतः परमाराध्य इनका गुरु हो । इन्होंने अपने वचनमें साक्षात्कारका महत्त्व-प्रतिपादन किया है । साथ ही साथ शरणोंकी स्थिति, शरणोंके अनुभव, शरणोंका सत्संग आदिका बखान किया है । इनके आध्यात्मिक वचन कुछ लंबे हैं और नीति पर लिखे हुए वचन सूत्रात्मक और सूक्ष्म हैं । इनके नीति विषयक वचनोंमें कुछ सुंदर सूत्र मिलते हैं । जैसे, "प्रणामके लिए ठहरो नही," "निंदासे भागो नहीं," "दूसरोंको छलो नहीं," "मनुष्योंसे नहीं मांगना," "मनको बांध कर रखना," "मदको कुचल देना," "सप्त व्यसनोंको जला देना," आदि ।

इन्होंने साधना-जीवनके विधि-निषेधात्मक भी कुछ वचन कहे हैं । साथ-साथ २२२ वचनोंमें ४०-५० गूढ़ात्मक वचन भी है । इन्हें अपने गूढ़ात्मक वचन प्रिय हैं और उन पर गर्व भी है । इन्होंने अपने एक वचनमें 'पुराने वाल्मीकमें नया सांप" आदि कह करके "इस गूढ़को खोलनेवाला कोई नही" ऐसा लिखा है ।

इनकी पत्नी बड़ी विदुषी थी । उसके भी अलग वचन हैं । इनका व्यवसाय नाईका था । साधना, साक्षात्कार, सिद्धि आदि पर कहे गये इनके अनुभव-पूर्ण वचनोंको देख कर लगता है यह उच्चकोटिके साधक थे और, आध्यात्मिक क्षेत्रमें जाति, कुल, व्यवसाय आदिकी कोई रुकावट नहीं थी ।

(८) 'कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन' अथवा 'कपिल सिद्ध मल्लिनाथय्या' इस मुद्रिकासे वचन कहनेवाले सिद्ध रामय्या सोन्नलिगेके रहनेवाले हैं । सोन्नलिगे को आज सोल्लापुर कहते हैं ।

उनका साधना क्षेत्र सोल्लापुर भी रहा होगा । क्योंकि उनके एक वचनमें, "एन्न भक्तिगागि सोन्नलिगेयल्लि कपिल सिद्ध मल्लिनाथनागि बंदिरि"[१] ऐसा आया है । इनके कई वचनोंमें 'श्री गुरु चन्न बसव' और 'चन्न बसवकी कृपासे शिवयोगी बना' आदि आता है । इससे लगता है चन्न बसव इनके गुरु थे । कहा जाता है कल्याणमें आकर चन्न बसवसे दीक्षा लेनेसे पहले अपने गांव सोन्नलगेमें अल्लम प्रभुसे सिद्ध रामय्याकी भेंट हुई थी । सिद्धरामय्या-की यह मान्यता थी कि तालाब, कुंए, धर्मशालाएं, मंदिर आदि द्वारा पुण्य लाभ करना चाहिए । इसीसे स्वर्ग मिलेगा । किंतु अल्लम प्रभुने इनकी आंखें खोलीं । उस समय तक सिद्ध-रामय्याने शिवयोगकी दीक्षा नहीं ली था यह

---

१. मेरी भक्तिके लिए सोनलिगेमें कपिलसिद्ध मल्लिनाथ बनकर आये

इस प्रकारके उनके अनेक वचन मिलते हैं। सिद्ध रामय्याकी भक्ति, उनकी निष्ठा, उनका निश्चित स्पष्टज्ञान, उनकी हृदयंगम वचन शैली, उनकी योगसाधना आदि उनके वचनोंसे फूटे पड़ते हैं। उनके वचनोंमेसे उनका अनुभव छलकता रहता है। इन सब गुण समुच्चयोंके कारण उन्होंने वचनकारोंमें बहुत ही उच्च स्थान पाया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

(६) सिद्धरामय्याकी तरह चन्नबसव भी बसवेश्वरके समकालीन हैं। उनके दाहिने हाथ-से हैं। अल्लम प्रभु, बसवेश्वर और चन्नबसव वचनकारोंमें त्रिमूर्तिके नामसे प्रसिद्ध हैं। अल्लम प्रभुका जीवन यदि वैराग्यका रहस्य-सा है तो बसवेश्वर 'भक्ति भंडारी' कहलाते हैं और चन्नबसव ज्ञानी। चन्नबसव बसवेश्वरके सभी साहसोंके सहायक और साथी ही नहीं, कभी-कभी प्रेरक भी होते थे। बसवेश्वरके लिंगैक्यके बाद शिवशरणोंके दो दल हुए। एक अल्लम-प्रभुके साथ श्री शैल गया तो दूसरा चन्नबसवके साथ उलवी। उलवी यल्लापुर तहसीलका एक गांव है। यल्लापुर तहसील कारवार जिलेमें हैं। चन्नबसवका लिंगैक्य उलवीमें ही हुआ। उनकी मुद्रिका 'कूडल चन्न संगमदेव' इससे लगता है कि वे भी कूडल संगमेश्वरके उपासक थे।

इनके कई वचन मिलते हैं। इनमेंसे अधिकतर वचन वीरशैवोंके आचार-धर्मका निरूपण करनेवाले हैं। वीरशैव संप्रदायके गहरे अध्ययनके लिए इनके वचनोंका अध्ययन पर्याप्त है। इनके वचनोंमें सांप्रदायिक कट्टरता, सांप्रदायिक आग्रह आदि पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है। एक वचनमें उन्होंने यहां तक कहा है, "जिसके शरीर पर लिंग नहीं है उसके घरका अन्न (शरणोंके लिए) गोमांस सदृश है।" इसमें शक नहीं वचनोंमें इस प्रकारकी सांप्रदायिकता, कट्टरता अपवादात्मक ही है। किंतु है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। 'शून्य संपादने' ग्रंथका अष्टमोपदेश 'चन्नबसव संपादने' नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कहा है कि उन्हें अल्लम प्रभुने आचार, भक्ति, ज्ञान आदिके विषयमें कहा है। इनके और तीन ग्रंथ हैं। उनके नाम हैं, करण हसुगे, मिश्रार्पण, मंत्रगोप्य। अल्लम प्रभु, बसवेश्वर, मोलिगये मारय्य आदि वचनकारोंने इनके गुणोंकी विशेषकर ज्ञानकी वहुत प्रशंसा की है। अल्लम प्रभुने इन्हें सत्य-सेवी संशय-रहित, निर्मल, घन शिवयोगी कहा है। बसवेश्वरने "इसने मेरा भ्रांतिजाल खोला है। इसके कारण मैं संग बसवण्ण कहलाया, "कहकर उनका बड़प्पन गाया है। गोऱूर सिद्धवीरणार्यने अन्य अनेक वचनकारोंके विषय में जैसा अपना मत दिया है वैसा ही चन्न बसवके विषयमें मत दिया है। वे कहते हैं, "यह सावधान ज्ञानी है।" मोलिगेय मारय्याने बसवेश्वरको भी कहीं-कहीं 'सकाम भक्त' कहा है, किंतु चन्न बसवके विषयमें "फल-पद विरहित

कहकर प्रशंसा की है।

बसवेश्वर, अल्लम प्रभु और चन्नबसव सदा-सर्वदा एक-दूसरेका बड़प्पन स्वीकार करते रहे हैं। इन तीनोंमें प्रत्येक मानो 'मुझसे तू बड़ा' कहनेकी होड़ लगा रहा है। यह तीनों अनुभम-मंटपके आधार-स्तंभ-से रहे हैं। यह तीनोंकी अन्योन्य-प्रीति आदर्श है। बसवेश्वरने ही चन्नबसवको दीक्षा दी थी। चन्न-बसवने लिखा है, "बसवेश्वरसे मैं सर्वांगलिंगी बना, मेरे श्रीगुरु बसवेश्वर हैं।" अल्लम महाप्रभुके आनेसे पहले ही चन्नबसवने अपने ज्ञान-चक्षुसे भविष्य देखकर बसवेश्वरसे कहा था, 'तुम्हारा धर्म-प्रताप जानकर महाजंगम अल्लम तुम्हें खोजते हुए यहां आ रहे है!"

चन्न बसवने जैसी भविष्यवाणी की थी वैसा ही हुआ अल्लम महाप्रभु सिद्धरामय्याको साथ लेकर कल्याणमें आये। वहांके शून्य-सिंहासन पर विराज-मान रहे। वहीं रहकर धर्म-कार्य करते रहे। इस बीचमें अल्लम प्रभु एक बार तीर्थ-यात्राके लिए कल्याण छोड़कर गये थे। यात्रामें ही 'जीवन मुक्तावस्था' प्राप्त कर पुन: अनुभव-मंटपके शून्य-सिंहासन पर लौट आये।

(१०) बसवेश्वरके प्रयाससे अनुभव-मंटप संघटित हुआ और अल्लम महाप्रभु उसके अध्यक्ष बने। अनुभव-मंटप शिवशरणोंका संघटन था। अल्लम प्रभु उसके अध्यक्ष महाजंगम थे। जंगमका अर्थ है शैव संन्यासी। अधिकतर जंगम एक जगह स्थिर होकर नहीं रहते।

वह बनवासीमें पैदा हुए थे। बनवासी आज कारवार जिलेके सिरसी तहसीलका एक गांव है। किंतु बहुत प्राचीनकालमें वहां कदंब-वंशके राजाओं की राजधानी थी। वह सुंदर और महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र भी रहा है। आज भी वहां कुछ मंदिर और शिलामूर्तियां देखने योग्य हैं।

अल्लम प्रभुके पिताका नाम नागवसाधिपति था और माताका नाम सज्जन-देवी। दोनों महान शिवभक्त थे। कन्नड़ साहित्यमें अल्लमको अत्यन्त गौरवसे अल्लम प्रभु, अल्लम महाप्रभु, प्रभुदेव आदि कहा है। उनकी मुद्रिका 'गुहेश्वरा' है।

अल्लम प्रभुने वैराग्य होते ही अनुभव किया, "बिना गुरु कारुण्यके मुक्ति नहीं होगी।" गुरुके विषयमें विचार करने लगे। उन्होंने निर्णय किया, "मेरे लिए अनुभिषदेव ही सच्चे गुरु हो सकते हैं।" वे गुरुके पास गये। गुरु समा-धिस्थ थे। मुग्ध थे। मौन थे। उपदेश करने वाले नही थे। दीक्षा दनेवाले नहीं थे। यह सब जानकर उन्होंने सोचा, "मेरी हृदयस्थ बोध-मूर्ति ही मेरा गुरु है"।

अल्लम प्रभुने अनुमिषदेवके चरणोंमें प्रणाम किया और चल पड़े। वहांसे वे शिवाद्वैत तत्त्वका निरूपण करते-करते, वचनामृतको कहते-कहते, जो सामने आया है उसे मोक्षमार्गका अनुयायी बनाते-बनाते देशभ्रमण करने लगे।

उन्होंने मुक्तायक्काको ज्ञानोपदेश दिया। सिद्धरामय्याको ज्ञान-चक्षु दिये। फिर कल्याणमें आकर अनुभव-मंटपके शून्य-सिंहासन पर विराजमान हुए।

शून्य-सिंहासन निर्विकल्प समाधिमें अनुभव आनेवाली नि.शून्य स्थिति है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटीके समरसैक्यसे यह सिद्ध होता है। संभवतः इसका प्रतीक मानकर कोई आसन बनाया होगा। किंतु यह कोई भौतिक अथवा लौकिक पद नहीं है, यह स्मरण रखना चाहिए।

प्रभुदेव कल्याण आये। उनके आगमन और स्वागतके लिए बसवेश्वरादि शिव-शरण पहलेसे तैयार थे। अल्लम महाप्रभुको देखकर वह फूले नहीं समाये। उन सबका रोम-रोम आनंदसे खिल उठा। बसवेश्वरका हृदय चहक उठा, "समुद्रको चंद्रमा ही प्राण है रे! सूखे तालाबकी कमलिनीको पानी ही प्राण है रे!........ .." उन्होंने कहा, "अपने पतिके आगमनके लिए प्राणोंकी आँखें बनाकर प्रतीक्षा कर रहा था मैं। वह अपने आप आकर मेरे हृदय सिंहासनपर विराजमान हो गया। मेरा जीवन सार्थक हो गया!" बसवेश्वरने ऐसे अनेक वचनोंसे उस उत्सवका वर्णन किया है। इन सब वचनोंमें बसवेश्वरने यह भी कहा है, "तुम्हारे पाद-प्राक्षालनके लिए मेरा आनंद-सागर लहरें मारता हुआ उमड़ आता है।"

उसी दिन बसवेश्वरके घरमें और एक बात हुई। एक ओर अल्लम महाप्रभुके स्वागतमें बसवेश्वरादि शिवशरण अपने आपको भूल गये थे। दूसरी ओर बसवेश्वरके घर दासोहम्‌के लिए अर्थात् प्रसाद-ग्रहणके लिए, अथवा भोजनके लिए आये हुए जंगम यजमानकी राह देखते देखते थक गए। उनको क्रोध आया। वे जल-भुन गए। उन्होंने कहा, "यह अल्लम जादूगर है। उनके पीछे पड़कर इस व्रत-भ्रष्ट बसवेश्वरने हमारा अपमान किया। जंगमोंका तिरस्कार किया। इस लिये इन दोनोंको इह-पर दोनों नहीं मिलेगा!"

यह सुन कर बसवेश्वरको बड़ा दु.ख हुआ और अल्लम प्रभुने उनको समझाते हुए कहा, "चलो हम देव और मृत्यु लोकका अतिक्रमण करें, उससे परे चलें!" कहकर उनका समाधान किया।

बसवेश्वरने प्रभुदेव तथा अन्य शिवशरणोंके साथ दासोहम् किया। बादमें अन्य शरणोंने प्रभुदेवको श्रद्धांजलियां दी। उनका स्तोत्र गाया गया। यह सुनकर प्रभुदेवने कहा, "इन स्तुति स्तोत्रोंसे क्या होता है? निःशब्द ब्रह्म बातोंकी बाढ़से कैसे प्राप्त होगा? इस लोकमें आनेका सेवा-कार्य[1] हो गया। तुम अपने आपको जानकर 'ऐक्य' साध लो!"

---

१. इस वचनमें अनुवादमें आए हुए 'सेवा-कार्य' के अर्थमें मूल शब्द है—ಕಾಣಿಹ ಮಾಣಿಹ अनेक अर्थवाला शब्द है जैसे सेवाकार्य, व्यवसाय, मंदिर, मठ, आदि।

प्रभुदेवके विषयमें अनेक वचनकारोंने अनेक बातें कही है। उनकी झलक दिखानेमें ही अनेक पृष्ठ भी कम ही पड़ेंगे। संभवतः ऐसी एक दो पुस्तकें भी कमहों। उनके वचनोंकी संख्या भी कम नहीं हैं। सभी वचन-कारोंने उनकी आध्यात्मिक स्थितिका मुक्त-कंठसे वर्णन किया है। और प्रभुदेव ने भी आध्यात्मिक जीवनके अन्यान्य पहलुओंका विवेचन-विश्लेषण करने वाले अनंत वचन कहे हैं। 'शून्य संपादने' पोथीमें उन्हीके वचनोंकी संख्या सबसे अधिक है। उनके वचनोंमें गूढ़ात्मक भी हैं। बिना भाष्यके उनका अर्थ समझना असंभव है। उनके वचनों पर उसी समयके तथा बादके टीका-कारोंने तथा भाष्यकारोंने टीकाएं लिखी हैं, भाष्य लिखे हैं। इन टीकाओं और भाष्योंकी सहायतासे उन वचनोंका अर्थ समझ सकते है। एक बार उनके इस प्रकारके वचनोंका अर्थ लगने पर वे नित्य नूतनसे लगते हैं। नित्य नया अर्थ उनमेंसे झलकने लगता है। ऐसे वचनोंको कन्नड़में 'मुंड़िगे' कहते हैं।

शून्य-सिंहासन से अनुभव-मंटपके शिवशरणों पर राज्य करते-करते प्रभुदेव फिरसे एक दिन भ्रमणके लिए चल पड़े। इस बार शिवकंची, रामेश्वर, महा-बलेश्वर, सौराष्ट्र, सोमनाथ आदि तीर्थ स्थानोंका भ्रमण करते-करते वे केदार गये। वहांसे लौटते समय किसी गुफामें उन्हें शिवयोगका पूर्णानुभव हुआ। क्योंकि उस अनुभवका अद्भुततम शब्द-चित्र जो उनके वचनोंमें पाया जाता है, उसके पहले कभी नहीं मिलता। वे फिर अनुभव-मंटपमें रहने लगे। जब बसवेश्वर कल्याणसे चले गये, शिवशरण दो गुटोंमें बंट गये, तब एक गुट के साथ वे श्री शैल गये। वहीं वे लिंगैक्य हुए।

उनके वचनों पर 'प्रभुदेवर वचन' ऐसा एक सटीक ग्रंथ हैं। वह कुमार जंबुनाथ देवने लिखा है। अपने शिष्य जक्कणको परमार्थ बोध करानेके लिए लिखा है। उस पुस्तकके लिखनेका संकल्प बड़ा लंबा-चौड़ा है। इस ग्रंथ में अल्लम प्रभु के ६७१ वचन हैं। वे सब छोटे और भाव-गंभीर हैं। उनमें गूढ़ात्मक वचन भी बहुत हैं। उन पर अच्छा भाष्य भी है। उस भाष्यकी सहायतासे उन वचनोंको समझ सकते हैं जिन वचनोंका भाव समझ में नहीं आता। वे केवल रेशमी धागोंकी उलझन मात्र है! कुछ भी हो उनके वचनोंमेंसे वचनकारकी विरक्ति, उनका ज्ञान, उनका आत्म-विश्वास, उनका अनुभव, आदि अपने आप फूट पड़ता है, मानों खिलते हुए फूलका सुवास उस फूलमें समा न सकनेसे फूट पड़ा हो।

(११) जैसे प्रभुदेव अथवा अल्लम महाप्रभु अनुभव-मंटपके अध्यक्ष थे, वैसे ही बसवेश्वर उसके संस्थापक थे। बसवेश्वरने धर्मक्रांतिका ध्वज उठाया और कर्नाटकके सब धर्मवीर उसके नीचे आकर इकट्ठे हुए जैसे सदैव

किसी क्रांतिके समय होता है। बसवेश्वरने प्रभुदेव और चन्नवसवकी सहायता से कर्नाटकके धर्मवीरोंको संघटित किया। उनका कार्य इतना प्रभावशाली रहा है कि इस युगमें भी जब हर बातको वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे देखा जाता है उनको वीर शैव संप्रदायका संस्थापक माना जाता है। वस्तुतः वीरशैव मत उनके जन्मसे पहले कई शतमानोंसे विद्यमान था। सिंगिराज पुराण, बसव पुराण आदि पुराणोंको देखने से ज्ञात होता है कि वे बिज्जल राजाके प्रधान मंत्री थे। बिज्जल राजाका काल शा० श० १०७६ से १०८८ था।

बसवेश्वर मंत्री और दंडनायक थे, इसका उल्लेख केवल पुराणोंमें मिलता है। किंतु इस विषयमें अबतक कोई शिला-लेख नहीं मिला है। कर्नाटकके इतिहासमें शिलालेखका आधार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार होता है। बसवेश्वरके जीवन कालके एकाध शतकके बाद लिखा हुआ एक शिला-लेख मिला है। उसमें बसवेश्वरके नामका अत्यन्त गौरवपूर्ण उल्लेख है। किंतु उससे भी उनके मंत्री होनेकी बात सिद्ध नहीं होती। संभवतः किसी शिला-लेखमें उनके मंत्री होनेकी बात इसलिए न दी गई हो कि उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्रमें जो कार्य किया है वह उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। उनके मंत्री होनेका उल्लेख सूर्यको चिराग दिखानेके समान था। कुछ भी हो यह एक वास्तविक सत्य है किसी शिलालेखमें ऐसा उल्लेख नहीं है।

अस्तु, बसवेश्वरका जन्म-स्थान बागेवाडी है। वह बीजापुर जिलेमें पड़ता है। उनके पिताका नाम मादरस था और माताका नाम मादलांबिका। वे शैव ब्राह्मणके कुलमें पैदा हुए थे। संभवतः उनका जन्म शा० श० १०५३ में हुआ हो।

जब इनके माता-पिताने इनके आठवें सालमें उपनयन अर्थात् जनेऊकी तैयारी की तो बालकने कहा, "इसकी कोई आवश्यकता नहीं", और ये तपश्चर्या-के लिए चल दिये। वहांसे वह कूडल संगमपर गये, जहां कृष्णा और मलापहारीका संगम हुआ है। वहांपर श्री जातदेव मुनि रहते थे। वह महान तपस्वी थे। घोर वीरशैव थे। ये उन्हींके पास रहे। जातदेव मुनिने इनको दीक्षा दी। ये वहां बीस-पच्चीस वर्ष रहे। साधना की। विद्याध्ययन किया।

उन दिनोंमें उनकी बड़ी बहन नागलांबिका भी बराबर उनके साथ रही, और वहीं उनकी सेवा सुश्रूषा करती थी। एक बार संगमेश्वर क्षेत्रमें कई विद्वान् ब्राह्मण आए थे। उन सबसे बसवेश्वरका शास्त्रार्थ हुआ। उस शास्त्रार्थ में बसवेश्वरकी जीत हुई। सभी विद्वान् ब्राह्मण निरुत्तर हुए। इससे उस क्षेत्रमें बसवेश्वरकी कीर्ति फैल गयी।

उन दिनों कल्याणमें बिज्जलका राज्य था। उनका मंत्री बसवदेव था।

उन्होंने अपनी पुत्री गंगांबिका बसवेश्वरसे ब्याह कर दिया। उन्होंने बसवेश्वरको कल्याणमें बुलाया। बसवेश्वर कल्याण गये। वह कायकके पक्षपाती थे। भला वह श्वसुर-गृहमें कैसे पड़े रह सकते थे? मुफ्तका खाना उनके स्वाभिमानी हृदयने स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता थी, 'कायकही कैलास हैं।' कायककी प्राप्ति ही लिंगार्पण करने योग्य है। बिना लिंगार्पण किये वह कैसे खा सकते थे? इसलिए वह किरानी बने।

बसवेश्वर किरानी बनकर अपना कायक कर रहे थे। तभी एक पुरानी लिपिका कागज़ बिज्जल राजाको मिला। वह कोई भी पढ़ नहीं सकता था। आखिर बसवेश्वरको बुलाया गया। बसवेश्वरने वह कागज़ पढ़ा। उस कागज़में किसी युगमें भूमिमें छिपाकरके रखी बड़ी भारी संपत्तिकी जानकारी थी। बसवेश्वरकी सहायतासे बिज्जलको वह अपार संपत्ति मिली। इससे राजा संतुष्ट हुए। उन्होंने बसवेश्वरको अपना मंत्री बनाया। दंडनायक भी वही बना। यह सब अपने आप चलकर उनके घर आया था। बसवेश्वरने उसे स्वीकार किया, और मंत्री-पदकी प्राप्तिको भी लिंगार्पण कर दिया। वह सब गुरु-लिंग-जंगमपूजाकी दक्षिणा बनी। इस तरह उन्होंने मंत्री बननेके बाद भी शरीर परिश्रम और अपरिग्रहको निभाया। उन्होंने कहा है, "मैं जो परसेवा करता हूं वह दासोहके लिये। बीबी-बच्चोंके लिए नहीं। तेरा दिया धन तेरे और तेरे शरणोंके लिए व्यय न कर और किसीके लिए व्यय करूं तो तेरी कसम!"

बसवेश्वरकी धार्मिक भावना शुक्ल-पक्षके चंद्रमाकी तरह खिलती गयी। देशके चारों ओरसे हजारों लोग वहां आने लगे। 'शून्यसंपादने' में लिखा है, उनके यहां आकर रहनेवाले शिवशरणोंकी संख्या एक लाख बानवें हजार थी (शू. सं० पृष्ठ ३२०) इसमें कोई शक नहीं कि इन सबके लिए बसवेश्वर ही सूत्रधार थे। इन्हीं शरणोंके द्वारा बसवेश्वरने शैवधर्म-प्रवर्तन किया।

बिज्जल जैन था। उनके अन्य अनुयायियोंने उनके कान भरना शुरू किया। पहले-पहल बिज्जलने उस ओर ध्यान नहीं दिया। बसवेश्वरने भी अपनेपर किये गये आरोपोंका साधार खंडन किया। इससे बिज्जलके मनमें भी कोई मलिनता नहीं रही। बसवेश्वरका धर्म-कार्य चलता रहा। बसवेश्वर कहते थे, "हम सब एक ही ईश्वरकी संतान हैं। इससे हम सबका बंधुत्व स्वाभाविक है। इस प्रकार वे जात-पातका बंधन तोड़ते जाते थे। मानव मात्रको बंधुत्वके सूत्रमें बांधते जाते थे। उनका सवाल था, "बंधु-भावमें कोई ऊँचा और कोई नीचा कैसे?" जैसे-जैसे उनका प्रचार बढ़ता गया, अन्य अनेक जाति, पंथ आदिके लोग शिव-दीक्षा लेने लगे। अस्पृश्य लोग भी आकर शिव-दीक्षा लेने लगे।"

पहलेसे भी वचनकारोंमें अस्पृश्य जातिके लोग थे। शिव-दीक्षा लिए हुए शरणों में जात-पातका कोई बंधन नहीं होता था। "जिसके बदनपर शिवलिंग है वह शिवका ही स्वरूप है," यह भावना थी। इन्हीं दिनोंमें हरलय्य और मधुवय्य नामक चमार और ब्राह्मण जातिके दो सज्जनोंने अपना जाति-बंधन तोड़कर शैव-दीक्षा ली। ब्राह्मण शिवशरणने कहा, "ब्राह्मणसे चांडाल तक सब शिवशरण एक हैं!" और अपनी पुत्र-वधूके रूपमें चमारकन्याको स्वीकार किया! चन्नबसवने खुले शब्दोंमें इसका समर्थन किया। परिणामस्वरूप समाजमें तहलका मच गया। धर्म-ध्वजोंने शोर मचाया, "यह अधर्म है। इससे वर्णसंकर हो जाएगा।" बिज्जलके कान भरने वालोंको एक नया साधन मिला। उन्होंने बिज्जल को भड़काया। राजाने हरलय्य-मधुवय्यको अत्यंत क्रूरतासे मरवा दिया।

इससे शिवशरण भड़के। उन्होंने बिज्जलको इसकी सजा देनेका निश्चय किया। अहिंसामूर्ति बसवेश्वरने अपने अनुयायियोंको समझानेकी पराकाष्ठा की। किंतु विकृत मस्तिष्कमें विवेकका उदय नहीं हुआ। उनके उपदेशसे कोई काम नहीं बना। बसवेश्वरने देखा, "अब मेरे वचनोंका कोई प्रभाव नहीं रहा। मेरा अवतारकार्य समाप्त हुआ।"

वे कल्याण छोड़कर कूडल संगम चले गये। उनके कल्याणसे चले जाते ही बिज्जल राजाका वध कर दिया गया। यह सुनते ही बसवेश्वरने "एक शरणके अभिमानसे जगदेवने बिज्जलका वध किया होगा······।" आदि कहा। जगदेव तो बसवेश्वरके अनुयायी थे और बिज्जल उनका—भौतिक जगतका स्वामी। इसलिए संभवतः उन्होंने अपने अनुयायियोके पापका प्रायश्चित करना आवश्यक समझा हो। उन्होंने शिवसे प्रार्थनाकी, अब बस कर मेरे बाबा। मुझे (अपने पास) स्थान दो। यह बसव (तेरे चरणोंमें) आया·········" कह कर नाशवान शरीरको संगममें त्याग कर वे लिंगैक्य हो गये।

आगमोक्त शैव-मत कर्नाटक में अत्यन्त प्राचीन कालसे था। किंतु बसवेश्वर के कालमें षट्स्थल, अष्टावरण, पंचाचार आदिसे युक्त वीर-शैवमत उभर आया। बसवेश्वरके विषयमें शून्य संपादनकारोंने लिखा है, बसवेश्वरने अपने समयके शैव, वैष्णव, चार्वाक, बौद्ध, क्षपण, नैयायिक, प्रभाकर, मीमांसक, वैशेषिक, कापालिक, सांख्य, कर्मवाद, कालवाद, मंत्रवाद, मायावाद, कोलमत, कालमुख, शाक्त, सौर, और भाट्ट गोमत ऐसे बीस मतोंका खंडन करके वीर-शैव मतका प्रचार किया। अन्य सब वचनकारोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह स्वाभाविक ही है। किसी वचनकार ने कहा है, "एक बार बसवेश्वरके घर में प्रवेश किया कि उस व्यक्तिका उद्धार अनिवार्य है।"

श्री बसवेश्वरका कार्य-क्षेत्र और प्रभाव अत्यंत विस्तृत था। केवल धार्मिक क्षेत्रमें ही नहीं, अन्य क्षेत्रोंमें भी उनका अभूतपूर्व प्रभाव पाया जाता है। वह केवल तत्त्व-चिंतक नहीं थे। प्रयोगकर्त्ता भी थे। उन्होंने तत्वज्ञानसे धर्माचरणपर, धर्माचरणसे नीतिकी प्रस्थापना पर, नीतिकी प्रस्थापनासे समाज-सुधारपर, और समाज-सुधारसे वैयक्तिक चारित्र्य-शुद्धि पर अधिक जोर देनेमें अपनी दूर दृष्टिका ही परिचय दिया है। इसी प्रकार तत्त्व-चिंतनमें भी भक्ति, ज्ञान, कर्म, ध्यान आदिका समन्वय करके सर्वार्पणजन्य साक्षात्कारके स्वानुभव पर अधिक जोर देना उनका वैशिष्ट्य था। इसमें संशय नहीं कि अंतिम समय तक उनको सभी शिवशरणोंका भी संपूर्ण सहयोग मिला। फिर भी जो महान कार्य हुआ, उसके सूत्रधार वही थे। उस युगमें पाई जानेवाली उस महान धर्मजागृति और धर्म-प्रवर्तनका मध्य-बिंदु वही थे। उनके जीवनकी प्रत्येक घटना उनके विनयातिशय, उनकी सर्वात्म प्रतीति, उनकी एकांत निरहेतुक भक्ति, उनकी उज्ज्वल कर्तृत्वशक्ति, धर्माचरणमें पाई जानेवाली उनकी दक्षता आदिका सुंदरतम प्रदर्शन करती है। उनके जीवनकी छोटी-छोटी घटनाओंके विषयमें जितना लिखा जाय उतना थोड़ा है।

एक बार उनके घरमें चोर आये। उन चोरोंने बसवेश्वरकी पत्नीके पहने हुए गहने उतारनेके लिए हाथ डाला। वह बेचारी चीखी। सारी बातें बसवेश्वरकी समझमें आनेमें देर नहीं लगी। उन्होंने कहा, "अरी! अपने गहने उतार कर उसे दे डाल। नहीं तो छीनते समय उसके हाथमें दर्द होगा पगली! आखिर वह भी कूडल संगम देवका ही रूप है!"

बसवेश्वरकी अहिंसावृत्ति और अस्तेयवृत्तिका यह रूप था। वैसे ही सर्वात्मभाव और अपूर्व सहनशक्तिका भी इसमें दर्शन होता है।

उनके वचन, साहित्यकी दृष्टिसे मानो मधु-मिश्रित दूध ही हैं। उनके वचनोंमें भक्तिके सभी भाव पाये जाते हैं। उनकी दृष्टिसे नवविध भक्तिका अर्थ है— नित्य नये-नये भावांकुरोंसे पल्लवित होने वाली भक्ति। बसवेश्वरके वचनोंमें जिस प्रकार उनके अपने जीवनके अन्यान्य पहलुओंका प्रतिबिम्ब पड़ता है उतना और किसी वचनकारका नहीं। जैसे उनके वचन साहित्य-सागरकी उमड़-उमड़ कर आनेवाली तरंगे हैं, वैसे ही उनका जीवन खिले हुए सुन्दर गुण-समुच्चयकी वाटिका है। वे कन्नड़ भाषाके अनुपम, अद्‌भुत, अत्युच्च गुणोंके सजीव मूर्तिमान आदर्श हैं। उनके सामने प्रत्येक कन्नड़ भाषी मनुष्यका मस्तक नम्रता और कृतज्ञतासे झुका हुआ रहेगा।

उनके करीब १,००० वचन प्रकाशित हुए है। उनमें आध्यात्मिक विचारोंके साथ नैतिक और सामाजिक विचारवाले वचन भी बड़े मार्मिक हैं। उन वचनों-

की साहित्यक उत्कृष्टताका सवाल ही नहीं उठता। उसमें जो विचार हैं, वह अत्यंत उद्बोधक हैं। उनकी भाषा सरल है। उनके विचार केवल वीरशैवोंके लिए ही नहीं, समग्र मानव-कुलको दिव्यत्वकी ओर पथ-प्रदर्शन करनेमें समर्थ हैं। उनके वचन किसी भी भाषाके साहित्यमें अमर हो सकते हैं, इसमें संशय नहीं।

(१२) वर्तमान कल्याणसे ६ मीलपर "मोलिगेकेरी" नामका एक छोटा-सा देहात है। वहाँ मोळिगेय मारय्य नामके प्रसिद्ध शिवशरणकी गुफा है। कहते हैं वह गुफा काफी बड़ी है और आज भी जैसीकी तैसी विद्यमान है।

हमारे नायक मोळिगेय मारय्य पाठकोंके पूर्वपरिचित महादेवी अम्माके पति हैं। उनके पूर्वाश्रमके नामका कोई पता नहीं चलता। वे लकड़ी काट करके उसके गट्ठर बेचकर अपनी जीविका चलाते थे। उनके इसी उद्योगके कारण उनको ऊपरका नाम मिला था।[1] अपने कायकसे जो कुछ प्राप्ति होती, उससे दासोह करते।

वह अपने धर्माचरणमें दक्ष थे। अत्यंत नियमित रूपसे गुरु-लिंग-जगम-पूजा करते। 'शून्य सम्पादने' का तेरहवाँ अध्याय 'मारय्यन सम्पादने' नामसे है। उसमें लिखा है—यह काश्मीरके राजा थे। यदि यह सत्य है तो जैसे इनका त्याग महान् एवं अपूर्व कहना होगा वैसे ही यह भी मानना होगा कि बसवेश्वर-की कीर्तिकी सुगन्ध काश्मीर तक फैली थी। यह असम्भव नहीं है। इससे कुछ काल पूर्व चालुक्य विक्रमकी कीर्ति सुनकर बिल्लण कवि काश्मीरसे कर्नाटक आये थे। वैसे ही बसवेश्वरकी कीर्ति सुनकर ये भी आये हों। कविचरितकारने इनके विषयमें लिखते समय लिखा है, "ये मांडव्य पुरके राजा थे।" उनकी धर्मपत्नीसे जो बातें होती है उन बातोंमें भी वह कहती है, "तुम सकल देश, कोश, वास, भंडार, छोड़कर' आनेकी बात कहकर "त्यागका अहंकार मत करो!" पत्नीकी कही हुई इन बातोंसे भी उनके त्यागकी कल्पना होती है।

इनके जीवनकी एक घटना बड़ी उद्बोधक है। एक बार कुछ शिवशरण दासोहके लिए उनके घर गये। वह चावलकी 'गंजी' पी रहे थे। गजीका अर्थ है, चावलका पतला-सा भात। थोड़े-से चावलके दाने मिलायी हुई मांड! उन्होंने वही शरणोंको खिलाया। शिव शरणोंने अमृत मान कर उसका सेवन किया। बसवेश्वरके पास आ करके उस गंजीकी बात कहकर उसकी तारीफ की!

सुनकर बसवेश्वर पसीजे। चोरी-चोरी उनके घर गये। उनसे और उनकी पत्नीसे छिपाकर बसवेश्वरने कुछ धन उनके घरमें रखा। कुछ दिनके बाद जब धन हाथ लगा तो उन दोनोंको इस बातका रहस्य जाननेमें कोई देर नहीं

---

१ मोळिगे=लक्कडके गट्ठर; मारय्य=बेचनेवाला।

लगी। उन्होंने जंगमोंको बुलाकर वह सब धन दे डाला। यह जान करके वचनकारोंने उन्हें 'निराशा महात्मा' कहा। बसवेश्वरने उन्हें 'धनमें शुद्ध' ग्रोर 'प्राणमें निर्भय' कहा है।

किंतु मारय्याने बसवेश्वरको इस विषयमें क्षमा नहीं किया। उन्होंने कहा, "यह बसवेश्वरके ग्रहंकारका द्योतक है!" वे इतने ग्रधिक निस्पृह थे कि उनके स्वतंत्र वचन भी नहीं मिलते। किंतु वचन-शास्त्र-सारमें जहाँ-कहीं वे संदर्भा-नुसार ग्राये है वे ग्रपूर्वताके साथ चमके हैं।

इनकी साधना एवं ज्ञान-प्राप्तिके विषयमें पहले ही महादेवी ग्रम्माके जीवन-प्रसंगमें हम कह ग्राए हैं।

साम्प्रदायिक स्वरूप अथवा षट्स्थल-शास्त्र

पिछले दो अध्यायोंमें वचन-साहित्यका बहिरंग परिचय दिया गया है, अर्थात् साहित्यका स्वरूप, साहित्यकारोंका व्यक्तित्व, जीवन आदिके परिचयके बाद उसके अन्तरंगका परिचय पाना आसान होगा। उनके अन्तरंगके परिचयके अन्तर्गत उनकी चिंतन-पद्धति, उनकी परम्परा, उनका साध्य, साधन, धार्मिक तथा नैतिक जीवनके आचार-विचार आदिका सांगोपांग विवेचन और विश्लेषण आता है। वचन-साहित्य कहते ही, वह वीरशैवोंका सांप्रदायिक साहित्य है इस प्रकारकी भ्रांत धारणा पाई जाती है। और आज सांप्रदायिक कहते ही सब नाक-भौं सिकोड़ने लग जाते हैं। यहाँ सांप्रदायिक शब्दका अर्थ एक विशिष्ट उपासनात्मक पद्धतिसे है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसके लिए सम्प्रदाय शब्दके स्थान पर अनुगम शब्द अधिक अच्छा रहेगा। अनुगमका अर्थ है अनुकरणपरम्परा। सम्प्रदायका भी वही अर्थ है।

अस्तु, इसमें संशय नहीं कि वचन-साहित्यमे एक विशिष्ट प्रकारकी उपासना-पद्धति है। उस उपासना-पद्धतिका अनुकरण करनेवालोंका अलग समूह है। उस समूहकी अपनी विशिष्ट परम्परा है। इसको वीरशैव सम्प्रदाय कहते है। वीरशैवोंकी इस उपासना-पद्धति और उनकी परम्पराको वीरशैवानुगम भी कह सकते हैं। यह वीरशैवानुगम क्या है, यह जाननेके लिए वचन-साहित्यके अध्ययनकी आवश्यकता है। यह अध्ययन अनिवार्य है। इतना ही नहीं, यह भी निःशंक होकर कह सकते है कि वीरशैवानुगमके सांगोपांग अध्ययनके लिए वचन-साहित्यके अध्ययनके पश्चात् अन्य किसी शास्त्रके अध्ययनकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वचन-साहित्यमें वीरशैवानुगमके अलावा अन्य कोई विषय है ही नहीं। वचन-साहित्यमें वीरशैवानुगमका सम्पूर्ण ज्ञान है। साथ-साथ मानव-कुलके आंतरिक जीवनको ज्योतिर्मय कर देनेवाले त्रिकालाबाधित सत्-तत्त्वका बोध भी है। उस बोधका विवेचन करनेसे पहले उनकी उपासना-पद्धतिका विचार करें। इससे वचनकारोंकी चिंतन-पद्धतिमें आनेवाले पारिभाषिक शब्दोंका समुचितज्ञान होगा। तत्पश्चात् उनके सूक्ष्म चिंतनको समझनेमें अधिक सुविधा होगी।

वचनामृतके अठारहवें अध्यायमें इस विषयके वचन आये हैं। उस स्थान पर भी षट्स्थल-शास्त्रका कुछ विवेचन किया है। इस अध्यायको समझनेमें वे वचन और उन वचनोंको समझनेमें यह अध्याय सहायक होगा। इन सब बातों-

की गहराईमें जानेसे पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है कि वचन-साहित्य-की नींव पवित्र आत्माओंके स्वानुभव पर निर्भर है। इसलिए उनकी उपासना-पद्धति, उनकी साधना-पद्धति आदि अन्य लोगोंसे भिन्न होने पर भी यह वचन समग्र मानव कुलके लिए एक-से पवित्र हैं तथा उनका ध्येय भी सम्पूर्ण मानव-जातिके लिए समान आदरणीय और अनुकरणीय है। शिव-शरणोंने उपासना के लिए 'षट्स्थल' मार्ग अपनाया है। इस अध्यायमें षट्स्थल-शास्त्रका ही विवेचन किया गया है।

षट्स्थल-शास्त्रको समझनेसे पहले और एक बातको ध्यानमें रखना आवश्यक है। और वह बात यह है कि शिव-शरणों की उपासना-पद्धति अवैदिक नहीं है। इसमें संशय नहीं कि वचनकार स्वानुभवको ही अधिक महत्व देते थे। साक्षात्कारको ही प्रमाण मानते थे। उन्होंने समय-समय पर वेद, उपनिषद्, आगम, शास्त्र, पुराण आदिका भी विरोध किया है। वचनामृतमें ऐसे वचन भी आये हैं। फिर भी उनका आचार-विचार, तत्त्व-ज्ञान सब कुछ शैवागमोंकी सीमाके अन्दर है। शैवागम और वचन शास्त्रका अन्योन्य सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, वचन-शास्त्रका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा स्रोत भी शैवागम है ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। शैवागम ही वचनकारोंका स्फूर्ति-स्थान है। वही उनकी प्रेरणाका मूल है। और उनके पारिभाषिक शब्द भी वही हैं जो शैवागमोंमें आये है। 'शैव सिद्धांत परिभाषा'मे लिखा है, "श्रूयते हि वेदसारः शिवागमः।" किंतु वचनकारोंने इसमें देश, काल, परिस्थितिके अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। और यह किसी भी सजीव साधना-पद्धतिकी विशेषता होती है। गीतामें इस प्रकारका परिवर्तन मिलता है। वैदिक कालमे अग्निद्वारा होम-हवन होता था। अग्निमें अन्यान्य वस्तुओंकी आहुतियाँ पड़ती थीं। इसीको यज्ञ कहा जाता था। किंतु भगवद्गीतामें यज्ञकी कल्पनामें परिवर्तन पाया जाता है। गीतामे आत्म संयम, प्राणायामादिको भी यज्ञ कहा गया है। उनको भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। इन सब क्रिया-कलापोंको उतना ही पवित्र माना गया है। अर्थात् यह परिवर्तनकी परम्परा भी वचनकारोंकी अपनी नहीं है। यह हमारी पूर्व-परम्परा रही है।

वचन-साहित्यका मूल, अथवा वचनसाहित्यकी परम्परा शैवागमोंके द्वारा वेदतक पहुंचती है। किंतु वचन-साहित्यका सीधा संबंध वेदसे नहीं है। वह शैवागमों तक सीमित है। यहाँ यह एक प्रश्न उठता है कि शैवागम अथवा अन्य किसी आगमका वेदोंके साथ क्या संबंध है? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। किंतु इस पुस्तकका इस प्रश्नसे कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ इतना जान लेना पर्याप्त है कि शैवागम तथा अन्य कोई भी आगम वेद-विरुद्ध नहीं है तथा वह

कितना ही प्राचीन क्यों न हो, वेद और उपनिषदोंसे अधिक प्राचीन नहीं है। उसके बादका ही है। भारतीय आध्यात्म-जगतमें वेदोंका स्थान सर्वोपरि है। वेद स्वयंसिद्ध हैं। अत्यंत प्राचीन कालसे मानव-कुलके प्रत्येक समूहमें पवित्र आत्माओंने आत्यंतिक सत्यका साक्षात्कार किया है। उस अमृतानुभवके दैवी उन्मादमें उन्होंने अपने अनुभवका वर्णन किया है। तत्पश्चात् लोगोंने उस अनुभवको तथा उनकी वाणीको ही अपने धार्मिक आचार-विचारका आधार माना है। वेद भी ऐसी ही दैवी वाणी है। वेदमें जो ज्ञानके बीज हैं उनका संग्रह और विकास उपनिषद् हैं। वेद और उपनिषदोंका सम्बन्ध दूध और घी-का-सा है। हम दूधको जमाकर उसको मथते हैं। उसमेंसे मक्खन निकालते हैं। मक्खनको पिघलाकर घी बनाते हैं। वैसे ही वेदका अध्ययन और उसके मंथनसे उपनिषद् नामका ज्ञान निकला है। उपनिषद् वेदांतर्गत ज्ञान है और आगम उस ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधना-पद्धति।

'आगम' इस संस्कृत शब्दका मूल अर्थ है आना। किंतु क्या आना? कहाँसे आना? इसका उत्तर है, परम्परागत आया हुआ शास्त्र! 'गम' यह धातु 'गत्यर्थ' है। इससे इसका अर्थ ज्ञान भी होता है। इसको 'आ' का उपपद लगानेसे 'पूर्व-ज्ञान' ऐसा अर्थ हुआ। अर्थात् आगमका अर्थ 'परंपरागत चलता आया हुआ' और 'पूर्व ज्ञान' है, अथवा 'पूर्व परंपरागत चलता आया हुआ ज्ञान।' पौष्कर संहितामें कहा गया है 'आप्तोक्तिरागमस्सोऽपि' अर्थात् 'आगम आप्त वचन है!' यहाँ "आप्त" का अर्थ है "पर शिव"[1] इस अर्थमें वेद भी आप्त वचन है। कई बार वेदको भी आगम कहा गया है। साथ-साथ कहीं-कहीं 'निगमागम' भी कहा गया है। यहाँ 'निगम' का अर्थ 'ज्ञान' और 'आगम' का अर्थ है (उस ज्ञानको प्राप्त करने का) 'साधना-शास्त्र'।

अर्थात् आगमका अर्थ परंपरासे चलता आया हुआ साधना-शास्त्र है। इन्हे तंत्र भी कहते है। 'वेदागम' अथवा 'निगमागम' अथवा 'श्रुतितंत्र' कहनेकी परिपाटी है। सूक्ष्मागममें यह कहा गया है। तंत्रके संबंधमें कहा गया है, "तन्यते विस्तार्यते ज्ञानं अनेन गायते च इति तंत्रम्।"[2] यह तंत्र शब्दकी परिभाषा है, अथवा उसका निरुक्त है। इसी प्रकार कामिकागममें कहा गया है, "तत्व और मन्त्र मिलकर अनेक अर्थ होते हैं। इससे मनुष्यकी रक्षा करनेवाले शास्त्रको तंत्र[3]

---

१. मृगेंद्रागमकी प्रस्तावना।

२. जिस शास्त्रसे ज्ञानका प्रसार होकर मानवका उद्धार होता है वह तंत्र है।

३. तनोति विपुलानर्थान् तंत्रमंत्रसमन्वितान्
त्राणंच कुरुते यस्मात् तंत्रमित्यभिधीयते॥

कहते हैं !" तन्त्रोंको कहीं-कही 'श्रुति' भी कहा गया है। मनुस्मृतिके प्रसिद्ध भाष्यकार श्री उलूक भट्टने अपने भाष्यमें आगमांतर्गत तन्त्र भागके विषयमें लिखा है, "वैदिक और तांत्रिक नामकी दो श्रुतियाँ हैं।[1]" वैसे ही प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ भागवतमें कहा है कि "कलियुगमें तंत्रोक्त पद्धतिसे केशवकी पूजा करनी चाहिए।" देवी भागवतमें तन्त्र-शास्त्रको 'वेदांग' कहा है। शाक्त आगमोंमें एक कुलार्णव तन्त्र है। उसमें कहा है, "शाक्त तंत्र वेदात्मक है।"[2] इसी प्रकार प्रसिद्ध शैव सैद्धांतिक श्री नीलकंठने, जो चौदहवी सदीमें हुए हैं, स्पष्ट कहा है, "वेद और शिवागम एक है,इसमें भेद नहीं करना चाहिए।"[3] उन्होंने ब्रह्म-सूत्रों पर भी भाष्य लिखा है। उसी प्रकार मतग परमेश्वरागममें कहा गया है "आगम शिवके ही वचन है, स्वयं प्रमाण है।"[4] यह सब प्रमाण कहते हैं कि शैवागम अवैदिक नही है। अर्थात् शैवागमसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा पाकर लिखे गये वचन अवैदिक नहीं हैं। तथा वचनकारोंकी साधना-प्रणाली भी अवैदिक नहीं है।

आगम अथवा तंत्रोंका सामान्य रूप एक है। वह वेद और उपनिषदोंको अपना आधार मानते हैं। आगमोंका अन्तिम साध्य भी वेद तथा उपनिषदोंकी तरह मुक्ति ही है। जन्म-मरण रहित मुक्ति ही इन सबका अन्तिम साध्य है। किंतु आगम साध्यसे अधिक साधनाका विचार करते हैं। वह मुक्तिको ही साध्य मानकर "वह कैसे प्राप्त करनी चाहिये", इसी पर अपना लक्ष्य केंद्रित करते है। इसी विषयमें कहते है। इसीका "विवेचन" विश्लेषण करते हैं। आगमोंमें इष्ट देवता तथा उपासना आदि साधना-विषयक भिन्नताके कारण कई भेद हुए हैं। जैसे, 'शाक्त', 'वैष्णव' तथा 'शैव' ऐसे तीन भेद मुख्य है। वैसे 'सौर' और 'गाणपत्य' नामके आगमोंके नामभी सुनाई देते है। किंतु अब तक वह सम्पूर्णतया उपलब्ध नहीं हैं। इस कारण अथवा अन्य कई कारणोंसे इन आगमोंके विषयमें विशेष जानकारी नहीं मिलती। साथ-साथ इन आगमोंका हमारी इस पुस्तकसे कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं है।

आगम ग्रन्थोंमें अपने अन्तिम साध्यके विषयमें अधिक चर्चा नहीं है। उनमें अधिकतर साधनाके विषयमें ही अत्यन्त विस्तार और सूक्ष्मताके साथ विचार किया गया है। इसलिए आगमोंको 'साधना-शास्त्र' भी कहा जाता है। साधना-शास्त्रके इन शैवागमोंको 'शिवागम', शाक्त आगमोंको 'शाक्त-तंत्र' तथा

---

१. "वैदिकी तांत्रिकी चैव द्विविधा श्रुति कीर्तिता।"

२. तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं, विद्धि कौलात्मक प्रिये।

३. "वयंतु वेदशिवागमयोः भेदं न पश्यामः।"

४. "प्रमाणमेकम् तदवाक्यम् तथ्यमीश्वरभाषितम्।"

वैष्णव आगमोंको 'पंचरात्रागम' कहनेकी परिपाटी है। मद्राससे 'थियासॉफिस्ट' नामसे एक अंग्रेजी मासिकपत्र निकलता है। उसके तेरहवें वर्षकी पत्रिकामें पं० अनन्तशास्त्रीने आगमोंके विषयमें विस्तारपूर्वक विचार किया है। आपने लिखा है कि वैष्णव आगम अथवा पंचरात्रागम १०८ है। शाक्त तंत्र ६४ है। सम्मोहन तंत्रके छठवें अध्यायमें भी लिखा है कि शाक्त तंत्र ६४ है और उसके उपतंत्र ३२७ हैं। वैसे ही शिवागम २२ हैं। उसके उपागम १२७ है। पंचरात्रागम ७५ है। उसके उपागम २०५ हैं। इसके अलावा भी भिन्न-भिन्न मतकी यामल, दामल आदि संहिताएँ अलग हैं। इसके अतिरिक्त गाणपत्य, सौर, बौद्ध, पाशुपत, जैन, कापालिक आदि अन्य अनेक आगम हैं। उन सबके पुराण भी हैं। किंतु वह सब आज न उपलब्ध है न इस पुस्तकके विषयसे उनका कोई सम्बन्ध है। किंतु आगम साहित्यके विस्तारकी कल्पनाके लिए तथा भारतीय साधना-शास्त्रमें इन सब आगमोंके स्थानकी कल्पनाके लिए यह लिखना आवश्यक समझा गया। इसके साथ यह भी लिखना आवश्यक है कि इन आगमोंमें कुछ वैदिक और कुछ अवैदिक माने जाते हैं। अवैदिक माने जानेवाले आगम भी वेद और उपनिषदोंमें प्रतिपादित मुक्तिको अपना अन्तिम साध्य होना स्वीकार करते है। किंतु उनके मत-भेदका सारा आधार साधनात्मक है। आखिर कौन-से आगम वैदिक हैं और कौन-से अवैदिक, यह निर्णय कौन करे? सामान्यतया नीति-विरुद्ध आचार अथवा वामाचारका प्रतिपादन करनेवाले तंत्र अवैदिक तन्त्र कहे जाते हैं और नीतियुक्त उच्च आचार-विचारका प्रतिपादन करनेवाले तन्त्र वैदिक। इसके अतिरिक्त और कौन-सी कसौटी मानी जाय?

इस पुस्तकके विषयसे संबंधित शैवागम वैदिक माने जाते है। उन शैवागमोंके विषयमें अधिक विचार करनेसे पहले हमें विचार करना चाहिए कि इन आगम ग्रंथोंका उद्देश्य क्या है? यह क्यों और कैसे प्रचलित हुए? इन आगमों की इस विविधताका रहस्य क्या है? इन विविधताओंका क्या रूप है? इन सभी प्रश्नोंका रूप ऐतिहासिक है और इस विषयमें इतिहास मौन है। इन सब प्रश्नोंके उत्तर पानेके लिए आज कोई भी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस ऐतिहासिक साधनके अभावमें यह कहना कि सब आगम आधुनिक हैं, एक हजार वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं है युक्ति-युक्त नहीं है। जैसे कई उपनिषद् आधुनिक हैं वैसे कई आगम अत्यंत प्राचीन भी हैं। वह जो प्राचीन हैं कमसे कम डेढ़-दो हजार वर्षके पहलेके है। उपनिषदोंकी तरह आगमोंमें तात्विक चर्चा अधिक नहीं हैं। उनमें जन-सामान्यके लिए कहा हुआ आचार-धर्मही अधिक है। ऐसा लगता है कि वैदिक आर्योंने अपने आचार-धर्ममें सबके लिए मुक्त-द्वार नहीं रखा था। जिन-जिन आर्येतर जनांगोंसे उनका संबंध आया

उन सबको उन्होंने अलग ही रखा होगा। उसी प्रकार उपनिषद्के निर्गुण ब्रह्म की उपासना सबके लिए संभव नहीं थी। तब वैदिक मर्यादाके अन्दर रहकर, बिना किसी भेद-भावके वैदिक आचार तथा आदर्शको सर्व-सुलभ बनानेकी दृष्टिसे सगुणोपासनाके साधन मार्गका प्रचलन हुआ होगा। यही आगमोंका उद्देश्य दीखता है अर्थात् भगवानकी सगुण भक्ति अथवा सगुण उपासना द्वार उपनिषद्के सर्वोच्च आदर्श मुक्तिको प्राप्त करनेकी साधना बताना ही आगमोंका उद्देश्य है।

श्री नरसिंह चिंतामण केलकर जीने अपनी एक पुस्तकमें[1] लिखा है, "नाना-त्वमें (अनेकतामें) एकताका अनुभव करना ही ज्ञान है और एकमें अनेकत्वको देखना विज्ञान।" आगमान्तर्गत आदर्शकी एकता ज्ञान है और साधना-भिन्नता उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए किये जानेवाले वैज्ञानिक प्रयोग। 'एकम् सत् विप्रा बहुधा वदंति' इस श्रुति-वचनके अनुसार उस एक मात्र सत्को,जो वेद और उपनिषदोंमें वर्णित है, अनेक प्रकारमे प्राप्त करनेका साधना-चक्र आगमोंमें कहा है। इसलिए अनेक प्रकारके साधना क्रमको बनानेवाले अनेक आगमोंमें जो एकसूत्रता पाई जाती है, वह आश्चर्यजनक है। साध्यकी एकता रहने पर भी साधनात्मक अथवा उपासनात्मक अनेकता भारतीय आध्यात्मिक परंपराकी विशेषता रही है। टकमाली साधना अथवा उपासनासे सामूहिक जीवनमें सैनिक अथवा यांत्रिक समानता लानेका प्रयास हमारे यहां नहीं हुआ। बहुविध इष्ट देवता और बहुविध उपासनाके कारण अनेक आगम बने। सामान्यत: शाक्त और शैवानुगम अद्वैतानुकूल हैं तो वैष्णव आगम द्वैतानुकूल। फिर भी वह गहराईमें जाकर केवल तत्व-चर्चा ही नहीं करते। तत्वको वह स्वीकार मात्र करते हैं और अपनी साधना-पद्धतिका सविस्तार विवेचन। उनकी दृष्टिसे मुक्ति सुनिश्चित प्राप्तव्य है। वह पूर्व-निश्चित है ही। उसमें संशयका यत्-किंचित स्थान है ही नहीं। वह त्रिकालाबाधित सत्य है। उसके लिए आवश्यक साधना बताना आगमकारोंका काम है। यह सब आगमोंकी भूमिका रही है। इसी भूमिका परसे आगमोंमें सगुण उपासना, गुरु कारुण्य, गुरुपूजा, दीक्षा, जाप, अष्टविध अर्चना, षोडशोपचार-पूजा, न्यास, चक्र, तीर्थ-प्रसाद-ग्रहण आदिके लिए समान महत्त्व दिया है। वहां सबके लिए समान अधिकार है, चाहे स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या चांडाल, विद्वान हो या अनपढ, गोपाल हो या भूपाल, बालक हो या वृद्ध, सबके लिए भगवानके दरबारमें समान स्थान है। मुक्ति मंदिरमें सबके लिए मुक्त-द्वार है। आगममें ऐसा कोई आदर्श नहीं है

---

१. भारतीय दर्शन।

जो वेद अथवा उपनिषदोंमें न हो। किंतु ऐसा कह सकते हैं कि उन्हीं तत्वोंके प्रतिपादनके लिए अपनी कल्पनाका उपयोग आवश्यकतासे अधिक किया है।

जैसे, उपनिषदोंमें सृष्टिके मूलका विवेचन करते समय कहा है, "जो एक था वही अनेक हुआ, अथवा उसने अनेक होना चाहा।" किंतु आगमोने कहा "योगियोंके हितके लिए, अथवा लोक-कल्याणके लिए परमात्माने इस सृष्टिकी रचनाकी !" शुद्ध-सत्य तत्व अनेक प्रकारका रूपक बनकर सामने आया। और वही अनेक प्रकारके रूपक अनेक परिधान पहनने लगे। वही आवरण अनेक प्रकारके संप्रदाय अथवा अनुगम बनानेमें अथवा अनेक प्रकारकी उलझनें पैदा करनेमें समर्थ हुआ। यही बात आचार-धर्मके निरूपणके विषयमें कही जा सकती है। वेदोक्त और आगमोक्त आचारमें अनेक प्रकारकी भिन्नता है। जैसे उपनयनका स्थान भिन्न प्रकारकी दीक्षाओंने ले लिया। गायत्री मंत्रके स्थान पर अन्य अनेक प्रकारके मंत्र आ बैठे। यज्ञ, पात्र, हवन, होमके स्थान पर षोड-शोपचार पूंजा, अष्टविध अर्चन, नैवेद्य, आरती, प्रसाद ग्रहण आदिका प्रचलन हुआ। ब्रह्मोपासनाके स्थानपर सगुण नवविध भक्ति आगयी। यह सब आगमोक्त साधना-भिन्नताके नमूने है। आगमोंकी यह मान्यता है कि आगमोक्त साधना भुक्ति और मुक्ति देने वाली है। इसका अर्थ है इहमें (इस लोकमें) भुक्ति और 'परमे' (परलोकमें) मुक्ति। भुक्ति और मुक्तिमें चारों पुरुषार्थोंका समावेश होजाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कन्नड़ वचनशास्त्रके प्रेरणा स्रोत शिवागम हैं। उन शिवागमोंकी विशेष जानकारीके लिए आगम ग्रंथोंका यह सामान्य ज्ञान पर्याप्त है। अब शिवगामोंका विचार करें।

अन्य आगमोंकी तरह शिवागमोंने भी मुक्ति को ही अपना साध्य माना है। उस मुक्तिके साधनाके रूपमें अपने इष्ट देवता शिवकी उपासना, तथा उसके अनुरूप विविध आचार-धर्मका निरूपण किया है। शिवागमोंके अनुसार शिव ही सर्वोत्तम हैं। इन शिवागमोंमें भी वैदिक और अवैदिक, दो विभेद हैं। उनमेंसे काकुल, भैरव, कापालिक, पाशुपत आदि अवैदिक शिवागमोंसे वचन-साहित्यका कोई संबंध नहीं है। इन अवैदिक शिवागमोंने जिस उपासना-पद्धति का विवेचन, अथवा जिस आचार-धर्मका निरूपण किया है, उससे वचनकारों की उपासना-पद्धतिका कोई संबंध नहीं है। दक्षिणके शैवोंने कामिकादि २८ शिवागमोंके आधार पर अपनी उपासना तथा आचार-धर्मका प्रवर्तन किया है ये अट्ठाईस शिवागम वैदिक माने जाते हैं। अट्ठाईस शिवागम इस प्रकार हैं (१) कामिक, (२) योजग,) (३) चिन्त्य, (४) कारण, (५) अजित, (६) दीप्ति, (७) सूक्ष्म, (८) सहस्र, (९) अंशुमान, (१०) विजय, (११) निश्वास, (१२) स्वायंभुव (१३) अनल, (१४) वीर, (१५) शेख, (१६) मुकुट -(१७) विमल, (१८),

चंद्रज्ञान, (१९) बिंब, (२०) ललित, (२१) प्रोद्गीत, (२२) सिद्ध, (२३) संतान, (२४) सर्वोक्ति, (२५) पारमेश्वर, (२६) सुप्रभदे, (२७) किरण, (२८) वातुला। इसके अलावा भी तारक तंत्र, वाम तंत्र आदि १२५ अथवा २०७ उपागम हैं, ऐसा उल्लेख अनेक जगह मिलता है। प्रो० राधाकृष्णन्की किताब 'इंडियन फिलॉसफी' में लिखा है, "कांचीके कैलास नाथके मंदिरमें एक शिलालेख है। उस शिलालेखमें इन २८ शिवागमोंका उल्लेख है।" वह मंदिर पांचवी सदी का है। यदि पांचवीं सदीमे इन २८ शिवागमोंका नाम मिलता है तो उसके कई सौ साल पहलेसे शैवागमोंका प्रचलन होगा। तथा शैवानुगम अथवा शैव संप्रदाय भी उससे कई सौ वर्ष पहले प्रचलित होगा। इसके अलावा ईस्वी सन् के पहले ही तमिलनाड में 'अरिवर' नामसे शैव संतोकी परंपरा प्रसिद्ध है। सेक्कियर नामके तमिल कवि ने 'पे पुराणम्' नामका ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथका विषय है ६३ शैव संतोका जीवन-वृत्त। इन सब आधारोंको देखा जाय तो निश्चित रूपसे इस तर्क पर पहुँच जाते हैं कि शिवागमोंका काल आज से २००० वर्ष पहले का है।

अन्य आगमोंमें जो बातें हैं वह सब शिवागममें आती हैं। उपरोक्त २८ शिवागमोंके सब प्रकाशित ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। हो सकता है कहीं उनकी हस्त-लिखित प्रतियां उपलब्ध हों। १९०५ में कुछ शिवागम नागरी लिपिमें प्रकाशित हुए थे। बाद में १९१४ में कन्नड़ लिपिमें वातुल, सूक्ष्म, देवीकालोत्तरके कुछ भाग तथा पारमेश्वर, ये चार आगम प्रकाशित हुए हैं। उसका नाम 'तंत्र संग्रह' रखा गया था। अर्थात् सब शिवागम सबके लिए सुलभ नहीं हैं। इस अध्यायमें जो कुछ लिखा गया है। वह प्राप्त पुस्तकोंके आधार पर लिखा गया है। इसलिए जो कुछ लिखा गया है वह सब पूर्ण है, यथार्थ है, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता।

(१) यह आगम अपने बारेमें कुछ कहते समय बार-बार 'तंत्र' शब्दका उपयोग करते हैं। जैसे, 'महातंत्र जगत्पतिः' (मु० प्र० २-२), 'वातुलाख्ये महातन्त्र' (क० प० १ श्लो० ७), 'इति सर्वेषु तन्त्रेषु' (सू० प० १ श्लो० ३०), आदि ऐसे अनेक उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि यह साधना-शास्त्र है।

(२) शिवागमोंमें शिवही मुख्य आचार्य हैं। अथवा वही मुख्य उपदेशक हैं। उन्होंने वातुलमें स्कंदको, सूक्ष्म, देविकालोत्तर और पारमेश्वरमें पार्वतीको, मुकुटमें इंद्रको उपदेश दिया है।

(३) सब शिवागमोंमें उपदेशका उद्देश्य कहते समय सर्वलोकहितार्थ, योगियोंके रक्षणार्थ, साधकोंके हितार्थ, सर्व-लोकोपकारार्थ, शिवने यह उपदेश दिया ऐसा कहा गया है।

(४) सर्वत्र मुक्ति ही मानवमात्रका साध्य माना गया है। किंतु आगमोंमें कहीं-कहीं आया है कि 'भुक्ति-मुक्ति' ये दोनों साध्य हैं। अनेक स्थानों पर मोक्षको ही एकमात्र साध्य माना गया है। जैसे वातुलमें 'भुक्ति-मुक्ति प्रदायक' (वा० प० १ श्लो० ७), सूक्ष्ममें 'भुक्ति मुक्तिच विंदति' (सू० प० ३ श्लो० १४), उसीमें "भुक्ति-मुक्तिफलेच्छुना" (सू० प० ३० श्लो० ७०), "भोग मोक्षैक साधनं" (पार० प० १ श्लो० ३६), आदि कहा गया है। अर्थात् भुक्ति और मुक्तिका अर्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। 'भुक्ति-मुक्ति' इन दो शब्दोंमें उन्होंने चतुर्विध पुरुषार्थोंका समन्वय किया है।

(५) आगमोंमें अनेक स्थानोंपर वेदका उल्लेख आया है। जहाँ कहीं वेदका उल्लेख है वहाँ उसका महत्व और उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की है। जैसे षडक्षर मंत्रको कहते समय अनेक शिवागमोंमें लिखा है, "प्रमाणभूतः सर्वेषाम् वेदोक्तत्वद्विशेषतः" (सू० प० ३. श्लो० १६), "वेदेच वेदशीर्षे च उभयत्र षड क्षरः" (पा र० प० ११. श्लो० ४)। वैसे ही "वेदधर्मश्च शाश्वताः वेदाः सांगाः सनातनाः वेदागमपुराणांतम् सारभूतं, सर्ववेदाश्च शास्त्राणि" तथा "यथा वेद समो मंत्रो नास्तेवागमकोटिषु" (सू० प० ३. श्लो० १०५) आदि अनेक उल्लेख हैं।

(६) पारमेश्वर तन्त्रके पहले पटलमें बौद्ध सौगत, चार्वाक आदि अवैदिक शून्यार्थकी मंत्र-दीक्षाका उल्लेख किया है। बादमें ब्रह्मगायत्री मंत्रके वैदिक मत, सौर गायत्री मन्त्रके सौर मत, वैष्णव मन्त्रके वैष्णव मत, शिवमन्त्रके शैवमत आदिका विवेचन है। उसमें सौरके पांच, वैष्णवोंके पाँच और शैवोंके सात उपभेदोंका सकेत है। यहाँ केवल शैव सम्प्रदायसे सम्बन्ध है। इसलिये केवल शैवानुगमके उपभेदोंका विवेचन दिया गया है। शैवोंमें अनादि शैव, आदिशैव, अनुशैव महाशैव, योगशैव, ज्ञानशैव, तथा वीरशैव ऐसे सात उपभेद हैं। इनमें भी अन्य अनेक उपभेद हैं। इन सबमें 'वीरशैव' श्रेष्ठ हैं। शैव तन्त्रोंमें वीरशैव साधनाक्रम ही सर्वोत्कृष्ट है, ऐसा उसका गौरवपूर्ण उल्लेख है। सभी वचनकार वीरशैव हैं। और वचन साहित्य मानो वीरशैव सम्प्रदायके वेद ही हैं।

इन अनादिशैव आदि सात उपभेदोंका अवांतरशैव, प्रवरवैव, अंत्यशैव आदि दूसरे नाम भी हैं। तथा उनमें भी दूसरे कई भेद हैं। इन सबका वचन-साहित्य तथा वचनकारोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वह सब छोड़ दिया गया है।

(७) इन आगमोंके अनुसार अन्य किसी मतसे शैवमत ही सर्वश्रेष्ठ है। उसमें भी वीरशैव सर्वोत्कृष्ट है। शैव शास्त्रोंपर आक्षेप करनेसे, उनका अनादर करनेसे, नरकमें दुःख भोगना पड़ेगा। आगे कीड़ों-मकडोंकी योनिमें जन्म लेना पड़ेगा। शिव तथा उनके अवतारोंकी निंदा करनेवालेकी जीभ काट डालनी

चाहिए। ऐसा करनेवालेको कोई पाप नहीं लगेगा वरन् शिवलोक प्राप्त होगा। यदि किसी कारणवश कोई शैव ऐसा न कर सकता हो तो उसको तुरंत उस स्थानको छोड़ देना चाहिए। शिव-निंदकोंका संग पाप है। जो शिवके अतिरिक्त अन्य देवताओंकी पूजा करते हैं वह 'भवी' हैं। भवियोंके घर अन्न ग्रहण करना पाप है। शिवागमकारोंका यह स्पष्ट मत है कि शैवोंको शैवानुगमके अनुयायियोंके अतिरिक्त अन्य किसीके संपर्कमें नही आना चाहिए। इससे उनकी शिव-निष्ठामें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शिवानुगमके अनुयायियोंके अतिरिक्त अन्योंके सम्पर्कमे आनेसे उनकी शिव-निष्ठामें अन्तर पड़नेकी संभावना हो सकती है, जो पाप है।

(८) सभी शिवागमोंकी दृष्टिसे शिव निष्कल, निःकल, नित्य, अव्यय, सर्वगत, अनिंद्य, अनौपम्य, अनामय, कारणकारण है (वा० प० १श्लो० १६-२०)। सच्चिदानन्द, स्वतःसिद्ध, निरंजन, शुद्ध, निर्गुण, निरुपाधिक, परंज्योति, सनातन, शाश्वतपुरुष, वेदवेदांतागोचर है (सू० प० १श्लो० १६-१६)। शिवने सृष्टिकी रचनाके लिए आवश्यक तत्वोंका निर्माण करनेका संकल्प स्वेच्छासे किया था। शिवके सहस्रांशसे पराशक्ति, पराशक्तिके सहस्रांशसे आदिशक्ति, इसी तरह आगे इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति उत्पन्न हुई। ये पाँच शक्तियाँ निष्कल है। इन शक्तियोंको शिव-सृष्टि कहते हैं। इसके बाद सदाशिव अथवा सादख्य तत्व उत्पन्न हुआ। उससे उत्पन्न पाँच तत्व सकल निःकल होते हैं। महेशको विराट पुरुष कह सकते हैं। क्योंकि उनके एक करोडवें अंशसे ब्रह्मा, विष्णु, सोम, सूर्य, अग्नि, वायु आदि उत्पन्न हुए। आगमोंके अनुसार सृष्टि-रचनामें कहीं ३६ तत्त्वों का तो कहीं २५ तत्त्वोंका उल्लेख मिलता है।

परशिवके एक क्षुद्रसे अंशसे यह विश्व हुआ है। जीव इस सृष्टिका अंशांश है। इस दृष्टिसे जीव सकल[1] तथा अत्यंत क्षुद्र है। उसका आत्मत्व निः[2]कल है। देहात्मत्वके कारण मनुष्य दुःखी है। अहंकार, कर्ममल आदि बंधनसे मुक्त होना, 'देहरहित निःकल तत्त्व ही मैं हूँ' इसका अनुभव करना 'ज्ञान' है। देवीकालोत्तर आगमके ज्ञानाचार पटलमें लिखा है, ज्ञान चक्षुसे अशरीरी आत्माको देखना ही परमानुभव है। पाशबद्ध ही जीव है, और पाशमुक्त सदाशिव।

(९) इन पाशोंसे अथवा 'माया मल' 'कार्मिक मल' और 'आणव मल' इन मलोंसे मुक्ति कैसे मिलेगी? इसकी क्या साधना है? इन प्रश्नोंके उत्तरमें आगमकार अत्यन्त स्पष्ट और आत्म विश्वासके साथ कहते है, 'अनुभव युक्त सत्य ज्ञान'से। वह ज्ञान कैसे प्राप्त करना चाहिए? इसके लिए भी शिवागमकार निःशंक उत्तर देते हैं—"सगुण शिव भक्तिसे!"

---

१. सदेह। २. विदेह, देह रहित।

एक बार पार्वतीके तपसे प्रसन्न हो कर शिवने कहा, "चाहे जो वर माँग लो !"

पार्वतीने वर माँगा, "तेरी निरपेक्ष भक्तिके अलावा मुझे और कुछ नहीं चाहिए" (सू० प० १०, श्लो० ५२-५३)।

वीरशैव-आचार कहते समय पारमेश्वरागममें शिवजीने कहा है, "मेरी निरपेक्ष भक्ति, अनन्य पूजा, स्मरण, कीर्तन, ध्यान और मेरे गुणोंका परिशीलन ही मुख्य है।" (प० प० ५ श्लो० ५२-५३)। उसके अनन्तर कहा है, "अशक्तोंके लिए भक्ति-योग जैसा दूसरा आलंबन नही है। उन्होंने बार-बार कई स्थान पर कहा है, 'शिवभक्तिसमाचरेत्'। दीक्षा देनेवाले गुरुके विषयमें कहा है, 'वह शिव-भक्त और शिवज्ञानी' होना चाहिए 'मुमुक्षुको ईश्वरभक्त[1]' होना चाहिए "मेरी भक्ति ही परमगति"[2] है। मेरी विभूतियोंमे भक्त ही श्रेष्ठ[3] है।" "शंकर भक्तोंके शरीरमें[4] बसते हैं।" आदि ऐसे अनेक वचन आते हैं।

नवविध भक्तिमें आत्म-निवेदन, अर्थात् आत्मसमर्पण सर्वश्रेष्ठ है। शिवार्पण भावसे जीवनकी सब क्रियाएँ करनी चाहिए। जो कुछ भोगते हैं वह सब शिवप्रसाद मान कर भोग करना चाहिए। जाप, स्मरण, भजनादि भी शिवार्पण भावसे करना चाहिए। (पा० प० २२ श्लो० ३८-३९)।

शिवार्पणको भक्ति माना है। तथा योग, कर्म, ज्ञान आदिका भी विवेचन किया है। आगमकारोंकी दृष्टिसे सकर्मियोंके लिए कर्म और निष्कर्मियोंके लिए ज्ञान है। (पा० प० २२ श्लो० ६५)।

कर्ममें सकाम और निष्काम, दो भेद किये है। निष्काम कर्मको ज्ञानका आधार माना है। (सू० प० ६ श्लो० ३५)। जो पाप पुण्यके परे जाता है वह 'निराभारी' कहलाता है। कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है। हजार अश्वमेधसे भी सम्यक्-ज्ञान श्रेष्ठ है। जिसका चित्त 'अंतर्निविष्ठ' अथवा अन्तर्मुख होता है उसको क र्मका बंधन नहीं होता। (सू० प० ६ श्लो० ४२-४४)।

आगमोंमें अष्टांग-योगके स्थान पर भक्ति, वैराग्य, अभ्यास, ध्यान, एकांत, भिक्षाटन, लिंगपूजा, शिवस्मरण, यह 'अष्टांग युक्ति' कही है। (पा० प० १० श्लो० ५५-५६)

देवीकालोत्तर आगमके ज्ञानाचार पटलमें कहा है कि चित्त जब निरालंब हो कर मनकी अवस्थाओंसे परे रहता है तो वह 'मुक्त स्थिति' प्राप्त करता है (श्लो० ४१) प्रतीत होता है पातंजल योगका 'चित्त वृत्तिनिरोध' वाला ध्येय यहाँ दूसरे शब्दोंमें कहा गया है।

---

१. मुमुक्षुरीश्वरे भक्तः। २. मद्भक्तिः परमागतिः।
३. सर्वासिमद विभूतीनां भक्त एव वरः। ४. भक्त कायस्थ शंकरः।

(१०) आगमकारोंके कथनानुसार साधकको ईर्ष्या, पिशुनत्व, दंभ, राग, मत्सर, काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक छोड़ना चाहिए। द्वन्द्वातीत बनना चाहिए। निर्द्वन्द्व होना चाहिए। निर्द्वन्द्व व्यक्ति ही ज्ञानी हो सकता है (दे० का० ज्ञानाचार प० श्लो० ७७-७८)। उसी प्रकार साधकको क्षमा, शान्ति, सन्तोष, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, वैराग्य, सर्वसंग-निवृत्ति आदि गुणोंकी आवश्यकता बताई गई है (पा० प० १२ श्लो० १०३-१०४)।

उसी आगममें और एक जगह (प० १५ श्लो० १५-१६) सत्व, भूतदया, अहिंसा, शम, दम, उदारता, भक्ति, गुरु-सेवा आदि गुणोंकी आवश्यकता बताई गई है।

ऊपरकी पंक्तियोंमें साधकका सामान्य धर्म बताया गया है, आगे सगुण ध्यान, पूजा-जाप आदिका विचार करें।

(११) शिवागमकारोंकी दृष्टिसे शिवही सर्वोत्तम है। लिंग ही शिवका एकमेव प्रतीक है। 'ओं नमः शिवाय' यह षडक्षरी जाप है। शिव निराकार है। निर्गुण हैं। किंतु ध्यान-पूजामें वह सगुण होता है। इसलिए वह पूजामें, ध्यानमें सगुण निर्गुण है। फिर भी इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है (सू० पा० श्लो० ३३-३४)।

लिंग परब्रह्म[1] है। साक्षात् शिव ही पूजार्थ लिंग रूप धारण करता है। 'लिंग' शिवशक्त्युभयात्मक[2] है। लिंगकी ही पूजा करनी चाहिए इसीका ध्यान करना चाहिए। यही 'भुक्ति-मुक्ति' देनेवाला है। लिंगके स्वरूपका विचार किया जाय तो वह निरामय, निराकार, निर्गुण, निर्मल, शिव-मंगलमय, ज्योतिर्मय, निरालंब, सर्वाधार, सर्वकारण, अनुपम, केवल, सच्चिदानन्द लक्षण है; (सू० प० ६ श्लो० ४-११)।

लिंग तीन प्रकारका होता है। (१) दीक्षाके समय गुरुके द्वारा दिया जाने वाला 'पार्थिव लिंग' उसे 'इष्ट लिंग' कहते है। (२) गुरुका दिया हुआ 'पार्थिव लिंग' अथवा 'इष्ट लिंग' और साधकके प्राणमें स्थित 'प्राणलिंग' एक ही है इस भावसे स्थित लिंग 'प्राणलिंग' कहलाता है (३) इस लिंगमें ध्यानस्थ होनेसे साधक की मनोवृत्तियां लीन हो जाती हैं। तब वही 'भाव लिंग' कहलाता है। एक ही एक भावसे इन तीनोंकी पूजा करनी चाहिए, । (सू० प० ६ श्लो० ५४-५८)।

शिवलिंगके लिए शिला ही सर्वोत्तम है। शिला-लिंग सर्वसिद्धिकारक है। किंतु भिन्न-भिन्न धातुओंके भिन्न-भिन्न परिणामोंका भी संकेत है।

लिंग धारणके लिए गला, वक्षस्थल, कर स्थल, आदि उत्तमांग कहे गये हैं।

---

१. तस्मात् लिंग परब्रह्म सू० प० ६. श्लो० २४।

२. नादरूप शिव+बिंदुरूप शक्ति=शिवलिंग है।

अत्यंत सावधान होकर किसी उत्तमांगमें लिंग धारण करना चाहिए लिंग धारण और लिंगपूजन अष्टावरणमें एक आवरण है। शिवागमोंमें शिवने कहा है, 'मेरालिंग धारण किया हुआ भक्त साक्षात् मैं ही होता हूँ।' (पा० प० ३ श्लो० ६२)।

भूतदया, शिवभक्ति, सर्वत्र शिवदर्शन, लिंगधारण, इसके लिए कहा गया है, 'मुक्तिकोशाः चतुर्विधा' (पा० प० २. श्लो० ३२-३४)।

लिंगके विषयमें कहा गया है, किसी भी हालतमें इष्ट लिगका त्याग नहीं करना चाहिए, उसकी पूजामें खंड नहीं पड़ना चाहिए। यदि कभी इष्ट लिंग खो गया और, वह फिरसे नहीं मिल सका, अथवा भिन्न हो गया तो प्राणत्याग करना चाहिए (पा प० २ श्लो० १०३) (सू० प० ७ श्लो० ६२)। कुछ लोगोंकी यह मान्यता है कि उपरोक्त बात केवल "निराभार" वीरशैवोंके लिए है। निराभारका अर्थ है, जिसपरसे पाप-पुण्यका भार उतर चुका हो। क्योंकि लिंग ही पति है और भक्त ही पत्नी है। (सू० प० ७ श्लो० ६१)। अपनी हथेलीका पीठ बनाकर लिंगपूजा करनी चाहिए। अहिंसा, इन्द्रिय जय, सर्वभूत-दया, क्षमा, ध्यान, तप, ज्ञान, सत्य इन आठ फूलोंसे लिंग पूजा करनी चाहिए। इससे शिवागमकारोंके नैतिक जीवनकी उच्च कल्पना, उनके चारित्र्य तथा आध्यात्मिक ध्येयवादका परिचय मिलता है।

(१२) 'ओं नमः शिवाय' यह शिव वर्णका प्रतीक है और लिंग उसका पार्थिव प्रतीक। लिंग और मंत्रमें कोई भेद नहीं है। पंचाक्षर लिंगमय है और लिंग पंचाक्षरमय। (पा० प० ७ श्लो० १०१)। लिंग, मंत्र और सदाशिव एक हैं। (सू० प०६ श्लो० ५०-५१)। मंत्र के दो रूप हैं, प्रणव रहित और प्रणव सहित। कुछ आगमकारोंका आग्रह है कि स्त्री तथा शूद्रोंको प्रणव रहित पंचाक्षरीकी दीक्षा दी जाय। प्रणव रहित मंत्र 'पंचाक्षरी' कहलाता है और प्रणव सहित 'षडक्षरी'। आगमकारों का यह स्पष्ट मत है कि पंचाक्षरी भी षडक्षरीके समान है। 'पंचाक्षरी' सभी मत्रोंमें वैसे ही श्रेष्ठ है जैसे नदियोंमें गंगा, क्षेत्रोंमें काशी, तथा स्त्रियोमें पार्वती। यह मंत्र ही देवताका रूप है। (पा० प० १ श्लो० १८०-१८१)।

पूजाकी सभी क्रियाएँ मंत्रपूत होनी चाहिए। पंचाक्षरीमें मनन और सामर्थ्य दोनों हैं इसलिए वह मंत्र कहलाता है। मंत्र प्रयोगसे शिवसन्निधि होती है। मंत्रका उच्चारण पवित्र स्थान पर तथा निर्मल, निश्चल मनसे करना चाहिए। (वातुल प० ५ श्लो० ३-८)

मंत्र तीन प्रकारका होता है: (१) वाचिक, (२) उपांशु, और (३) मानस। इनमें मानस ही सर्वश्रेष्ठ है। (सू० प० ३ श्लो० ५३-५६)।

(१३) साथ-साथ शैव 'लांछन'का भी विधान है। 'लांछन' बाह्य साधन अथवा चिन्ह है। दीक्षाके समय गुरू लिंगके साथ भस्म और रुद्राक्ष देता है। शिव वचन है कि "जिसके मस्तक पर भस्म है, गलेमें लिंग है, शरीरपर रुद्राक्ष है उसे शिवका ही रूप मानो।" (पा० प० १ श्लो० ४६ और प० ३० श्लो० १८)।

(१४) ऊपर लिखे हुए साधना मार्ग पर चलने वाले भक्तोंकी प्रगति, उन की योग्यता, तथा लक्षणके अनुसार आगमकारोंने छः स्थलोंकी कल्पना की है। वह छः स्थल है (१) भक्त, (२) महेश, (३) प्रमादी (४) प्राणलिंगी, (५) शरण और (६) ऐक्य।

यह अंगस्थल कहलाते हैं। साधना पथका जीव 'अंग' कहलाता है। और 'शिव' को 'लिंग' कहते हैं। जैसे अंगके छः स्थल हैं वैसेही लिंगके भी छः स्थल हैं। ये हैः (१) गुरुलिंग, (२) आचार लिंग, (३) शिवलिंग, (४) चरलिंग, (५) प्रसादलिंग, (६) महालिंग।

इसीलिए वीर शैव संप्रदायके इस सिद्धांतको 'षट्स्थल-शास्त्र' कहा जाता है। इसे 'षट्स्थल साधन' भी कहते हैं।

ये छः अंग स्थल और छः लिंग स्थल हैं। इसमें प्रत्येक अंगस्थलमें छः लिंग स्थल तथा प्रत्येक लिंगस्थलमें छः अंगस्थलकी कल्पना करके ३६ स्थल बनाये गये है। शिवागमों में यह दिखलाया है। सूक्ष्मागम तथा पारमेश्वरागममें लिखे गये मंत्रादिके लक्षणमें कुछ अंतर होने पर भी उनके सामान्य लक्षण स्पष्ट हैं। साधककी इन छः अवस्थाओंके सामान्य लक्षण संक्षेपमें निम्नलिखित हैं।

जिसने देहादिका अभिमान त्याग दिया है वह 'भक्त' कहलाता है। निर्मल चित्तवाला साधक 'महेश' और शुद्ध चित्त "प्रसादि" है। जीव-भ्रम नष्ट होकर लिंग ही आत्मा है ऐसा जिसको निश्चित बोध हुआ है वह 'प्राण लिंगी' है। शिवनित्यत्वके ज्ञानसे जो निश्चित होकर आनंदमग्न रहता है वह 'शरण' है तथा जीव और शिवका ऐक्यानुभव करनेवाला भक्त 'ऐक्य भक्त' है। यह सूक्ष्मागम का मंतव्य है अब पारमेश्वरागमका विचार देखें।

पारमेश्वरागमके मतसे तारतम्यसे गुरु, जंगम और लिंग-पूजा करनेवाला 'भक्त' है। गुरुके शासनानुसार लिंगपूजा, जंगमपूजा करके स्वमताचरण करनेवाला 'महेश' है। बिना लिंग पूजा और जंगम पूजाके अन्न ग्रहण न करने वाला 'प्रसादि' है। प्राण, लिंग और शिव, इन तीनोंमें एकता अनुभव करने वाला 'प्राण लिंगी' है। ईष्णा भयसे मुक्त होकर एकांतमें शिव-ध्यानका साधक 'शरण' है। तथा इनमेंसे किसी साधनाकी आवश्यकताके सिवा 'सोऽहम् भावानुभवमें लीन 'ऐक्य' है।

साधकके अगले स्थलपर जाने पर भी पिछले लक्षण नष्ट नहीं होते। उदाहरणके लिए ऐक्य प्राप्त साधक भी गुरुपूजा, जंगमपूजा आदि करते रह सकता हैं। यह सब शक्य होनेसे ६ स्थलोंसे अधिक स्थलोंकी कल्पना करना संभव हो सका है। इन सब स्थलोंके विषयमें वचनामृतके 'षट्स्थल-शास्त्र' नामके अध्यायमें इससे अधिक विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। इस लिए यहाँ उन बातोंका अधिक विस्तार नहीं किया गया। किंतु आगमकारोंके इन छः स्थलोंके आधार पर वचनकारों ने १०१ स्थल और २१६ स्थल दिखानेका प्रयास किया है।

(१५) तंत्रमार्गसे साधना करने वालोंको सर्वप्रथम 'दीक्षा' लेनी अत्यन्त आवश्यक होती है, जैसे वैदिक-धर्ममें उपनयन अथवा जनेऊकी आवश्यकता होती है। जब दीक्षा लेना आवश्यक है, तब दीक्षा देने वाले गुरुकी भी आवश्यक्ता है।

दीक्षा देते समय लिंगपूजार्थ गुरु लिंग देता है। उसको 'इष्टलिंग' कहते हैं। इस दीक्षा-विधिका विवेचन करते समय आगमकारोने लिखा है, "दीयते लिंग संबंधः क्षीयते कर्म-संचयः।" (सू० प० ८ श्लो० ८)। साधकके दीक्षित होने पर ही परमार्थ साधनाका प्रारंभ होता है। वीरशैव दीक्षा-विधिमें लिंग धारण और "ओं नमः शिवाय" इस षडक्षरीका उपदेश महत्वका होता है। शिवदीक्षा के अलावा लिंगधारण न करने का आदेश है। (पा० प० १ श्लो ७४)।

जैसे इष्टलिंग, प्राणलिंग तथा भावलिंग लिंगके त्रिविध प्रकार हैं वैसे ही दीक्षाके भी त्रिविध प्रकार हैं। उन्हें क्रिया, शिक्षा तथा वेद्या कहते हैं। साधकके साधना जीवनमें दीक्षा, शिक्षा और अनुभाव, ये तीन सीढ़ियाँ हैं। गुरुसे उपदेश, लिंगादिका ग्रहण करना 'दीक्षा' है। जीव-शिव सबन्धके विषय में बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना 'शिक्षा' कहलाता है। आगे सतत साधना द्वारा उस बौद्धिक ज्ञानका अनुभव प्राप्त करना 'अनुभाव' कहलाता है। (सू०-प० ८ श्लो० ७-१०।

दीक्षा देनेवाले गुरुके विषयमें आगमकारोंने लिखा है कि गुरु निरहंकारी, सत्यवचनी, शांत, निर्मत्सर, केवल स्वदारानिरत, संप्रदायविशेषज्ञ, इंगितज्ञ, आत्मज्ञ, सदाचार संपन्न, वाग्मि, शिवतत्वार्थ-बोधक गंभीर तथा करुणामय होना चाहिए। गुरुके विषयमें लिखते समय सूक्ष्म, पारमेश्वर, वातुल आदि आगमोंमें बहुत ही विस्तारके साथ विवेचन किया है। शिव वचन है, "मैं स्वयं गुरु बनकर शरणागत भक्तोंका उद्धार करता हूँ।" (सू० प० ५ श्लो० १०।

इसीलिए शिवागमांतर्गत साधना-क्रममें गुरु-कृपा, शिव-कृपाकी भाँति महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

आगमकारोंकी दृष्टिसे साधक होने के लिए अथवा दीक्षित होने के लिए विशिष्ट जाति, वर्ण, लिंग, आयु आदिका कोई बंधन नहीं है। आगमकारोंने

सबके लिए अपना दरवाजा खुला रखा है। आगमकारोंका यह दृढ़ विश्वास है कि "शिव-दीक्षासे शूद्र भी शिवत्त्व प्राप्त कर सकता है" सूक्ष्मागमकी यह स्पष्ट आज्ञा है कि "जिसने शिव-दीक्षा ली है उसकी पूर्वकी जाति, कुल, गोत्र आदिका यत्किंचित् भी विचार नहीं करना चाहिए।" (सू० प० ५ श्लो० ६३-६४)।

वीरशैव दीक्षाके बाद सब शिवस्वरूप हैं। लिंग-धारणके पहले उनमें ब्राह्मण, क्षत्रियादि जातियाँ हैं। लिंग धारणके बाद उनमें ब्राह्मण-चांडालका भी भेद नहीं है। वीरशैवमत सर्वातीत मत है। यहाँ स्त्री-पुरुषका भेद भी नहीं है (पा० प० ५ श्लो० ४१)।

गुरुपूजा, लिंगपूजा, जंगमपूजा, पादोदक, प्रसाद ग्रहण, विभूति अथवा भस्मधारण, रुद्राक्षधारण तथा मंत्रोच्चार यह वीरशैवोंका अष्टावरण है। इन अष्टावरणोंसे युक्त शिवयोगी सब "वीरमहेश्वर" हैं। उनमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं है। (पा० प० ७ श्लो० ५३-५५)।

इतना ही नहीं, यह भी उनका विश्वास है कि लिंग धारण करनेसे उनमें दिव्यत्व निर्माण होता है। इससे दृष्टिदोष, स्पर्शदोष आदि नष्ट होते हैं। उनका छोड़ा हुआ जूठन भी उच्छिष्ट नहीं है। उन्होंने जिस थालमें खाया है, उसके धोनेसे पहले ही उस थालमें दूसरा कोई खा सकता है, आदि भी कहा गया है। (पा० प० ३ श्लो० ८८ तथा प० ७ श्लो० ५६-५७)। लिंगधारीको जन्म-मरणादिका अशौच भी नहीं लगता ! (पा० प० ७ श्लो० ५४-५५)। उनके लिए सभी नक्षत्र, करण, योग आदि शुभ है। सब निर्मल है। सब मोक्षके साधन हैं। (सू० प० ७ श्लो० ९९-१००)।

यह शिवागममें लिखा गया है कि वह वीरशैव साधना-शास्त्र है। उसे "षट्स्थल शास्त्र" अथवा "षट्स्थलसाधना" कहा गया है। इसको सर्व सामान्यतया वीरशैव सम्प्रदाय कहते हैं।

कन्नड़ वचनकारोंने जहांसे प्रेरणा पायी उन प्राचीन शिवागमोंके विवेचनके बाद कन्नड़ वचनकारोंके साम्प्रदायिक विचारोंका अवलोकन करें। कन्नड़ वचन-कारोंने अथवा कन्नड़ शिवागमकारोंने इन्हीं आगमोंका अनुकरण किया है। ऊपरकी पंक्तियोंमें शिवागमकारोंकी साधना-पद्धतिका संक्षेपमें उतना ही विवे-चन किया गया है जितना कन्नड़ वचनकारोंकी उपासना-पद्धतिको समझनेके लिए आवश्यक है। वचनकारोंकी वीरशैव उपासना-पद्धतिका विवेचन करते समय उनका तत्त्वज्ञान, उनका साध्य, उस साध्यको प्राप्त करनेकी उनकी साधना, तथा वीरशैव आचार-विचार उस क्रमसे विचार करना अच्छा होगा। इसमेंसेजिन विषयोंका तथा उनके अंग-प्रत्यंगोंका वचनामृतमें उल्लेख किया गया है उनको यहाँ दुहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ केवल सांप्रदायिक विषयोंका ही संक्षेपमें उल्लेख किया जाएगा।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि आगमकारोंने तत्त्व-ज्ञानकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। तत्त्व-ज्ञानका अर्थ है 'जीव', 'जगत' तथा 'शिव' इन तीनोंसे सम्बन्धित ज्ञान। जीवका अर्थ है 'मैं'। 'जगतका' अर्थ है 'मैं' को दिखाई देनेवाला 'यह'। अथवा 'मैं' के अलावा दिखाई देनेवाला 'यह सब कुछ'। और 'शिव' उसको कहते हैं जो 'मैं' और 'यह' नहीं है, इसके मूलमें अथवा इससे परे जो 'वह' है। इस 'मैं' 'यह' और 'वह' के बीच जो सम्बन्ध है इस सम्बन्धका विवेचन-विश्लेषण करके निश्चय करना तत्त्वज्ञानका क्षेत्र है। इस दृष्टिसे विचार करते हुए जीवकी आकांक्षा क्या है? उसका साध्य क्या है? वह साध्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इन सब बातोंको जाननेका प्रयास करना है। ऐसा प्रयास करते समय उसी पद्धतिको अपनाना है जो कन्नड़ वचनकारोंने अपनाई है। इसलिए उन्हींकी शब्द-प्रणालीका उपयोग करना होगा। फिर भी विषयको समझ तो लेना चाहिए। अर्थात् जहाँ आवश्यकता होगी वहाँ सामान्य सांख्य, वेदांत आदिकी शब्द-प्रणालीका भी उपयोग किया जाएगा।

इसका विवेचन दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक 'मैं' इस मध्य-बिंदुसे निकलकर दिखाई देनेवाले 'यह' का अतिक्रमण कर इन सबके उस पार जो 'वह' है वहाँ तक पहुँचना। दूसरा 'वह' से चल कर 'मैं' तक आना। इसमेंसे किसी भी प्रकारका अवलंबन क्यों न करें, किसी प्रकारसे विवेचन क्यों न करें; एक बात स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय तत्त्वज्ञान की बुनियाद तर्क नहीं है, अथवा भारतमें तर्कको तत्त्वज्ञानकी नींव नहीं माना गया हैं। किंतु अनुभवको ही तत्त्वज्ञानकी आधार-शिला माना गया है। और उस अनुभवजन्य ज्ञानको दूसरोंको समझानेके लिए तर्कका उपयोग किया गया है। अर्थात् तर्कप्रधान बौद्धिक निर्णय होनेसे ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस निर्णयका प्रत्यक्ष अनुभव ही ज्ञान है। तर्कके आधार पर किये गये बौद्धिक निर्णयको हृदयंगम कर लेना नितांत आवश्यक है। सर्वालंबविनिर्मुक्त-चित्त ही इस ज्ञानका अनुभव कर सकता है। वही परम सत्य है। वही जीवनमें अनुभव करने योग्य आत्यंतिक तत्त्व है। वह द्वंद्वातीत है। वह सर्वाकार निराकार है। वही वचनकारोंकी भाषामें शून्य सम्पादन है। क्योंकि उस स्थितिमें जब 'मैं' 'यह' का अतिक्रमण करके 'वह' तक पहुँच जाएगा, सब कुछ शून्य हो जाएगा। जो हमने जागृति सुषुप्ति, तथा स्वप्नमें प्रतीत किया है, वह सब शून्य हो जाएगा। इस शून्यका अनुभव करना ही तत्त्वज्ञानका अनुभव है। वचनकारोंकी भाषामें जो "शून्यसम्पादन" हैं वह वेदांतकी भाषामें 'तुरीयावस्था' है। और, योगियोंकी भाषामें यही निर्विकल्प अथवा असंप्रज्ञात समाधि है।

इसका अनुभव अनिर्वचनीय है। अवर्णनीय है। क्योंकि वह शब्दातीत है। वहां ज्ञाता, ज्ञान, तथा ज्ञेयकी त्रिपुटीके अद्वैतके कारण भाषा मूक हो जाती हैं। इसका वर्णन करते समय वचनकारोंने कहा है, 'गूंगेके देखे हुए स्वप्न-सा[१]।' इस अनिर्वचनीय स्थितिका जो वर्णन होगा वह गूंगेके स्वप्नका अभिनयात्मक वर्णनसा होगा। यह अभिनयात्मक वर्णन ही भिन्न-भिन्न दर्शन हैं। आजकी दार्शनिक अथवा तत्त्वज्ञान विषयक मत-भिन्नता इस अभिनयात्मक वर्णनके भिन्नभिन्न अभिनयका परिणाम है। इस अभिनय भिन्नताके कारण अनेक प्रकारके दर्शन हुए है। तर्ककी कसौटी पर, अथवा तर्ककी दृष्टिसे यह सब अलग अलग होने पर भी आध्यात्मिक अनुभवकी भूमिका पर सब एक हो जाते हैं।

कन्नड़ वचनकारोने जिस प्रकारके तत्त्वज्ञानका आसरा लिया है उसको शिवाद्वैत, अथवा विशेषाद्वैत, अथवा शक्ति-विशिष्टाद्वैत, अथवा कहीं-कहीं 'शिवयोग' भी कहा है। इस अद्वैतमें शिव ही आत्यंतिक तत्त्व है, इस लिए इसे शिवाद्वैत कहते है। यह विशेप प्रकारका अद्वैत है इस लिए इसे विशेषाद्वैत कहते हैं। तथा शिव ही इस सिद्धांतका परम दैवत है इस लिए शिवयोग और शक्तिसे विशिष्ट प्रकारके अद्वैतानुभव होनेसे शक्ति-विशिष्टाद्वैत कहते है। नाम अनेक प्रकारके होने पर भी तत्त्वज्ञान 'अद्वैत' है। इसमें त्रिकालाबाधित सत्य-तत्त्व एक ही है। उसको 'पर शिव' 'परासंवित' अथवा 'पराहंता' आदि कहते है। वेदांतियोंने इसको परमात्म परब्रह्म, अथवा पुरुषोत्तम आदि कहा है। उस सर्वातीत तत्त्वको वचनकारोंने "वह न सगुण न निर्गुण, न सकल न निःकल" आदि कहा है। वस्तुनः सगुण, निर्गुण आदि शब्द द्वंद्व-सूचक हैं, सापेक्ष सृष्टिके हैं और 'वह' निरपेक्ष है। एकरस है। सर्वसम है। जहाँ गुणकी कल्पना भी नहीं की जा सकती वह सगुण अथवा निर्गुण है, ऐसा कैसे कहें ? वहाँ ऐसे शब्दोंके लिए स्थान ही कहां ? पर-शिव केवल निरपेक्ष है। अतीत है। अवेद्य है। फिर भी समझानेके लिए 'वह' शब्दकी पोशाक पहनता है। तब वचनकार उसे निरालंब, निरवय, अगोचर, निर्लेप, निरंजन, शून्य निःशून्यके परेका, अज्ञेय, नाद बिंदु कालातीत, विश्वातीत, चैतन्य मय, ज्योतिर्मय, अद्वय आदि कहते हैं। कितना ही क्यों न कहें, समग्र शब्द-कोश क्योंन खर्च करें 'वह' अवर्णनीय ही है।

इसपर प्रश्न यह उटता है यदि 'वह' अद्वय है, अतीत और निर्द्वन्द्व है, एक रस तथा निःकल है तो इस विश्वमें दिखाई देने वाला यह नानात्व अथवा अनेकत्व कैसे ? दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो 'एकरस परशिव' मे 'अनेक रस' विश्व कैसे उत्पन्न हुआ ?

---

१. मूक कंड कनसिनंते।

इसके उत्तरमें वचनकारोंने कहा है, शिवने स्वलीलार्थ ३६ तत्वोंका निर्माण किया। अब यहाँ यह देखना है कि इन ३६ तत्वों की उत्क्रांति कैसे हुई ? वचनकार कहते हैं, सर्व प्रथम शिवमें शिव और शक्ति ऐसे दो तत्वोंके दर्शन हुए। यह दोनों चैतन्यमय थे। किन्तु शिवतत्व प्रकाशात्मक था और शक्तितत्व विमर्शात्मक। शक्ति-तत्व ही इस सृष्टि का कारण है। बादमें 'सादाख्य' तत्व अस्तित्वमें आया। 'सत् आख्यः यतःसादाख्यः' यह इसका निरुक्त है। अर्थात् जिससे अस्तित्वकी कल्पना प्रारंभ होती है वह सादाख्यतत्व है। उसे सदाशिव भी कहा है। बादमें ईश्वर और शुद्ध विद्याका प्रादुर्भाव हुआ। ईश्वर तत्व सृष्टि निर्माणका द्योतक है। तथा शुद्ध विद्या तत्व निर्मल, स्पष्ट ऐक्यज्ञानका द्योतक है। इस प्रकार 'शिव' 'शक्ति' 'सादाख्य' (अथवा सदाशिव) 'ईश्वर' और 'शुद्ध विद्या' ये पांच तत्व चिन्मय हैं। यहां द्वैत भाव उत्पन्न हुआ दीखता है, किन्तु अनुभवमें वह अद्वैत ही है। इसीलिये 'शुद्धतत्व' अथवा 'शिवतत्व' कहलाते है। परशिव कालातीत है। शिव और शक्ति 'अविना भाव' से युक्त होनेसे निःकल है। सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्यातत्व 'सकल' 'निःकल' हैं। उसमेंसे सकलका बीज अकुरित होना हुआ दिखाई पड़ता है। बादमें 'माया' का प्रादुर्भाव हुआ। 'माया' से द्वैत सृष्टिका निर्माण हुआ। मायाका अर्थ मूल चित् शक्तिकी विमर्शा शक्ति, अथवा आवरण शक्ति है। मायामें नूतन वस्तु, अथवा तत्वको निर्माण करनेकी शक्ति नहीं होती। किन्तु वह तत्व को आवृत्तकर, तत्वपर आवरण डालकर, देखनेवालेके ज्ञान का संकोच करती है, अर्थात् उसका काम वही है जो अन्धकार का होता है। माया के विषयमें कहा है, "स्वरूपावरणे यस्याः शक्तयः सततोत्थिताः।" वह सतत चित् शक्तिका रूप ढकनेका काम करती है। मायाके साथ और पांच तत्व हैं। वह मायाकी सहायता करते हैं। तत्वोंको 'कंचुकी' कहते है, यह पांच तत्व है, (१) कला,(२) काल, (३) नियति, (४) राग, (५)विद्या। 'कला' शक्तिशाली होती है। 'काल' अनुभवका परिच्छेद करता है। 'नियति' स्वातंत्र्य हरण करती है। उसका नियमन करती है। 'राग' अशक्ति निर्माण करता है। 'विद्या' अल्पज्ञान देनेवाली होती है। इनके बाद "पुरुष" तत्व है। वह व्यक्तित्व, भोक्तृत्व तथा 'मैं' इस संकुचित भावकी नींव है। 'माया' 'कला' 'काल' 'नियति' 'राग' 'पुरुष' ये सात तत्व शुद्ध-अशुद्ध हैं। अथवा विद्यातत्व हैं। इसके बाद सांख्यके प्रसिद्ध २४ तत्व आते हैं। उसमें प्रकृति, महत् अथवा बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, पंचतन्मात्राएं तथा पंच महाभूत यह तत्व हैं। यह सब सकल हैं। यह सब संसार इन्हीं तत्वोंसे बना है। इन सब तत्वोंका एक नक्शा बनाया जाय तो समझनेमें आसान होगा और एक दृष्टिमें सबकी आंखोंके सामाने आ जाएगा।

परासंवित् अथवा परशिव अथवा परहंता

(२) शिव=चित्का प्रकाशरूप (३) शक्ति=चित् का विमर्श रूप

(४) सदाशिव अथवा सादाख्य तत्त्व (५) ईश्वर, (६) सद् विद्या अथवा शुद्ध विद्या	शुद्ध तत्व अथवा चित् तत्व
(७) माया, (८) कला, (९) काल, (१०) नियति, (११) राग, (१२) विद्या, (१३) पुरुष।	शुद्धाशुद्ध तत्व अथवा विद्या तत्व
(१४) त्रिगुणात्मक प्रकृति, (१५) महत् अथवा बुद्धि, (१६) अहंकार, (१७) मन (१८–२२) पंचज्ञानेंद्रिय (२३–२७) पंचकर्मेंद्रिय (२८–३२) पंचतन्मात्राएं, (३२–३६) पंचमहाभूत।	अशुद्ध अथवा अचित् तत्व

उपरोक्त ३६ तत्वोंकी उत्क्रांतिकी कल्पनाको स्पष्ट रूपसे जान लेना चाहिए। जो एक है वह अनेक होकर भी फिर एक-ही-एक होनेका अनुभव कैसे करेगा? जो एक है वह केवल अपने संकल्पसे (क्रियासे नहीं, अनेक हुआ है। इसलिए उस एकमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं आयी। शिवकी माया शक्तिसे, अथवा आवरण शक्तिसे अथवा निगूहन शक्तिसे जीवोंको अनेकता दिखायी देती है। यह दिखायी देनेवाली बात केवल भास है। यह सदसद् विलक्षण और अनिर्वचनीय है। विवर्त है। यह हुआ शंकराद्वैतका मत। किंतु वचनकारोंके अनुसार यह अनुभवमें आनेवाला सत्य है। विवर्त अथवा मिथ्या नहीं है। जिस मूल माया शक्तिसे एकत्वमें अनेकत्वका अनुभव होता है वह आणव मल है। आणवमलके कारण जीव, अपना शिवभाव खोकर जीवभाव धारण करता है। यही माया है। यह मायामल क्या है? यह वस्तुरूप है, अतः विश्वका कारण है अर्थात् अनेकत्वका कारण है। इसको आणव मलका स्थूल रूप कह सकते हैं। तीसरा है कार्मिक मल। कर्म अनादि है। वह धर्माधर्म रूप है। जीवके साथ यही तीन मल, आणविक मल, माया मल, तथा कार्मिक मल हैं। इसीलिए मनुष्यको अनेकत्वका अनुभव होता है। इन मलोंका अतिक्रमण करना ही अद्वैत है। इन मलपाशोंका अतिक्रमण करना, अथवा इन मलपाशोंको तोड़ना मुक्ति है। अब तक एकत्व, अनेकत्व, तथा मायाका मुंह देखा परिचय हुआ। अब जीवके स्वरूपका विचार करें।

इन ३६ तत्त्वोंमें पुरुष नामक जो तेरहवां तत्व है, वह जीव स्थल है।

मूलतः जीव चैतन्यस्वरूप है। किंतु वह त्रिविध मलपाशसे आबद्ध है। इससे वह अल्पज्ञ, अल्पशक्त हुआ। अहंभावसे सुख-दुःखका भोग करने लगता है। प्रकृति आदि तत्त्वोंका बना हुआ स्थूल शरीर धारणकर लेता है। और तीनो प्रकारके मल-पाशसे आबद्ध होकर अहंकार-वश पुनः-पुनः जन्म-मरणके प्रवर्तनमें पड़ता है। किंतु यह मूलतः मूल चैतन्यका ही अंश है। बीज रूपसे सच्चिदानंद है। इसलिए वह अपने "निजत्व" को अथवा सत्यरूपको प्राप्त करना चाहता है। वह अपने इस ध्येयको प्राप्त करनेका जो प्रयास करता है उसे साधना कहते हैं। साधकको, तत्वज्ञानके इस सिद्धान्तका, अपने जीवनकी आशा-आकांक्षाओं का प्रतःकरण करके, संशोधन करके, जीवनके आत्यंतिक ध्येयके साथ उसका विरोध न आते हुए, इन दोनोमें अविरोधी मेल बिठाकर उस आत्यंतिक ध्येयको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए। इस तत्त्वज्ञानके अनुसार जीव उस एकरस महान चैतन्य सागरका, अथवा चित्-सागरका एक अल्पसा अंश है; मानो छोटा-सा तुषार कण हो। वह पृथक् होकर चित्तके आवरण, शक्ति, अहंकार आदिके कारण अल्पज्ञ है। अल्पशक्त है। अथवा महान चिद्ज्योति का छोटा-सा स्फुलिंग है। वह अल्पज्ञता अहंकार आदिके बवंडरमें फंस कर इस संसार-सागरके द्वन्द्वोंके थपेड़ोंमें चूर-चूर हो रहा है। फिर भी वह महान् ज्योतिर्मयका स्फुलिंग है। इससे मायाजन्य दुर्बलताका कवच तोड़ कर, त्रिविध मलपाशोंको तोड़कर मुक्त होना चाहता है। प्रत्येक जीवकी यह आशा है। यही आकांक्षा है। इसलिए वह तड़पता है।

प्रत्येक जीव, प्रत्येक अवस्थामें, जैसे जागृतावस्थामें, स्वप्न और सुषुप्तिमें, सुखकी आकांक्षा करता है। चाहे वह अल्पज्ञानी हो या महाज्ञानी, चाहे श्रीमान् हो या अकिंचन, चाहे अज्ञानी हो या विज्ञानी, चाहे विद्वान् हो या अपढ़, चाहे भूपाल हो या गोपाल, चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे बालक हो या वृद्ध, सभी सुख चाहते हैं। इन सबकी आशा आकांक्षा एक है। सबकी महत्त्वाकांक्षा एक है। और वह है सुख। शाश्वत सुख। नित्य सुख। कभी दुखका कारण न बनने वाला सुख। जीवनका अर्थ ही सुखकी खोज है। जीव अथवा प्रत्येक जीवधारी इसी सुखकी खोजके लिए भटकता है। क्षणिक सुखोंके पीछे पड़ता है। उसके पाते ही सुखी होता है। खोते ही फिर दुखी। इससे प्राप्त सुख समाप्त होकर नये दुःखका कारण बनता है। इसलिए वह दुःख मिश्रित सुख है। इससे सुखकी तृष्णा और भड़कती है। मायाका कार्य यही है। सुख आते ही उसके पीछे छिपे हुए दुःख पर वह परदा डालती है। सुखके हाथमें आते ही दुःख परसे परदा हटाती है। इससे मनुष्य शाश्वत सुखकी ओर नहीं मुड़ता। शाश्वत सुख और जीव इस बीचमें मायाका परदा है, अथवा इस अंधकारकी छाया है।

मनुष्य प्राणी कभी सुख और कभी दुःखके द्वन्द्वमें उलझ जाता है। इसलिए वचनकार कहते है, अरे! तुम्हें स्वर्ग-सुखभी मिला, किंतु जिस क्षणमें मिला उसी क्षणमें समाप्त हुआ। तुम्हें यह देखनेका भी समय नहीं मिला कि वह सुख था या दुःख! तब उस सुखकी कीमत ही क्या! सुख पाओ तो ऐसा सुख पाओ कि एक बार पानेके बाद वह सदाके लिए तुम्हारा हो जाय। ऐसा शाश्वत सुख, विशुद्ध सुख, निरालम्ब सुख, कैसे पाया जाय? उस मायातीत शिवको अपना सर्वस्व समर्पण करो। उसकी शरण जाओ। एक बार उसके चरणोंका आसरा मिला कि बस शाश्वत सुख-भंडारके स्वामी बने। इस शाश्वत सुखको ही मुक्ति कहा है। यही मानवी जीवनका एक मात्र आत्यंतिक ध्येय है।

अब वचन साहित्यके पारिभाषिक शब्दों द्वारा इसका विवेचन करना हो तो लिंग ही परतत्व है। अंग ही जीव है। लिंग पूर्ण है। अंग अपूर्ण है। अंग का यह अपूर्णत्व मायाके कारण है; यही रुकावट है। यह रुकावट दूर होते ही निरभ्र नील-गगनमें निर्मित इंद्र-धनुष जैसे उसी आकाशमें विलीन होता है, शांत हवामें से उद्भूत बवंडर जैसे उसी हवामें डूब जाता है, वैसे ही अंग लिंगमें ऐक्य होकर उसीमें विलीन हो जाएगा। यह लिंगांग सामरस्य है। इस सामरस्यसे, अथवा ऐक्यसे, अथवा विलीनीकरणसे, अंगकी अपूर्णता नष्ट होगी। उसके सुख-दुःख आदि द्वंद्व गल जाएंगे। और परिपूर्णताके लक्षण उमड़ पड़ेगे। यही अद्वैतानंद है। यही सारुप्य मुक्ति है। यही परम गति है। यही मानव का साध्य है। इस मुक्तिको वचन साहित्यकी परिभाषाके अनुसार षट्-स्थलका ऐक्य-स्थल कहते हैं। वचनामृत के ४६-५७ और ५८वें वचन यही कहते हैं।

इस साध्यको प्राप्त करनेके प्रयासको साधना कहते है। इस साधना-सोपानके अथवा साधना-पथकी छः सीढ़ियां अथवा छः पड़ाव है। उन्हें वचनकार षट्-स्थल अथवा षडध्व कहते है। साधना-पथपर कदम रखनेके पश्चात् 'सिद्ध पद', अथवा वचनकारोंका 'शून्य संपादन' करने तक बीचके ये छः पड़ाव हैं। साधना-पथमें साधक किस स्थलपर है, वहांसे जीव और शिव अथवा अंग और लिंगका क्या संबंध है, यह षट्-स्थल-सिद्धांत स्पष्ट करता है। सृष्टिके मूलमें प्रवृत्ति है। और भक्तिके मूलमें निवृत्ति। सृष्टि माया-शक्तिका काम है। और मुक्ति भक्तिका परिणाम। अंग-लिंग अथवा जीव-शिवका संबंध पूज्य-पूजक अथवा सेव्य-सेवकका-सा है। मायासे विषयासक्ति निर्माण होती है और भक्तिसे लिंगासक्ति। साधना और भक्तिसे धीरे-धीरे अंग मायासे दूर होते-होते लिंगके समीप होता जाता है और, अन्तमें लिंगमें विलीन हो जाता

है। अंगकी व्याख्या करते समय सूत्रकारों ने कहा है, "अम् इति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते!" अर्थात् ब्रह्मकी ओर चलनेवाला तत्व ही अंग है। शिव शक्ति-मुख से सृष्टिका निर्माण करता है। और भक्ति-मुखसे अंगको मुक्त करता है। परमार्थकी दृष्टिसे शक्ति और मायामें कोई अंतर नहीं है, क्योंकि वे दोनों शिव की प्रवृत्तियां हैं। शक्ति और भक्ति अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति शिवके श्वास-निश्वास है। शिव ही लिंग-स्थलमें शक्तिके रूपसे और अगस्थलमे भक्तिके रूपसे वास करता है। अंग और लिंगके अलग-अलग छः स्थल है। लिंगमे इष्ट लिंग, प्राण लिंग और भाव लिंग, ये तीनों प्रकार हैं। इन तीनके दो-दो प्रकार बने। जैसे इष्ट लिंगके गुरू लिंग और आचार लिंग, प्राण लिंगके प्रसाद लिंग और चर लिंग तथा भाव लिंगके शिव लिंग और महा लिंग। ये छः लिंग स्थल हैं।

इन लिंग स्थलोंकी भाति छः अंग स्थल भी हैं। प्रथम, इसके भी त्यागाग, भोगांग, और योगांग, ये तीन भेद हुए। प्रत्येकके दो-दो प्रकार बने। जैसे त्यागांगका 'भक्त' और 'महेश', भोगांग का 'प्रसादि' और 'प्राणलिंगी' तथा योगांग-के 'शरण', और 'ऐक्य'। ये छः अंगस्थल कहलाते है। इन छः स्थलोंका अर्थ और इनके लक्षणोंको जान लिया कि षट्स्थलीकी पूर्ण बौद्धिक जानकारी हो गई।

स्थूल शरीरके साथ सतत रखनेके लिये, और पूजादिके आश्रयरूप, गुरु दीक्षाके समय जो लिंग देता है उसे 'इष्ट लिंग' कहते हैं। प्राणादिके साथ जिस सूक्ष्म लिंगका संबंध रहता है वह 'प्राणलिंग' है। गुरु मंत्र-दीक्षाके समय यह मंत्रके रूपमें अपनेसे दीक्षित शिष्यको देता है। केवल चिन्मय स्वरूप लिंग, आत्म लिंग, जो साधककी आत्मासे ही संबंधित है 'भाव लिंग' कहलाता है। गुरु ज्ञानोपदेश द्वारा वह अपने शिष्यको देता है। इसमेंसे इष्ट लिंग आनंदरूप होता है। प्राण लिंग चिद्रूप होता है। और भाव लिंग सद्रूप होता है। इन लिंग-स्थलोंके अनुरूप उनसे संबंघित जो अंग रूप हैं अब उन्हें देखें।

बाह्य-विषयादिकी आसक्ति छोड़कर जो लिंगकी उपासना करता है उस स्थूल शरीरको 'त्यागांग' कहते है। विषयासक्तिके त्यागके बाद सभी भोगोंको भगवान्का प्रसाद मानकर भोगनेवाला 'भोगांग' कहलाता है। इस 'भोगांग' स्थलसे साधक शिवयोगी बनता है। सब वासनाओसे मुक्त होनेके बाद, ज्ञानोदय होता है। ज्ञानोदय होनेसे शरीर शुद्ध होता है। तब साधक योगांगमें शिवज्ञान-से युक्त होकर सर्वत्र शिवका ही दर्शन करता है। उसके लिए 'सर्व शिवमयं जगत्' होता है। साधकके जीवनमें शिवयोग और उससे मिलनेवाला आनंद इस परम सुखमें व्याप्त हो जाता है, इसलिए इसको योगांग कहते हैं। वचनकारों ने अपने वचनोंमें इन छः स्थलोंका सविस्तर वर्णन किया है।

भक्त-स्थलके लक्षण संपूर्ण श्रद्धासे, भक्तिपूर्वक, गुरु, लिंग और जंगम की पूजा करना, तथा गुरुके आदेशानुसार शिवाचार करना है। महेश स्थलमें निष्ठा अर्थात् बढ़ता, तथा गुरुके शासनानुसार आचरण आवश्यक लक्षण हैं। इन दोनों स्थलोंमें गुरुपूजा, लिंग पूजा, जंगम पूजा, भस्म धारण, रूद्राक्ष धारण, लिंग धारण गुरु जंगमोंका पादोदक सेवन, गुरु जंगमोंका प्रसाद ग्रहण, यह अष्टावरण नितांत आवश्यक हैं। वचनकारोंके कथनानुसार गुरु ज्ञानकी मूर्ति है। लिंग परमात्मा-का प्रतीक है। जंगम साक्षात्कारी है। जंगम साक्षात्कारी और पूर्ण भक्त होता है। भस्म अंतर-बाह्यकी शुद्धि करनेमें समर्थ है। रुद्राक्ष ज्ञानका चिह्न है। पादोदक शिवानुग्रहका द्योतक है तो प्रसाद ग्रहण सर्वार्पणका। वचनकारोंने यह भी स्पष्ट कहा है कि परंपरानुसार इसका अंधानुकरण नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो वह दंभाचरण होगा। इस लिए साधकको कुछ भी करते समय सोच-समझकर, ठीक तरह समझकर, सतत अपना ध्येय आंखोंके सामने रखते हुए अष्टावरणका आचरण करना चाहिए। ऐसा करनेसे गुरु प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होकर अन्तःकरणमें प्रवेश करेगा। लिंग प्रत्यक्ष होकर साक्षात्कार होगा। जीवके अंग गुण नष्ट होंगे। लिंग गुणोंका विकास होता जाएगा। और अंतमें ऐक्य होगा।

त्यागांगकी तरह भोगांगके भी दो स्थल हैं। एक 'प्रसादि', दूसरा 'प्राण-लिंगी'। शिवार्पित ही स्वीकार करना, तथा किसी भी स्थितिमें शिवार्पित प्रसादको अस्वीकार न करना प्रसादिके मुख्य लक्षण हैं। जो कुछ मिलता है वह सब ईश्वरार्पण करके उसको प्रसादरूप ग्रहण करनेसे विषय-वासना तथा सूक्ष्म आसक्तिका भी क्षय होता जाएगा। इससे धीरे-धीरे अंग गुणोंका भी क्षय होगा। जैसे-जैसे अंग गुणों का क्षय होता जाएगा यह अनुभव होगा कि लिंग ही मेरा प्राण है, लिंग और मेरा प्राण भिन्न नहीं हैं। यह अनुभव ही 'प्राणलिंगी' का अनुभव है। तब साधक भोगांगके प्राणलिंगी स्थलमें पहुंचेगा। इससे प्राण-लिंग और शिवाद्वैतका बोध होना प्रारम्भ होगा। यह भाव दृढ़ होगा। जैसे-जैसे यह शिवाद्वैत भाव दृढ़ होता गया, भोगांग योगांगमे परिवर्तित होता जाएगा। योगांग में भी दो स्थल हैं। उनको 'शरण' और 'ऐक्य स्थल' कहते हैं। शिवाद्वैतके अनुभवसे ईष्णात्रयका नाश होगा। ईष्णात्रयका अर्थ वित्तेष्णा, पुत्रेष्णा तथा लोकेष्णा है। इनका अतिक्रमण करके केवल शिवध्यानमें रत रहना ही शरणस्थल है। यही शरणस्थलका मुख्य लक्षण है। इसके बाद सदैव शिवलिंगमें ऐक्यावस्थाका अनुभव करना रह जाता है। इस ऐक्यावस्थाके अनुभवको ऐक्यस्थल कहते हैं। यहां साधकके अंग-गुण शून्य हो जाते हैं। यही वचनकारोंका 'शून्यसंपादन' है। यही आत्यंतिक ध्येय है। इसको प्राप्त करनेके

लिए ही मनुष्यका सारा प्रयत्न है। जिसने इसे प्राप्त कर लिया वह कृत-कृत्य हो जाता है। कृतार्थ हो जाता है। शाश्वत सुख-साम्राज्यका स्वामी बनता है। फिर उसके पास दुःख कभी फटकता ही नहीं।

अब तक छः अंगस्थल और लिंगस्थलोंका संक्षेपमें विवेचन किया गया। अब इन स्थलोंके परस्पर संबंधका भी जरा विचार करें। अंगस्थलके त्यागांग, भोगांग और योगांगका संबंध क्रमशः लिंगस्थलके इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंगसे है। 'त्यागांग'के 'भक्त' और 'महेश' स्थलका संबंध 'इष्टलिंग' के 'आचारलिंग' और गुरुलिंग' से है 'भोगांग'के 'प्रसादि' और 'प्राणलिंगी' का संबंध 'शिवलिंग' और 'चरलिंग' से है। और 'योगाग' के 'शरण' और 'ऐक्य-स्थल'का संबंध 'भावलिंग'के 'प्रसादलिंग' और 'महालिंग' से है। इन छः अंगस्थलों और लिंगस्थलोंमें शक्ति और भक्तिका अधिष्ठान है। वचन-साहित्यमें उन-उन स्थलोंमें स्थित शक्ति और भक्तिका सुंदर विवेचन आया है। लिंगस्थलके आचारलिंग, गुरुलिंग. शिवलिंग, चरलिंग अथवा जंगमलिंग, प्रसादलिंग तथा महालिंग इन छः स्थलोंमें शिव-शक्तिकी क्रमशः क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, आदिशक्ति, पराशक्ति तथा चित्तशक्तिका अधिष्ठान है। और छः अंगस्थलोंमें क्रमशः भक्तस्थलमें सद्भक्ति, महेशस्थलमें नैष्ठिका भक्ति, प्रसादिस्थलमें अवधानभक्ति, प्राणलिंगीस्थलमें अनुभाव भक्ति, शरणस्थलमें आनंद-भक्ति और ऐक्यस्थलमें समरस-भक्तिका अधिष्ठान होता है।

मूलतः अंगके और लिगके अथवा जीवके और शिवके ये छः स्थल हैं। इनके संमिश्रणसे ३६-१०१ तथा २१६ स्थल बना लिये गये हैं। यह सब परस्पर भिन्न, अथवा इन छः स्थलोंसे अतिरिक्त अथवा छः स्थलोंके विरोधी नहीं है। भक्तस्थलका अतिक्रमण करके महेशस्थलमें प्रवेश किये हुए भक्तके लिए भक्तस्थलके आचार-विचार छोड़ने चाहिए, ऐसा नहीं है। भक्तस्थलके साधकको महेशस्थलका आचरण नहीं करना चाहिए, ऐसा भी नहीं है। बसवेश्वरके जीवनका यदि अध्ययन किया जाए तो ऐक्यावस्थाको प्राप्त करनेके बाद भी उन्होंने भक्तस्थलका आचार नहीं छोड़ा था और उनको किसीने 'ऐक्यभक्त' नहीं कहा। जब कभी उनके विषयमें अथवा उनकी साधनाके विषयमें किसीने कुछ कहा तब 'परमभक्त' अथवा 'भक्ति भंडारि' ही कहा। इन छः स्थलोंके अलावा ३६ स्थल, अथवा १०१ स्थल, अथवा २१६ स्थल केवल बौद्धिक विलास-सा है। साथ-साथ यह भी कह सकते हैं कि व्यवहारमें उसका कोई खास प्रयोजन भी नहीं है। यह मूल आगमोंमें नहीं है। केवल वचनकारोंने इसका विकास किया है। इसका विकास इस प्रकार हुआ है: जैसे भक्तका भक्त, भक्तका महेश, भक्तका प्रसादि, भक्तका प्राणलिंगी, भक्तका शरण, भक्तका

ऐक्य। इस तरह ६ × ६ = ३६ स्थलोंका विकास किया गया। अंगस्थलोंके साथ लिंगस्थलोंका संबंध जोड़ा गया है। इसी प्रकार भक्तका आचारलिंग, भक्तका गुरुलिंग, भक्तका शिवलिंग, भक्तका चरलिंग, भक्तका प्रसादलिंग और भक्तका महालिंग। इस रीतिसे यह संख्या २१६ तक बढ़ायी गयी है। जैसे ६ × ६ = ३६ है, वैसे ही ३६ × ६ = २१६ स्थल हुए हैं। गुब्बी मल्लण्णाजी नामके एक लेखकने 'षट्स्थल सारामृत' नामसे एक पुस्तक लिखी है। उसमें सब सविस्तर विवेचन है। सामन्यतया षट्स्थलको एक दृष्टिपातमें जान लेनेके लिए नीचे लिखा हुआ नक्शा सहायक होगा।

अबतक आगमकार तथा वचनकारों द्वारा वर्णित साधना तंत्रका अथवा साधना चक्रका अथवा उपासना पद्धतिका अथवा षट्स्थल शास्त्रका विवेचन हुआ। अब वीर-शैव संप्रदायके आचार-विचार देखें।

शिवभक्तको शैव कहते हैं। शैवके लिए शिव ही सर्वोत्तम है। तथा वीर-शैव शैव-सर्वोत्तम हैं। सब वचनकार वीरशैव हैं। शैव संप्रदायमें भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी उपासना-पद्धति चलती है। उपासना-भिन्नताके कारण आगम-कारोंने शैवोमें भी सात प्रकार माने हैं। उन सबका नाम इसी अध्यायमें अन्यत्र दिया गया है। किंतु कुछ अन्य आगमकारोंने शुद्ध-शैवादि चार भेद ही दिखाये हैं और कभी कुछ आगमोंमें सामान्य-शैवादि पांच प्रकार बताये है। किंतु इस पुस्तकमें केवल वीरशैवोंके आचार-विचारका विवेचन करना है। क्योकि वचन-साहित्य वीरशैव संप्रदायका धर्मशास्त्र है। वह अन्य शैवोंका विचार नहीं करता। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जैसे सब शैवोंके लिए शिव सर्वोत्तम है वैसे शैवोंमें वीरशैव सर्वोत्तम है। भारतके 'शैव', 'वैष्णव' तथा 'शाक्त' इन तीनों पंथोंमें 'वीर' उपपदका प्रयोग किया गया है। 'वीर' का अर्थ है 'श्रेष्ठ'। शाक्तोंमें 'वीर साधक' का अर्थ होता है 'रजोगुण प्रधान साधक।' आगमकारों-ने 'वीरशैवका निरुक्त "एक एवायमेतस्मिन् सर्वास्मिन् जगनीतयः। विशिष्ट ईयते यस्माद्वीर शैव इत्यभिधीयते।" ऐसा किया है।

कुछ आगमकारोंने अर्थ किया है कि "भक्ति-वैराग्यमें वीरताका उपयोग करनेवाला वीरशैव है।" वातुलागममें वीरशैवोंके भी सामान्य वीरशैव, विशेष वीरशैव, तथा निराभार वीरशैव ये तीन प्रकार किये हैं। इनमें निराभार सर्वसंग-परित्याग किया हुआ शिवशरण होता है। यदि इसका इष्टलिंग व्रत-भंग हुआ तो केवल प्राणत्याग ही प्रायश्चित्त है। अपने व्रतभंगमें प्राणत्याग करनेवाला यह वीरशैव अथवा शैव-वीर। यदि किसीने उसके सामने शिव-निंदा की तो उसकी ज़ुबान खीचनेमें भी आगा-पीछा नहीं देखता। इसके कारण उसको शिवलोक भी जाना पड़े तो उसको इसकी परवाह नहीं होती। यदि किसी कारण उसके लिए यह संभव नहीं हुआ तो वह स्थान त्याग करेगा, किंतु शिव निंदा नहीं सुनेगा। समय-समय पर आगमकारोंने अनेक प्रकारसे इस शब्द की व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है, 'मुक्ति, वीर-शैवोंके हाथकी बात है।' जिसने पाप-पुण्यका अतिक्रमण कर लिया हो वह निराभार होता है।

वीरशैवत्वका अनेक प्रकारका वर्णन मिलता है। यह सब अन्य शैवोंसे इनकी उत्कृष्टता दिखानेके लिए पर्याप्त है। शिवमें समरस होना इनका अंतिम साध्य है। उनकी परिभाषाके अनुसार जीवको अंग और शिवको लिंग माना जाए तो लिंगांग सामरस्य इनका ध्येय है। दीक्षाग्रहणसे इस साधना-चक्रका प्रारंभ

होता है। दीक्षामें तीन प्रकारकी दीक्षाएं हैं। पहली क्रियादीक्षा, दूसरी मांत्री दीक्षा और तीसरी वेद्यादीक्षा। क्रियादीक्षासे इष्टलिंग हथेलीपर दिया जाता हैं। मांत्रीदीक्षासे प्राणलिंग और वेद्यादीक्षा से भावलिंगको प्राण और आत्मामें प्रतिष्ठित किया जाता है। लिंगग्रहण करनेके बाद वीरशैवको नियमितरूपसे, नित्य, त्रिकाल शुचिर्भूत होकर लिंगपूजा करनी चाहिए। यह अनिवार्य धर्म-कृत्य है। इष्टलिंग शिलालिंग ही सर्वोत्तम माना गया है। लिंगग्रहण करनेके बाद अपने इष्टलिंगके अलावा अन्य लिंगकी पूजा नहीं करनी चाहिए। लिंग-ग्रहणके बाद जाति, कुल, लिंग आदि भेद भी नहीं माना जाता। लिंग धारण करनेवाला प्रत्येक वीरशैव प्रत्यक्ष शिवस्वरूप है, ऐसी भावना होनी चाहिए। उनको किसी प्रकारका शौचाशौच तथा स्पर्शास्पर्श दोष नही लग सकता। जो लिंग धारण करता है वह वीरशैव है। जिसके गलेमें लिंग नहीं होता, वह 'भवि' कहलाता है। वीर शैवको किसी 'भवि' के साथ कोई संबंध नही रखना चाहिए। यदि प्रत्यक्ष माता-पिता भी 'भवि' हों तो उनसे संबंध-विच्छेद करना चाहिए। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे अनन्य और एकनिष्ठ होती है वैसे ही प्रत्येक वीरशैव अपने इष्टलिंगसे एकनिष्ठ होता है। इस संप्रदायमें लिंगको परमात्माका प्रतीक माना जाता है। साधकके जीवनमें लिंग अत्यंत महत्वपूर्ण है। और जो महत्व लिंगका है वही महत्व गुरु और जंगम का है। शिवबुद्धिसे गुरु और जंगम-पूजा करनी चाहिए, क्योंकि परमात्मा अकाय है। उसने कहा है, 'भक्त काय मम काय।' इसलिए इन लोगोंमें गुरु तथा जंगमोंका पादोदक और प्रसाद-ग्रहणकी परिपाटी है। इस आचारमें उच्छिष्टादि दोष न माननेकी धर्माज्ञा है। सब प्रकारका धर्म-कार्य करनेसे पहले रुद्राक्ष और भस्मधारण करना अनिवार्य है तथा षडक्षरी अथवा पंचाक्षरी जाप भी।

इस संप्रादायमें अष्टावरणके साथ पचाचारका भी महत्व है। पंचाचारसे तात्पर्य 'सदाचार', 'गणाचार', 'नित्याचार', 'शिवाचार' और 'लिंगाचार' से है। यम-नियमादिका पालन, मांस-मद्यादिका त्याग तथा शुद्ध सात्विक कर्म, सदाचार है। सत्य, धर्म, आदिके पालनको गणाचार कहा गया है। आवश्यकता पड़ी तो अपने जीवनका बलिदान करके भी गणाचारका पालन करना चाहिए, ऐसी धर्माज्ञा है। गुरु, लिंग और जंगमपूजा, जीविकोपार्जनके लिए नियमित कायक, 'दासोहम्' आदि नित्यकर्म नित्याचार कहलाता है। लिंगधारीको शिवरूप मानकर शिवभावसे उनका सत्कार करना, उनका आदरातिथ्य करना शिवाचार है। निष्ठापूर्वक लिंग-धारण, लिंगपूजा आदि लिंगाचार है। तन-मन आदिको त्रस्त करनेवाले व्यर्थके व्रत, उपवास, नियमादि न रखनेका शिवका स्पष्ट धर्मा-देश है। अष्टावरण-पंचाचार आदिसे वीरशैव साधक साधना-सोपानकी एक-एक

सीढ़ी पर एक-एक लिंग-गुणको धारण करता हुआ लिंगैक्य प्राप्त करता है। जैसे, वह भक्त-स्थलमें निरहंकारी बनता है, महेश स्थलमे जानेके बाद उसमें शुचित्व आता है, प्रसादि स्थलमें वह सुबुद्ध होता है, प्राणलिंगी स्थलमें सुमनस्क होता है, शरण स्थलमें सुज्ञानी बनकर वह ऐक्य स्थलमें लिंगमें समरसैक्यका अनुभव करने लगता है। भक्ति ही वीरशैवका मुख्य संबल है। वही उसका आदि, मध्य, और अंतिम साधन है। वचनकारोंने जगह्-जगह् भक्तके धर्मके आचरण तथा लक्षणका सुदर-सजीव वर्णन किया है। इसमे संशय नहीं कि वचनकारोंने शिवागमोंका अनुकरण किया है। उन्हींसे स्फूर्ति और प्रेरणा पायी है। किंतु वचन-साहित्य संस्कृत आगम-ग्रंथोंकी कन्नड़ प्रतिलिपि नहीं है। अनेक बातोंमें उन्होने अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया है। कई जगह् आगमका विरोध भी किया है। जैसे आगमकारोंने वर्णोत्पत्ति, वर्णोंका स्थान, चक्र, आदिको बड़ा महत्व दिया है, किन्तु वचनकारोंने इन सबको यत्किंचित् भी महत्व नहीं दिया। आगमकारोंने इष्ट लिंगके खो जानेपर अथवा उसके छिन्न हो जानेपर प्राणांत प्रायश्चित्त कहा है, किंतु वचनकारोंने इसका स्पष्ट निषेध किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें घोषणाकी है, "इष्ट लिंग न कभी खो सकता न छिन्न-भिन्न हो सकता है।" आगम-कारोंने कुछ हदतक जाति-भेदको माना है। स्त्री तथा शूद्रोंको प्रणवरहित मंत्रो-पदेश देनेकी बात कही है। वचनकारोंने यह नहीं माना। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमे कहा है, "लिंग धारणके बाद न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र और चांडाल! सब शिवस्वरूप हैं!" आगमोंमें कहीं-कहीं निष्काम कर्मका महत्व अवश्य कहा है, किंतु उनका 'तंत्र' अधिकतर निवृत्ति-प्रधान है। किंतु वचनकार तो 'कायकमें ही कैलास' कहते हैं! पूजामें व्यत्यय आया तो वे क्षम्य मानते हैं, किंतु कायकमें आया हुआ व्यत्यय क्षम्य नहीं मानते। वे शिवसे भी यह कहते हुए नहीं डरते, "मुक्ति अपने गलेमें लटका लो, मुझे मेरा कायक ही पर्याप्त है।" इस प्रकार वचन-कारोंने अनेक प्रकारसे साधकोंका स्वतंत्र रूपसे और मौलिक पथ-प्रदर्शन किया है। इसलिए कन्नड़-वचन-साहित्य केवल उच्च कोटिका साहित्य ही नहीं रहा, किंतु वह एक रूपसे सबके लिए आवश्यक मोक्ष-शास्त्र ही बन गया है। आध्या-त्मिक साधकोंके लिए तो वह साधनाशास्त्र है, जीवनशास्त्र है और पथ-प्रदर्शन में एक आंतरिक प्रकाश है, अंतिम समय तक काम आनेवाला पाथेय है।

वचन-साहित्यका सार-सर्वस्व

पिछले अध्यायोंमें वचन साहित्यके बहिरंगका दर्शन किया। वचनोंका साहित्यिक रूप देखा। वचनकारोंके सामूहिक कर्तृत्व और व्यक्तिगत जीवनकी झलक पाई। उनकी उपासना-पद्धतिका अवलोकन किया। साधना-चक्रका अध्ययन करके अंतरंगमे प्रवेश पाया। मनुष्य किसी वस्तुका बाह्य सौंदर्य देख कर चमत्कृत होता है। फिर उस सौंदर्यके पीछे, उस सौंदर्यके उस पार, अथवा उस सौंदर्यके मूलमें जो तत्त्व है, जो सार-सर्वस्व है उसको खोजनेका प्रयास करता है। यही तो मनुष्य-प्राणीकी विशेषता है। वचन-साहित्यके बहिरंगके विहंगावलोकनके बाद, उसके अंतरंगमें बैठकर उसके सार-सर्वस्वको पानेका प्रयास करना स्वाभाविक है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कन्नड़-वचन-साहित्य वीरशैव संप्रदायका धर्म-शास्त्र है। कर्नाटकमें उसको आदरके साथ "वचन-शास्त्र" कहा जाता है। इस पुस्तकमें उसे वचन-साहित्य कहा है। शास्त्र नहीं कहा है। क्योंकि वचनोंकी ओर देखते समय, अथवा उनका चयन करते समय सांप्रदायिक दृष्टि-कोण नहीं रखा है। अपितु साहित्यिक दृष्टिकोण रखा है। जैसे किसी विद्वान्‌ने कहा है, "साहित्य मानव-जीवनका विज्ञान है। मानव-जीवनके अन्यान्य पहलुओंका विवेचन-विश्लेषण करके मनुष्यको दिव्यत्वकी ओर अग्रसर होनेमें प्रेरणा और स्फूर्ति देना उसका उद्देश्य है।" वचन-साहित्य इस कसोटी पर खरा उतरता है। इसीलिए उसको साहित्य कहा है। और भी एक बात है। विद्वान् लोग कहते है कि साहित्य जीवनका अनुभव है, और वचनकार किसी भी बातको अपने स्वानुभवसे अधिक महत्व नहीं देते थे। वह ऐसी किसी बात को स्वीकार नहीं करते थे जो उनके स्वानुभवकी कसोटी पर खरी न उतरती हो। शास्त्रमें कही हुई बातको भी वह अपने अनुभवकी कसौटी पर कसते थे। और उसको तब तक स्वीकार नहीं करते थे जब तक उनके अनुभवमें नहीं आती थी। इसीलिए उन्होंने अपने संघटनका ही नाम 'अनुभव-मंडप' रखा था। भी संप्रदायोंमें गुरुका महत्वपूर्ण स्थान है। आध्यात्मिक जगतमें गुरुको ऊंचा स्थान दिया गया है। वीरशैव तो गुरुको शिवका ही रूप मानते हैं। शिवकी तरह गुरुकी पूजा करते है। उनका पादोदक भी बड़ी श्रद्धासे लेते हैं। किंतु उन्होंने लिखा है, "अपने आपको जाना तो वह ज्ञान ही गुरु है," "अनुभव ही गुरु है" अर्थात् वह अपने अनुभवको सबसे अधिक महत्व देते थे। और साहित्य जीवनका अनुभव है, अथवा अनुभव ही साहित्य है। वचन-शैलीमें कहा गया

वचनकारोंके विशुद्ध हृदयका स्वानुभव ही वचन-साहित्य है। मानों वह उनके जीवनका सत्व और स्वत्व हो। ठीक वैसे ही जैसे उपनिषद् उपनिषद्कारोंके जीवनका निचोड़ है।

उपनिषद् किसी भी भाषा-कुल अथवा संप्रदायका शास्त्र नहीं है। वह मानव-कुलकी संपत्ति है। वैसे ही वचन-साहित्य भी मानव-कुलकी संपत्ति है। वचन-साहित्यमें केवल वीरशैव संप्रदायके लिए आवश्यक उपासनात्मक विधि-निषेध ही नहीं है। उसमें समग्र मानव-कुलके लिए जो सामूहिक रूपसे दिव्यत्व की ओर अग्रसर हुआ है, उद्बोधन भी है। उसमें उनके लिए आवश्यक प्रेरणा के स्रोत हैं। उस ओर पथ-प्रदर्शनका प्रयास भी है, और वही वचन-साहित्यका सार-सर्वस्व है। वचनकारोंका उपासनात्मक उपदेश वीरशैवदीक्षारत वीरशैवों के लिए है ही, साथ-साथ वह सर्व-सामान्य जनताके लिए भी है। जैसे गाय जो दूध देती है वह उसके बछड़ेके लिए तो है ही, साथ ही वह दूध और लोगोंकी तुष्टि-पुष्टि भी करता है। कोई भी संप्रदाय तभी संप्रदाय बनता है और हजारों साल तक टिक सकता है जब उसके पीछे अथवा उसकी नींवमें कोई सनातन तत्त्व अथवा शक्ति होती है, सत्य होता है। और साहित्य उस शक्ति अथवा सत्य-तत्त्वका प्रकाश है। कन्नड़ वचन-साहित्य सदियोंसे लाखों लोगोंके जीवनमें आध्यात्मिक चेतना और प्रेरणाका स्रोत बना हुआ है। लाखों लोगोंने उससे प्रकाश पाया है। वह प्रकाश किस शक्तिका है? किस शक्तिने उसको ऐसा अमर बना दिया है? इसका विचार करना है।

वचन-साहित्यमें चार प्रकारकी बातें हैं—(१) सांप्रदायिक, (२) तात्त्विक, (३) धार्मिक, (४) नैतिक। सांप्रदायिकका अर्थ है उपासना-पद्धतिका विवेचन करनेवाली बातें, जिनका विवेचन पिछले अध्यायमें किया गया है। तात्विकका अर्थ जीव, शिव तथा जगतका संबंध क्या है, तथा जीव शिवत्व कैसे प्राप्त कर सकता है? आदिका विवेचन है। इसीको और सूत्रात्मक भाषामें कहना हो तो उसे मोक्ष और उसको प्राप्त करनेकी साधना-विषयक बातें कह सकते हैं। धार्मिकका अर्थ है व्यक्तिगत तथा सामूहिक अभ्युदय और निःश्रेयसकी साधना, तथा नैतिकका अर्थ है व्यक्ति और समाजका संबंध बनानेवाली बातें। कन्नड़ वचन-साहित्यमें जीवनके इन सब पहलुओंका विचार किया गया है। पिछले अध्यायमें सांप्रदायिक बातोंका विवेचन किया गया है। इस अध्यायमें वचनकारोंका साध्य तथा उनकी साधना-विषयक बातोंका विचार किया जाएगा।

किसी भी तत्त्वका बाह्यरूप संप्रदाय है। संप्रदाय किसी तत्त्व अथवा धर्मका शरीर मात्र है। भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके शरीरमें जैसे एक ही आत्मा रहती

है, वैसे भिन्न-भिन्न संप्रदायोंके मूल में, अथवा भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतिके मूलमे जो तत्व रहता है वह एक ही रहता है। जैसे एक धागा अनेक रंग-रूपके फूलोंको एकसाथ पिरो देता है वैसे ही वह तत्व भिन्न-भिन्न संप्रदायके लोगोंको, अथवा समग्र मानव-कुलको बंधुत्वके सूत्रमें पिरो देता है। जैसे भक्ति है। संसारके इस छोरसे उस छोर तक भक्तिभाव एक है। वह समग्र मानव-कुलमें सर्वत्र समान रूपसे विद्यमान है, किन्तु उसका बाहरी रूप कितना भिन्न है! इस बाह्य भिन्नताके अंदर जो एकता निहित है वह मानव-कुलकी संपत्ति है, किसी संप्रदाय विशेषकी थाती नहीं। वही संपत्ति मानवी जीवनके सामूहिक दैवी-करणका प्रेरणा-स्रोत होती है।

वचनामृतमें जो ५६४ वचन है वही वचन-साहित्य नहीं है। वे वचन-साहित्य सागरके कुछ बिंदु है। इन वचनोंका सकलन एक विशिष्ट दृष्टिकोणसे किया है। यह संकलन न तो सांप्रदायिक दृष्टिकोणसे किया है न किसी संप्रदायके लोगोंके लिए किया है। यह पुस्तक सर्वसामान्य लोगोंके लिए लिखी गयी है। सर्वसामान्य लोग कन्नड़ वचन-साहित्यको समझ सकें, उससे प्रेरणा ले सकें, इस लिए लिखी गयी है। इसलिए इस पुस्तकमें सांप्रदायिक भाषाका प्रयोग नही किया गया है। संप्रदायातीत तात्विक वचनोंका संकलन किया है। फिरभी, वीर संप्रदायके तत्वको अथवा षट्स्थल संप्रदायको, जो वचन-साहित्यका कलेवर है, नही छोड़ा जा सकता था। इसलिए उस विषय पर अलग अध्याय लिखा गया है। उसके विवेचनमें भी अधिकतर पारिभाषिक शब्द वही लिए गये हैं जो समग्र भारतीय समाजके लिए परिचित हैं। अर्थात् वेदांत तथा सांख्यकी परिभाषाको अपनाया है। वैसे ही कोईभी वचन कब, किससे, किसलिए कहा गया था आदि-का विचार करके नही चुना गया है। वचनकारोंकी कीर्तिका भी विचारन करके केवल विषयकी अभिव्यंजनाका विचार किया गया है। उसी प्रकार जिन वचनोंमें सत्यज्ञानको स्फूर्त पाया गया उनका चुनाव किया गया है। किसी वचनमेंसे सत्य प्रस्फुटित होता है या नहीं यह जान सकते है, किंतु स्फूर्तिके विषयमें ऐसा कैसे कहे? फिरभी, किसी काव्यको देखकर आलोचक जान ही जाते है कि यह स्फूर्त-काव्य है, क्योकि स्फूर्त-काव्यके कुछ लक्षण होते है। यहाँ भी उन्हीं लक्षणोंका उपयोग किया गया है तथा विषयके स्पष्ट विवेचनकी ओर ध्यान दिया है। सूत्रात्मकताका और स्वाभाविकताका भी ध्यान रखा गया है। अर्थात् वचनोंका चुनाव करते समय लक्ष्य यह रहा है कि इन वचनोंके अध्ययनसे वचनकारोंके कथनका संपूर्ण ज्ञान हो। वचनसाहित्यके सार-ग्रहणमें, रस-ग्रहणमें सहायता मिले तथा वचन-साहित्यके मूल तत्वको समझनेमें सुविधा हो, इसी दृष्टिसे वचनोंका पृथक्करण, विवेचन तथा उन पर विस्तृत टिप्पणियाँ भी दी हैं।

वचन-साहित्य वचन शैली में कहा गया अध्यात्म-शास्त्र है। अध्यात्म शास्त्र-का अर्थ आत्मा, अथवा विश्वके मूल तत्वसे संबंध रखनेवाला शास्त्र है। इस शास्त्रका विषय होता है विश्वके आत्यंतिक मूल तत्वकी खोज, उसका यथार्थ रूप जाननेका प्रयास। सबको दिखाई देनेवाला, और क्षण-क्षण बदलने वाला यह विश्व क्यों पैदा हुआ ? कैसे पैदा हुआ ? किस क्रमसे पैदा हुआ ? हमारा जीव क्यों और कहांसे तथा कैसे आया ? इसका स्वरूप क्या है ? इसका साध्य क्या है ? इस साध्यको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? इस साध्यको प्राप्त करनेमें कौन-कौनसी बाधाएँ है ? उन्हें कैसे दूर करना चाहिए ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर देना अध्यात्मशास्त्रका काम है। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका अथवा ध्याता, ध्यान और ध्येयका, अथवा जीव, शिव और जगतका क्या संबंध है ? इसका विवेचन, विश्लेषण करके आवश्यक निर्णय करनेवाले शास्त्रको अध्यात्म-शास्त्र कहते हैं। वचन-शास्त्रमे इन सबका विवेचन हुआ है। वचनामृतमें इन सब विषयोंको स्पष्ट करनेवाले वचनोका चुनाव किया गया है।

हमारे कान, हमारी आँखें, नाक, जिह्वा तथा त्वचा, इनको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। जिस विश्वको हम अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे जानते हैं, वह विश्व क्षण-क्षण मे अपना रंग बदलता है। इस बदलनेवाले, अर्थात् परिवर्तनशील विश्वके मूलमें अथवा इसके परे एक तत्व है। वह तत्व अपरिवर्तनीय है। कभी वह अपना रंग-रूप नहीं बदलता। उस तत्वको सत्य कहते हैं। उसका वर्णन करना असंभव है। क्योंकि वह भाषाकी मर्यादाके अन्दर नहीं आता। फिरभी वचन-कारोने विरोधाभासात्मक शैलीमें उसका वर्णन करनेका प्रयास किया है। जिस बातका उन्होने अनुभव किया उसको दूसरोंको समझानेके लिए ऐसा करना आवश्यक था। यह वर्णन यथार्थ वर्णन नहीं है। किंतु सकेत भर है। निर्देशा-त्मक है। वस्तुतः यह अनुभव करनेका विषय है। कहने-सुननेका नहीं। वचन-कारोंने कहा है यह तत्व कार्य-कारण, इह-पर, आदि-अनादि, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, अन्दर-बाहर, ऊपर-नीचे आदि द्वंद्वोंसे परे। यह विश्वके प्रारंभ होनेसे पहले था। वह अखंड है। अद्वय है। स्वयंभू है। स्वतंत्र है। निरालंब है। नाम-रूप-क्रियातीत है। वेद भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। उस तत्वको हृदयसे अनुभव किया जा सकता है। उसको आंखोंसे नहीं देखा जा सकता। वह सच्चिदानन्द नित्य परिपूर्ण है। सत् और नित्यका अर्थ है सदैव रहने-वाला अर्थात् चिरंतन। चित्का अर्थ ज्ञानस्वरूप है। आनंदका अर्थ दुखा-तीत है। सदा प्रसन्न है। इस सत्य तत्वको वचनकारोंने 'पर शिव' भी कहा है। यह पुरुषवाचक शब्द है। यह दो प्रकारका वर्णन परस्पर विरोधी नहीं है। सत्य और मिथ्या भी नहीं है। आंखोंसे देखकर तथा नाकसे सूंघकर किया हुआ

एक ही फूलका वर्णन जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है, वैसे ही अलग-अलग वचनकारोंने उसका वर्णन अलग-अलग प्रकारसे किया है। यह वर्णन परस्पर पूरक ही है।

वह आत्यंतिक तत्व शून्य है, निरवयव है, निःकल है, रंग-रूप रहित है, यह वचनकारोंका अनुभव-जन्य कथन है। वेदांत-मार्गी सिद्धोंने तुरीयावस्थाका अनुभव करके यही कहा है। योगियोंने निर्विकल्प समाधिमें अनुभव करके यही कहा है। इसी अवस्थाको वचनकारोंने समरसैक्य कहा है। और उन्होंने यह अनुभव कन्नड़ भाषा और वचन शैलीमें कहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस अखड, द्वंद्वातीत, एक रसात्मक तत्वसे यह द्वंद्वात्मक, 'सादि' 'सांत', (जिसका आदि-अंत है), अनेक रसात्मक विश्व कैसे उत्पन्न हुआ ? वेदांत शास्त्रमें यह एक अत्यन्त महत्वका प्रश्न है। यदि सृष्टिको कोई कार्य कहें तो उसक कारण और स्रष्टाका होना आवश्यक है। यदि यह कार्य ही नहीं है ऐसा कहा जाए तो तत्वतः विश्व नामका कुछ है ही नहीं। इस लिए वेदांतका मत है कि यह विश्व विवर्त है, मिथ्या है। मृगजलकी तरह आँखोंको भास होता है। वस्तुतः कुछ नहीं है। किंतु वचनकार इसको नहीं मानते। वचनकार विश्वको स्पष्टतः कार्य मानते है। वह मानते हैं कि परशिवने अपनी शक्तिके विनोदार्थ, संकल्पसे इसका निर्माण किया है। इस कार्यके पीछे कारणहोना अनिवार्य है। कुछ उद्देश्य होना आवश्यक है तो भला अकाम शिवमें उद्देश्यकी संभावना कैसी ? इसलिए लीला, विनोद शब्दोंका प्रयोग किया गया है। शिवने विश्वका निर्माण किया, इसका अर्थ विश्व-की सभी सचराचर वस्तुओं और जीव-सृष्टिका निर्माण किया। किंतु शिव अथवा सत्य, ऐसा एक ही तत्व था तो इस विविधतापूर्ण विश्वका कैसे निर्माण हुआ ? परशिवके संकल्पसे अथवा स्मरणसे प्रथम चित्शक्ति निर्मित हुई। वह सत्, चित्, आनंद, नित्य-परिपूर्ण है। वह निःकल शिव-तत्व है। उसकी अपनी शक्ति-के चलन मात्रसे प्रवृत्ति, निवृत्ति, अथवा शक्ति-भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। उस शक्तिकी क्रिया-शक्तिसे मायाका प्रादुर्भाव हुआ। मायासे पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहं-कार, मन, पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, तथा पंचतन्मात्राएँ और पंचमहाभूत निर्मित हुए, जिनसे यह विश्व बना है, और एक स्थान पर एक ही वस्तुसे गुणत्रयका प्रादुर्भाव हुआ। तीन गुणोंसे तीन मल निकले। उन तीन मलोंके 'आणव मल', 'मायामल', 'कार्मिकमल" ये नाम हैं। वचनकारों ने ऐसा भी कहा है कि इन मलों-से यह विविधतापूर्ण विश्व बना। एक वचनमें यह भी कहा है कि सत्व, रज, तम, इन तीन गुणोंका प्रादुर्भाव हुआ और उन तीन गुणोंके क्षोभसे यह विश्व बना। वचनकार उस तत्वकी लीला-वृत्तिको ही इस विश्वका कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि शिवकी लीला-वृत्तिके स्मरण-संकल्पसे अनंत कोटि ब्रह्माण्डोंका

निर्माण हुआ। अनंत करोड़ों जीवोंका निर्माण हुआ। यह जीव पच्चीस तत्वोंके जालमें फंसकर, अपने आत्म-रूपको भूल कर, देह ही मैं हूँ, इस देह भानसे दुःखी होते हैं। सारे दुःखोंका कारण यह देह भान है, 'देह ही मैं हूँ।' यह भाव है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। विश्वकी उत्क्रांतिका यह कारण देनेसे और एक प्रश्न उठता है। क्या उस तत्वको कर्मका बंधन नहीं लगता? क्योंकि वही सृष्टिकर्त्ता है। वचनकार इस प्रश्नका उत्तर देते हैं। वह निष्काम है। अलिप्त है। इसलिए वह सब कुछ करके भी अकर्त्ताके रूपमें रह सकता है।

जिस तत्वको वचनकारोंने 'परशिव' कहा है उसको अन्य भारतीय दर्शन-कारोंने परमात्मा कहा है। परशिव विश्वव्यापी है। किंतु वह जड़से चरमें, चरसे चेतनमें, चेतनसे जीवमें, सामान्य जीवसे बुद्धियुक्त जीवमें, बुद्धियुक्त जीवसे मनुष्यमें, सामान्य मनुष्यसे सत्वशील भक्त अथवा ज्ञानीमें अधिक प्रत्यक्ष होता है। वचन-कार कहते हैं कि इसलिए परशिवको जानना जैसे भक्त अथवा ज्ञानीके लिए सुलभ साध्य है वैसे औरोंके लिए नहीं। क्योंकि अन्य सब मायाके आवरणमें आबद्ध रहते हैं अज्ञानके आधीन होते हैं। सुख-दुःखादि द्वंद्वोंमें फंसकर कर्म-चक्रमें, पर्यायसे जन्म-मरणके चक्रमें फिरते रहते हैं। अहंकार, अभिमान, कामिनी, कांचन, तथा भूमिका लोभ, काम, क्रोधादि विकार, ये सब मायाके विविध रूप हैं। यदि सच देखा जाए तो यह देह पंचभूतात्मक है, नाशवान है। धन कुबेर-का है। मन वायुका खेल है। कर्म शक्तिका खेल है। ज्ञान 'चिद्घन' से प्राप्त है। इसमें भला हमरा अपना क्या है? फिर भी जीव यह सब मेरा-मेरा कहकर रोता रहता है। यही अज्ञान है। इसी अज्ञानके कारण मनुष्य अपनेको नहीं पहचान पाया। परमात्मासे विमुख होता है। परमात्माभिमुख जीव मुक्त है। परमात्मासे विमुख जीव बद्ध है। यदि मनुष्य इस बातको अच्छी तरह समझ ले तो उसका उद्धार निश्चित है। किंतु मनुष्य अपनी पशु-वृत्ति नहीं छोड़ता। मनुष्यमें सब प्रकारके बंधनसे मुक्त होनेकी शक्ति है। किंतु वह वैसा प्रयत्न नहीं करता। वचनकार समग्र मानव-कुलको मनुष्यकी इस शक्तिसे परिचित कराने-के लिए तड़पते हैं। इसीलिए उन्होंने संस्कृतमें स्थित अध्यात्म-शास्त्रको लोक-भाषामें प्रचलित किया। उस समयकी लोक-भाषामें उसका देश भरमें प्रचार किया। उनकी यह मान्यता है कि शाश्वत सुख सबकी संपत्ति है। सबकी संपत्ति सबको मिले, यही उन संतोंकी मंगल-कामना है।

वचन-साहित्यके निर्माणकी जड़में यही मंगल कामना है उनकी दृष्टिसे तत्वतः जीव परमात्माका अंश-भूत है। उसके दुखी होनेका कोई कारण नहीं है। किंतु विश्वोत्पत्तिके कारणीभूत माया-शक्तिके कारण मनुष्यको अपनी वास्तविकता-का विस्मरण हुआ है। माया कोई नया तत्व निर्माण नहीं करती। वह अपने

अंधकारसे तत्वका सम्पूर्ण दर्शन नहीं होने देती। कभी-कभी उस तत्वकी कोई न कोई कोर अथवा कला दिखाकर जीवको भ्रममें डाल देती है। इसको वचनकारोंने विस्मरण कहा है। वचनकारोने कहा है कि उस मायाने सारे विश्व पर अपना आवरण डाल दिया है। इसलिए बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग भी विस्मृतिके जालमें फँसकर उसके अधीन हुए हैं। अहंकार इस मायाका महानतम साधन है। अहंकारका अर्थ देह-भान है। आत्माकी विस्मृतिसे देहका भान होता है। देह ही मैं हूँ, ऐसा भाव बनता है। इस अहकारके बवडरसे ज्ञानकी ज्योति डगमगाती है और मनुष्य दुःखी होता है। अहंकारके कारण कामनाओंका प्रारंभ होता है। आशा-आकांक्षाएं बढ़ती हैं। वहींसे दुःखकी परंपरा प्रारभ होती है। वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणासे वह भर जाता है। इन सबके मूलमें माया है। माया-जन्य विस्मरण है। मैं परमात्माका ही अंश हूँ, इसके विस्मरणसे देह-भान पैदा होता है। इससे शरीर सुखोंकी अभिलाषा पैदा होती है। वह बढ़ती है। और पंचेन्द्रियोंकी सुख साधनाका प्रारंभ होता है। यही दुःखका कारण है। क्योंकि सच्चा सुख कभी पराश्रित नहीं हो सकता। वह अतःकरणमें स्थित आत्मापर अवलंबित होता है। इसलिए अपनी वास्तविकता स्मरणसे, अर्थात् ज्ञानसे मनुष्य सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है। इस विविधतापूर्ण विश्वमें प्रत्येक जीव अलग-अलग-सा दिखाई देता है। किंतु इन सबका निकटतम संबंध है। वह संबंध अदृश्य है। प्रत्येक जीवका जन्म, विकास, मरण आदि समग्र विश्वके अखंड कार्य-क्रमका एक अंश है। इस जीवका जीवन समग्र विश्वके जीवन प्रवाहकी एक बूंद-सा है। यदि मनुष्य इसका रहस्य जान लेगा तो भला वह किस बातका अहंकार करेगा ? किसका अभिमान करेगा ? किसका बड़प्पन दिखायेगा ? इससे वह नम्र बनेगा। अर्थहीन बड़प्पनके पीछे नहीं पड़ेगा। इन्द्रियोंका क्रीतदास नहीं बनेगा। जन्म-जन्मातरके कर्म-बंधनमें नहीं फँसेगा। निष्काम भावसे कर्म करता जाएगा। ईश्वर दत्त सभी शक्तियां लोक-सेवार्थ व्यय करेगा। प्रभुका दिया हुआ सर्वस्व उसीके चरणोंमें समर्पण करके उसमे ऐक्य हो जाएगा। परमात्मामें समरस हो जाएगा। इसको वचनकारोंने 'लिगैक्य' 'निजैक्य' 'समरसैक्य आदि कहा है। जब मनुष्य सामूहिक रूपसे इस ओर आगे बढ़ेगा भारतीय दार्शनिकोंका "सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः" वाला स्वप्न साकार होता जायगा। वचनकार इस महास्वप्नको साकार बनानेवाली सामूहिक साधनाके साधक हैं। जो कुछ पाया उसे सबको देनेके लिए उन्होंने वह सब कुछ किया जो वे कर सकते थे।

वचनकारोंका समग्र जीवन इसी ओर संकेत करता है। आध्यात्मिक जीवनमें वह संपूर्ण स्वतन्त्रताके पक्षपाती थे। उनकी मान्यता है कि इस विशाल विश्वमें जीव चैतन्यका एक कण-सा है। जबतक इस जीवको चैतन्यका स्मरण ज्ञान नहीं

होता तबतक उसके किसी कर्मका दायित्व उसपर नहीं होता। जैसे किसी बच्चेने कोई भला-बुरा काम किया तो उसका कोई दायित्व उस बच्चे पर नहीं होगा। इस विश्वमें आनेवाले कई जीवोंको पाप और पुण्यकी कल्पना भी नहीं होती होगी। ऐसे जीवोंपर पाप या पुण्यका कोई दायित्व नही है। क्योंकि उनको अपनी स्थितिका ज्ञान और भान नही होता। अपने दायित्व को उठानेके लिए इस ज्ञान अथवा भानकी अत्यंत आवश्यकता होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें अपने कर्मका फल नहीं भुगतना पड़ेगा। किंतु वह स्वतन्त्र कर्त्ता नही है। वे बंधनसे मुक्त होने योग्य नही है। अपनी मुक्तिके लिए आवश्यक कर्म करनेकी योग्यता उसमें नहीं आयी। इसके लिए उसको अपने बारेमें, अर्थात् मैं कौन हूँ इसका ज्ञान होना अनिवार्य है। एक बार यह ज्ञान होनेके बाद ही जीवको अपनी वृद्धावस्थासे मुक्त होनेके लिए आवश्यक कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होता है। तभी वह स्वतन्त्र कर्त्ता होता है। उसमें भले-बुरेका तारतम्य ज्ञान आता है। सदमद्-विवेक बुद्धि जागृत होती है। अपने बौद्धिक निर्णयके बाद, उस निर्णयके अनुसार, विषयासक्तिकी ओर हेय-भाव निर्माण होता है और मुक्तिकी आकाक्षा महुलाने लगती है। अहंकार, काम, क्रोध आदि धीरे-धीरे गलने लगते है। वह निष्काम होता जाता है। वह प्रार्थना करने लगता है, 'इस संसार चक्रसे मुक्त करो।' वह अकुलाता है कि सुखका दर्शन होते ही दुःखका प्रारंभ होता है। मेरी स्थिति साँपके फनकी छायामे बसे मेढककी-सी हुई है। मेरी स्थिति शेरके सामने बांधकर रखे हुए हरिणकी-सी है। अब मेरी रक्षा करो। उसकी यह अकुलाहट अत्यंत तीव्र होती है। इन्द्रियजन्य सुखमें उसे कोई आनद आता ही नही। इन्द्रियजन्य सुख उसकी अकुलाहट बढ़ानेमें ही सहायक होते हैं। तब वह वास्तविक अर्थमें भगवत्स्मरण करने लगता है। उसमे नित नयी जिज्ञासा जागती है। मै कौन हूँ? कहांसे आया? कहां जाना है? यह जिज्ञासा ही आत्मज्ञानकी जननी है।

इस जिज्ञासासे उत्पन्न होनेवाला आत्म-ज्ञान ही मुक्तिका संबल है। वही मुक्ति का साधन है। और यह मुक्ति ही मानवीय जीवनका अंतिम ध्येय है। यही मुक्ति शाश्वत सुख है, इसमें दो मत नही हैं। इस पर सभी एकमत हैं, सभी एक कंठसे इसे स्वीकार करते है कि अनुकूल संवेदना ही सुख और प्रतिकूल सवेदना ही दुःख है। किंतु सुख-दुःखमें भी तरतम भाव है। एक पशुके आनंदसे मनुष्यका आनंद उच्च कोटिका है। सामान्य मनुष्यके आनदसे विद्वान्का आनद उच्चतर है। और विद्वान्के आनदसे निष्काम आनद उच्चतम है। जैसे-जैसे जीवका विकास होता जाता है वैसे-वैसे आनंदकी कल्पना भी बदलती जाती है। चतुष्पद पशु इन्द्रियजन्य सुखमें मग्न रहता है। उसका मन अन्य किसी संस्कारसे

सुसंस्कृत नहीं रहता। इसलिए वह मानसिक ग्रानंद प्राप्त कर सकता है या नहीं, यह जाननेका कोई साधन हमारे पास उपलब्ध नहीं है। किंतु एक ग्रसंस्कृत मनुष्य भी पशुसे ग्रधिक श्रेष्ठ प्रकारका ग्रानंद ग्रनुभव कर सकता है। वह संगीत, नृत्य ग्रादि कलाग्रोंसे इन्द्रियजन्य ग्रानंदसे ग्रधिक सूक्ष्म ग्रौर श्रेष्ठ प्रकारका ग्रानंद ग्रनुभव कर सकता है। सुसंस्कृत मनुष्य सत्कार्य ग्रौर इसके लिए किए जानेवाले त्यागका ग्रानंद ग्रनुभव कर सकता है, जो ग्रानंद कलाजन्य ग्रानंदसे ग्रधिक सूक्ष्म ग्रौर श्रेष्ठ प्रकारका है। यह ग्रानंद ग्रथवा सुख किसी प्रकारकी कामना पूर्तिका ग्रानंद नहीं है। यह किसी प्रकारके स्वार्थपर ग्राधारित नहीं है। वैसे ही भक्त निरहेतुक भगवत्स्मरणका ग्रानंद ग्रनुभव करता है। निरहेतुक भगवत्प्रेमका ग्रानंद ग्रनुभव करता है। सतत भगवद्चिंतनमें मग्न रहता हुग्रा सर्वत्र परमात्माका दर्शन करनेका सूक्ष्म ग्रौर श्रेष्ठतम ग्रानंद ग्रनुभव करता है। इसीको ग्रात्म-सुख कहते हैं। ज्ञानी भी इस ग्रात्म-सुखका ग्रनुभव करता है। वह सोचता है, इन ग्राँखोंसे जो देखा जाता है वह सब नश्वर है। इन कानोंसे जो सुना जाता है वह क्षणिक है। इन सबके परे जो ग्रात्म-तत्व है वही नित्य है। वही सत्य है। उसीको पाना मेरे जीवनका एकमात्र साध्य है। इस निश्चित ज्ञानसे भक्त इन्द्रियजन्य सुख-दुःखसे परे हो जाता है। सुख-दुखादि द्वंद्वका ग्रतिक्रमण करता है। ग्रौर ग्रात्मतत्वमें स्थित रहकर ग्रात्मानंदमें लीन हो जाता है। इस स्थिति में सदैव रत रहना ही मुक्ति है। मुक्ति शाश्वत सुखका दूसरा नाम हैं। वचनकारोंके शब्दों में कहना हो तो इन्द्रियोंसे मनको खींचकर रखना ही सुख है। मनका इन्द्रियोंके ग्राधीन होकर भटकना ही दुःख है। जिसका मन शून्यमें स्थित रहा वह मुक्त है। जैसे व्यसनी लोग सतत ग्रातुरतासे ग्रपने विषय-सुखकी खोज करते है, वैसे ही मुमुक्षु ग्रपने ग्रांतरिक सुखकी खोज करते है। उतनी ही ग्रातुरतासे, उतनी ही व्याकुलतासे। व्यसनी लोग जैसे ग्रपने इन्द्रिय सुखके भोगमें ग्रांतरिक जीवनके ग्रथवा ग्राध्यात्मिक तथा नैतिक जीवनके ह्रासका विचार नहीं करते वैसे ही मुमुक्षु ग्रांतरिक प्रसन्नता ग्रथवा शाश्वत सुखकी खोजमें इन्द्रियजन्य सुखका यत्किंचित् भी विचार नहीं करता। उसके लिए ग्रात्म-सुखके सामने विश्वमें प्राप्त ग्रौर सब सुख, इतना ही नहीं स्वर्ग सुख भी फीका लगता है। उसका जीवन ग्रात्म सुखके लिए उत्सर्ग-सा हो जाता है। इस ग्रात्मसुख ग्रथवा शाश्वत सुखके लिए वह सब कुछ करनेको तैयार हो जाता है। उसके जीवनके क्षण-क्षण ग्रौर कण-कण उस सुखकी खोज ग्रौर प्राप्तिके लिए तड़पने लगते हैं। उसके जीवनका प्रत्येक कर्म इस ध्येय-प्राप्तिका साधन रूप हो जाता है।

इसीको साधना कहते हैं। सतत ध्येयरत जीवन ही साधना है। ग्रौर जो ऐसी साधनामें रत रहता है उसको साधक कहते हैं। वचनकारोंकी दृष्टिसे

सर्वार्पण अर्थात् सब कुछ उस तत्वको जिसे साधक पाना चाहता हैं अर्पण करके उसकी शरण जाना सर्वोत्तम मार्ग हैं। वचनकारोंने इस तत्वको परशिव कहा है। भक्तोंने भगवान कहा हैं। योगियोंने परमात्मा कहा है। अर्थात् साधकके लिए अपना सर्वस्व परशिव अथवा परमात्मा अथवा भगवानके चरणोंमें अर्पण करके उनकी शरण जाना साधनाका सर्वोत्तम रूप है। अन्य सब प्रकार की साधनाएं इसके अंदर आती हैं। अथवा अन्य सब प्रकारकी साधनाएं इस महासाधनाकी तैयारी हैं। यही आदिम और अन्तिम साधना है। इसीके अंदर ज्ञान, भक्ति, कर्म, तथा ध्यानका समावेश हो जाता है। वह सर्वार्पणका ही विविध रूप है। इसलिए वचनकारोंने इन सबका स्पष्ट विवेचन किया है। इसमें संशय नहीं कि साधक सर्वार्पणसे अपनी साधनाका प्रारंभ करता है। किंतु प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धिशक्ति, भावनाशक्ति, क्रियाशक्ति, चिंतनशक्ति आदिका समान विकास नहीं होता। किसीमें क्रियाशक्तिकी प्रधानता रहती है तो किसीमें भावनाशक्ति की। किसीमें बुद्धिशक्तिकी प्रधानता रहती है तो किसीमें चिंतनशक्तिकी। मनुष्य मात्रमें ये चारों शक्तियां बीज रूपसे अवश्य रहती हैं। किंतु सबमें सबका समान रूपसे विकास हुआ नहीं रहता। इसलिए प्रत्येक साधक अपनी उसी शक्तिका अधिक उपयोग करेगा जो अधिक विकसित हो। उपरोक्त चार साधना मार्गोंके लिए इन चार शक्तियोंकी आवश्यकता रहती है। क्रमशः ज्ञान-मार्गके लिए बुद्धिशक्तिकी आवश्यकता होती है। भक्ति-मार्गके लिए भावनाशक्तिकी आवश्यकता होती है। कर्म-मार्गके लिए क्रियाशक्तिकी आवश्यकता होती है और ध्यान-मार्गके लिए एकाग्र चिंतनशक्तिकी। जिस साधकमें जिस शक्तिका अधिक विकास हुआ है वह साधक उस प्रकारका साधना-पथ चुनता है। सर्वार्पण किए हुए साधकमें कोई ज्ञानमार्गी हो सकता है तो कोई भक्तिमार्गी। कोई कर्ममार्गी हो सकता है तो कोई ध्यानमार्गी। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि सर्वार्पण किया हुआ शरण-साधक अपनी अन्य किसी शक्तिका कोई उपयोग करेगा ही नहीं। वह अन्य शक्तियोंका उपयोग भी करेगा, किंतु विशेष रूपसे वह अपनी सर्वाधिक विकसित शक्तिका उपयोग करेगा। इसलिए इन सब मार्गोंका संक्षेपमें विचार करना आवश्यक है।

किसी मनुष्यमें जो शक्तिपुंज होता है इसका विश्लेषण किया जाय, अथवा पृथक्करण किया जाय तो उसमें पांच प्रकारकी शक्तियां होती हैं। (१) प्राण-शक्ति, (२) क्रियाशक्ति, (३) चिंतनशक्ति, अथवा ध्यानशक्ति, (४) भावना-शक्ति, तथा (५) बुद्धिशक्ति। ये सब शक्तियां स्वतंत्र नहीं हैं। ये परस्पर संबन्धित होती है। परस्परावलंबी हैं। जैसे मनुष्यकी आंख, नाक, कान जिह्वा, त्वचा आदि अवयव, देखनेमें अलग-अलग हैं। किंतु ये सब एक ही शरीरके ज्ञानके उपादान

हैं। परस्पर सहयोगसे ज्ञानसंग्रह करते हैं। इन पांच इंद्रियोंमें किसीकी स्पर्शेंद्रिय तीव्र होती है तो किसीकी घ्राणेंद्रिय। किसीकी श्रवणेंद्रिय तीव्र होती है तो किसीकी रसनेंद्रिय। वैसेही किसीकी क्रियाशक्ति अधिक विकसित होती है तो किसीकी भावना शक्ति। किसीकी प्राणशक्ति अधिक विकसित होती है तो किसीकी चिंतनशक्ति। किंतु ये सभी शक्तियां कम-अधिक मात्रामें होती सबमें हैं। इन सब शक्तियोंका आश्रय-स्थान आत्मा है। जैसे सब ज्ञानेंद्रियोंका समन्वय मनमें होता है वैसे ही इन सब शक्तियोंका समन्वय आत्मामें होता है। सामान्य मनुष्य विषय-वासनाओंकी तृप्तिके लिए इन शक्तियोंका उपयोग करता है। विषय-वासनाका अर्थ है कि इंद्रिय सुखके लिए मनमें उत्पन्न होनेवाला इंद्रियाश्रित आशा-जाल। इस विषय-वासनासे उत्पन्न होनेवाला सुख क्षणिक है। वह परावलंबी है। मायिक है। दोषमिश्रित है। वह निर्दोष सुख नहीं है। यह जानकर मनुष्य निरालंब, निर्दोष, नित्य सुखको प्राप्त करनेके लिए अर्थात् आत्म-सुखको प्राप्त करनेके लिए इन पांच शक्तियोंका उपयोग करने लगता है। इस प्रकारकी जीवन पद्धतिको योग-मार्ग कहते हैं।

भिन्न-भिन्न शक्तियों पर अवलंबित योग मार्गोंका अथवा वचनकारोंके विशिष्ट समर्पणजन्य शरणमार्गका विवेचन करनेके पहले उपरोक्त शक्तियोंके कार्यका विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा। शरीरके सभी बाह्य अवयवोंसे, अर्थात् नखसे शिख तक शरीरके किसी भी भागसे होनेवाले किसी भी प्रकारके चलन-वलनका आधार प्राणशक्ति है। प्राणशक्तिके कारण हमारे शरीरका पोषण और रक्षण होता है। प्राणशक्तिसे ही हमारे शरीरका सब प्रकारका संचालन होता है। प्राणशक्ति ही हमारे शरीर रूपी यंत्रको सजीव रखती है। ऐसे ही हमारे मन और तनसे संकल्पपूर्वक जो कार्य किया जाता है वह क्रिया-शक्तिके द्वारा किया जाता है। जिस शक्तिके कारण मनमें संकल्प-विकल्प उठते हैं अथवा अनेक प्रकारकी वृत्तियां उठती हैं उसे चिंतनशक्ति कहते हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष आदिका आधार भावनाशक्ति है। तथा सत्य-असत्य, नित्य- अनित्य, भला-बुरा, उचित-अनुचितका विवेचन, विश्लेषण करके उसमें तुलना करके निर्णय करनेका काम बुद्धि शक्तिका है। बुद्धिशक्ति प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्त वाक्यकी सहायतासे यह कार्य करती है। इन पांच शक्तियों में से किसी एक शक्तिके द्वारा मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जिस शक्ति के सहारे वह मुक्ति प्राप्तिकी साधना करता है उसके अनुसार उस साधना मार्गका नामकरण होता है। जैसे यदि कोई साधक अपनी प्राणशक्तिके सहारे मुक्तिकी साधना करेगा तो उस साधना क्रमको प्राण-योग अथवा हठयोग कहेंगे। क्रिया शक्तिका सहारा लेगा तो क्रिया-योग अथवा कर्मयोग कहेंगे।

ध्यानशक्तिका सहारा लेगा तो उसको ध्यानयोग कहेंगे । अथवा इसको पातंजल-योग कहेंगे । क्योंकि पातंजलिमुनि इसके प्रवर्तक हैं । इसके आठ अंग है । इसलिए इसको अष्टांग योग भी कहते हैं । किसीने अपनी साधनाके लिए भावना-शक्तिका सहारा लिया, उसको भावना योग अथवा भक्ति योग कहा जाता है । और बुद्धिशक्तिका सहारा लिया तो ज्ञान-योग । अपनी अलग-अलग प्रकारकी कार्यप्रणालीके कारण इन शक्तियोंको अलग अलग नामसे जानते है । किंतु ये शक्तियां समग्र जीवनके विकासकी दृष्टिसे स्वतंत्र नहीं है । यह सब परस्परा-वलंबी है । उसी प्रकार मोक्ष-साधनामे यह सब मार्ग भी परस्परावलंबी है । इसी-लिए वचनकारोने इन सबका समन्वय किया है । उनकी दृष्टिमे इनमेसे किसीका स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व नही है । वचनकारोंका मार्ग समर्पणजन्य शरण मार्ग है । वह परशिव की शरण गये थे इसलिए उन्हे शिवशरण कहते है । सर्वार्पण करके शरण गये हुए शरणके पास भला अपना क्या रहेगा ? उसकी सभी शक्तियां भगवद्-दर्पण है । वह प्रत्येक बातके लिए परमात्मा पर ही निर्भर रहेगा । [illegible] उसके पास दूसरा कोई संबल है ही नहीं । शरण अपने बल पर उछल-कूद करने वाला बंदरका बच्चा नहीं होता । वह तो अपनी मांके सामने आंखे मून्दकर सिर नवाकर बैठा हुआ बिल्लीका बच्चा-सा है । जहां मां रखती है वहां रहेगा । जैसा रखती है वैसे रहेगा । मा को ही उस बच्चेकी चिंता है । वही उसको विपत्तिके मुंहसे बचाती है । यह वचनकारोंकी साधनाकी विशेषता है । वचन-कारोंके इस साधना-मार्गको जैसे शरण-मार्ग कहते है वैसे ही समन्वय-योग कह सकते हैं । अथवा जीवनकी संपूर्ण शक्तियोंका उपयोग होता है इसलिए जीवन-योग अथवा पूर्णयोग कह सकते है। इतना सब होने पर भी कई वचनकार कर्मयोगी हैं । कोई ध्यानमार्गी है । कोई ज्ञानयोगी तो कोई भक्त । इनमें किसीका कोई हठ नहीं । कोई आग्रह नहीं । सब सर्वसमर्पणको समान रूपसे महत्व देते हैं । सर्व प्रथम वे अपनी सब शक्तियोको परशिवके चरणोंमें अर्पण करेंगे । एक बार शिवार्पण हुआ कि वे सब शक्तियां प्रसाद रूप बनीं । उनकी यह मान्यता है कि इस प्रकारके समर्पणसे उन सब शक्तियोंका शुद्धिकरण होगा, जिन शक्तियोंका उपयोग मुक्ति-प्राप्तिके लिए करना है । उनकी दृष्टिसे इस शुद्धिकरणके बिना कुछ भी होना संभव नहीं है । ज्ञानयोगीकी बुद्धि शुद्ध न हो, अर्थात् आत्माभिमुख न हो तो क्या होगा ? वह आत्म-विमुख होगी । इन्द्रियाश्रित मनके पीछे दौड़ेगी ? तब भला वह परमात्माकी खोज कैसे करेगी ? वह तो इन्द्रियजन्य सुखके पीछे पड़ेगी । परमात्मा विमुख होगी । वही बात संकल्प शक्तिकी है। शिवार्पणसे संकल्प शुद्धि हुई तो सत् संकल्पसे सत्कार्य होगा। बिना संकल्प शुद्धिके साधक निष्काम कैसे होगा ? ध्यान योगमें भी बिना चित्त-

शुद्धिके चित्त एकाग्र कैसे होगा ? ईश्वरार्पण जीवन शुद्धिकरणका सुंदरतम साधन है। ऐसी स्थितिमें साधक कहता है, मेरा कुछ रहा ही नहीं। सब कुछ तेरा है। मैं भी तेरा हूं। तू जैसे रखेगा वैसे रहूँगा। जो करायेगा वह करूंगा। जैसे नचायेगा वैसे नाचूंगा। इस तरह वह परमात्माका खिलौना बन जाएगा। वह निरहंकारी बनेगा। नम्र बनेगा। उसका कोई संकल्प नहीं रहेगा। भगवद् संकल्प ही उसका संकल्प बनेगा। तब वह निराभार बनेगा। निष्काम बनेगा। अनासक्त बनेगा। उसकी सारी शक्तियां जिनसे उसको शाश्वत सुखकी खोज करनी है, स्वाभाविक रूपसे अनजाने ही शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम होती जाएंगी। शुद्ध साधनोंसे शुद्ध साध्य प्राप्त होगा। साधक सिद्ध बनेगा।

वचनकारोंके इस शरण मार्गमें सर्वार्पण भाव मुख्य है। यह सर्वार्पण भाव सहज साध्य नहीं है। इसके लिए उत्कट ध्येय-निष्ठाकी आवश्यकता है, दृढ़ संकल्पशक्तिकी आवश्यकता है। सर्वार्पण अथवा शिवार्पणका अर्थ अपने आत्म-विकासके सभी सूत्रोंके स्वामित्वका त्याग है। उत्कटतम ध्येय-निष्ठासे ही यह संभव हो सकता है। इस ध्येय-निष्ठाके लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यम-नियमोंका पालन आवश्यक है। यही सब प्रकारके योग-मार्गका आधार है। जो मनुष्य अपने सामान्य जीवनमें सत्य-असत्यका विचार नहीं करता, हिंसा-अहिंसाका विचार नहीं करता, दूसरोंको लूटकर अपना घर भरता रहता है, अथवा दूसरोंके खूनसे अपनी शान बढ़ाता रहता है वह भला विश्वके मूलमें जो आत्यंतिक सत्य तत्त्व है उसकी खोज क्या करेगा ? जो प्रत्यक्ष दीखनेवाला सत्य नहीं जान सकता अथवा जानकर भी उसकी उपेक्षा करता है वह थला किसी इन्द्रिय और मनके लिए भी अगोचर सत्यको क्या पावेगा ? अर्थात् किसी भी साधना मार्गपर कदम रखनेसे पहले, सर्व समर्पणसे भी पहले यम-नियमोंका पालन आवश्यक है। यही साधना पथका संबल है। यही साधना पथका पाथेय है। इसीलिए वचनकारोंने तथा योगमार्गके अन्य आचार्योंने इसको अत्यंत महत्व दिया है। शरण-मार्गके, अथवा समन्वय-योगके साधकके लिए सबसे प्रथम सत्यान्वेषणकी उत्कटतम इच्छाकी आवश्यकता है। उसके अनंतर उसको उतनी ही उत्कट ध्येय-निष्ठासे, दृढ़ संकल्पसे यम-नियमसे युक्त अपनी सब शक्तियोंको भगवदर्पण करना होगा। बादमें यदि वह प्राणशक्तिके द्वारा साधना प्रारंभ करना चाहता है तो स्नान, आसन, प्राणायाम, नेती, धौती, बस्ति, नौली आदि क्रियाओंसे शरीरका अंतरबाह्य शुद्ध करना होगा। प्राणायाम, भस्त्रिका, पूरक, कुंभक, रेचक तथा मूलबंध, जालंधर-बंध, उड्डियान-बंध आदि क्रियाओंसे कुंडलिनी शक्तिको जागृत करना होगा। फिर वह जागृत

कुंडलिनी-शक्तिके द्वारा ब्रह्मरंध्र अथवा सहस्र-कमल-दलमें स्थित ब्रह्मको पायेगा। उससे उसको एकात्मकताका अनुभव होगा। वचनकारोंके शब्दोंमें कहना हो तो शून्य-पद प्राप्त होगा अथवा समरसैक्य प्राप्त होगा। एक बार इस प्रकारका अनुभव प्राप्त करनेके उपरांत साधक जैसे गुड़में चींटी चिपट जाती है इस स्थितिमें स्थिर रहनेका प्रयास करेगा। यही सिद्धि है। यही शाश्वत सुख है। यही परमानंद है। यही पूर्णानंद अथवा ब्रह्मानद है। यह प्राप्त करनेके बाद साधक सिद्ध कहलाता है। मुक्त कहलाता है।

प्राणशक्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले साधकको जैसे आसन, प्राणायाम आदिके द्वारा शरीर शुद्ध करना पड़ता है वैसे ही क्रियाशक्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले साधकको प्रथम सर्वसमर्पण द्वारा संकल्प-शुद्धि करनी होगी। कर्मयोगी सर्वप्रथम संकल्प-शुद्धि करता है। बिना संकल्प शुद्धिके शुद्ध कर्म असंभव है। संकल्पशुद्धिसे साधक निरहंकार होता है। निरहंकार बननेसे 'मैं करता हूं' यह 'कर्तृत्व भाव' नष्ट होता है। तब वह निष्काम बन सकता है। अनासक्त बनता जाता है। ईश्वरका यंत्र बनकर सत्कार्य करता जाता है। अहंकार नष्ट होनेसे, अर्थात् 'मैं करता हू' यह भाव नष्ट होनेसे वह कर्मका भार अनुभव नहीं करता। सदा सर्वदा कर्ममें रत रहने लगता है। इससे देह भान भूलता जाता है। जैसे-जैसे देह-भान भूलता जाता है, आत्म-भान बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे आत्म-भान होता जाता है, साम्य बुद्धि, अथवा समता आती जाती है। इस साम्य-बुद्धिसे सर्वात्म-भावका विकास होता है। कर्मयोगी साधक आत्म-भावमें डूबता जाता है। कर्म, कर्मी और कर्मफलकी एकतासे वह कर्म-समाधिमें लीन हो जाता है। तब उसका कर्म, ब्रह्म-कर्म हो जाता है। साधक विशुद्ध कर्मानंदमें डूब जाता है। कर्म उसका स्वभाव बन जाता है। तब कर्म करके भी वह अकर्मी बनता है। अनंत कर्म करने पर भी उसको 'मैने किया है,' इसका भान ही नहीं रहता। वह निराभार हो कर मुक्त हो जाता है। यह समन्वय-योगांतर्गत कर्मयोगकी प्रक्रिया है।

क्रिया-शक्ति द्वारा अपना ध्येय प्राप्त करने वाले कर्मयोगीको जैसे सर्व प्रथम संकल्प-शुद्धि करनी पड़ती है वैसे चिंतन-शक्ति द्वारा ध्यान-योगकी साधना करने वाले साधकको चित्त-शुद्धि करनी पड़ती है। वह सर्वप्रथम चित्त-शुद्धिका प्रयास करता है। अपने चित्तमें उठने वाली अनंत वृत्तियों को रोकनेका प्रयास करता है। अपनी आशा-आकांक्षाओंकी छानबीन करता है। वासना-विकारोंके उलझे हुए धागोंको सुलझाता रहता है। चित्ताकाशमें उठने वाली वृत्तियोंकी उलझनोंको सुलझाता रहता है। पंचेंद्रिय और पंच-महाभूतात्मक विश्वकी विविधताके अनुभवोंके जो धागे उलझे हुए होते हैं

उनको सुलझाते-सुलझाते वह 'मैं' और 'यह' उसके उस पार जो 'वह' है उसका ध्यान करता है। उसीका ध्यान करते-करते उस ध्यानको धारणामें बदल देता है और धारणा को समाधिमें। यह समाधि दो प्रकारकी होती है। एक सविकल्प समाधि दूसरी निर्विकल्प समाधि। यही निर्विकल्प समाधि ध्यान-योगकी अंतिम अवस्था है। यही उनकी सिद्धावस्था है। यही शाश्वत सुख है यही ब्रह्मानंद है। यही जीवन-मुक्तावस्था है। वचनकारोकी भाषामें यही शू य-संपादन है। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका अद्वैत हो जाता है। इन तीनोमेंसे कोई एक नही रहता। द्वैत-भाव मिट जाता है। इसलिए वचनकार इसको शून्य-संपादन कहते हैं।

यही बात भक्तियोग और ज्ञानयोगकी है। हठयोगीको जैसे शरीरकी अंतर-बाह्य शुद्धि करनी पड़ती है, कर्मयोगीको संकल्प-शुद्धि और ध्यानयोगीको चित्त-शुद्धि करनी पड़ती है वैसे ही भक्तियोगीको भावना और ज्ञानयोगीको बुद्धि शुद्ध करनी पड़ती है। भक्तियोगमें शुद्ध भावनाशक्ति द्वारा ईश्वरसे निरहेतुक प्रीति करनी पड़ती है। निरहेतुक और आत्यतिक प्रेम द्वारा भाव-नाओंको शुद्ध करते हुए उन्हे संपन्न और संघटित करके परमात्मामे केन्द्रित करना होता है। इसमें भावना-शुद्धिकी अत्यंत आवश्यकता है। शुद्ध भावनाका अर्थ है निरहेतुक, निष्काम प्रेम। आत्यंतिक प्रीतिमें तन्मय भक्त क्षण भर भी भगवत्स्मरण नहीं भूल सकता। परमात्माके स्मरणमे उसको निरतिशय आनंद आता है। उस आनंदके सामने भक्तको ब्रह्मानंद भी तुच्छ-सा लगता है। ऐसी हालतमें भक्त क्षण भर भी भगवानका विस्मरण सहन नहीं कर सकता। क्षण भरके विस्मरणसे वह व्याकुल हो उठता है। मानो माँकी गोदमें बैठकर स्तनपान करनेवाले अबोध बालकके मुंहसे यकायक वह पीयूष-भरा स्तन गायब हो गया हो। भक्तके हृदयकी धड़कनके साथ भगवत्स्मरण जुड़ा हुआ रहता है। इस स्मरणमें तन्मय भक्त अपने देहभानको भूल जाता है। देहभानका भूलना ही आत्मभान होना है। सतत भगवद्स्मरण और देहभानके विस्मरणसे उसको परमात्मामें ऐक्यानुभव होने लगता है। वह परमात्मामें लीन हो जाता है। परमात्मामें विलीन होकर, समरस होकर एकरस हो जाता है। परमात्म-रूप हो जाता है। सर्वत्र उसे परमात्माके ही दर्शन होने लगते हैं। तब पूजा, पूज्य और पूजक, यह त्रिकुटी एक हो पाती है। भक्तका हृदय पुकार उठता है—मैं तेरी पूजा करने आया था, किंतु मैं ही तू हो गया तो किसकी पूजा करूँ? तेरी पूजाके लिए हाथमें आरती उठाकर देखता हूं, आरती ही तू हो गया; मैं कैसी आरती करूँ? तभी महात्मा कबीरदासके शब्दोंमें कहना हो तो, "कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाव-पियौं सो पूजा" हो जाता

है। यही भक्तकी अंतिम स्थिति है। वचनकारोंने इसे समरसैक्य कहा है। यही भक्तका शाश्वत सुख है। जैसे भावना-शुद्धिसे भक्त परमात्मैक्य प्राप्त कर सकता है वैसे ही बुद्धिके शुद्धिकरणसे ज्ञानी भी निजैक्य सुख प्राप्त कर सकता है। अपनी निर्मल और कुशाग्र बुद्धि द्वारा ज्ञानमार्गी अपनी पंचेन्द्रियोसे अनुभूत विश्वका विवेचन-विश्लेषण करके विश्वके मूल तत्वकी खोज करता है। जब वह उस तत्वको पाता है उसीमें स्थित रहने लगता है। इसके लिए ज्ञानयोगीको सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियोको मनके आधीन करना होगा। बाद में इंद्रियोंको कसे हुए मनकी बागडोर बुद्धिके हाथमें सौंपनी होगी। उस बुद्धिको, जिसने मनको अपने आधीन कर लिया है, आत्मामें रत करना होगा। तभी वह सच्चा सत्योपासक हो सकता है। नहीं तो जो बुद्धि इन्द्रियासक्त मनके अधीन है वह इन्द्रियोंके सुखका साधन बनना छोड़कर आत्मरत नहीं होगी। इसलिए पहले इन्द्रियोंको मनके आधीन करना चाहिये। मनको बुद्धिके आधीन करना और जिस बुद्धिने सब पर अपना आधिपत्य जमा रखा है उसे आत्मरत करना ही ज्ञानयोगकी प्रक्रिया है। जैसे सधे हुए हाथीसे जंगली हाथी पकड़वाते हैं वैसे ही निराकार आत्मासे, आकार निराकारके परे जो परमात्मा है उसको पकड़वाना है। अपनेमें अपनेको प्रत्यक्ष करके वह ज्ञान ही में रत होनेका अद्भुत अनुभव करना ज्ञानयोगकी सिद्धि है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी पूर्ण अद्वैतावस्था ही आत्मज्ञान है। इसी आत्मज्ञानमें सदा रत रहना ही मुक्ति-सुख है। वही कैवल्य है। यही ज्ञानमार्गीकी ज्ञानानंद प्राप्ति है। यही ज्ञानयोगीकी मुक्तावस्था है।

वचनकार इन पाँचों मार्गोंको अलग-अलग नहीं मानते। अथवा एक दूसरेसे स्वतंत्र भी नही मानते। वह तो सब ईश्वरार्पणका परिणाम मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि ईश्वरार्पणसे ही सच्ची सिद्धि मिलती है, अर्थात् सत्यका साक्षात्कार होता है। बिना इसके कुछ नहीं होता। वचनकार तो बिना ईश्वरार्पणके अपने-अपने मार्गका आग्रह करनेवालोंकी हंसी उड़ाते है। उन्होंने ईश्वरार्पणके बिना हठयोगको नटोंका करतब कहा तो भक्तोंसे पूछा, क्या दीपकका स्मरण करनेसे अंधकार मिटेगा ? दाल-रोटीका स्मरण करनेसे क्या भूख मिटेगी ? अप्सराओंका स्मरण करनेसे क्या कामानंद प्राप्त होगा ? और ध्यानयोगीसे 'आंख बंद करके मुक्ति कैसे खोजोगे ?'—आदि प्रश्न पूछे हैं। उन्होंने साधकोंकी हंसी ही नहीं उड़ायी है। इनके हृदयमें प्रामाणिक और कर्मठ साधकोके लिए अपार करुणा है। उनकी वह करुणा कभी-कभी फूट पड़ती है। वह कहते हैं, अरे रे ! भूखेके अपने पेट पर दाल भात बांधकर रोनेकी-सी हालत हुई न इन लोगोंकी ! अरे ! कर्मकी क्रियाको भक्ति अथवा ज्ञानका

साथ मिलना चाहिए ! भक्ति बातोंकी मालिका नहीं है रे ! वह तो तन, मन, धन, गल जाने तक साध्य नहीं होती । ज्ञान और क्रियाका समन्वय होना चाहिए । दोनोंके समन्वयसे सब बातें सुसूत्र चलने लगती हैं । पंछी क्या कभी एक ही पंखसे गगन-विहार कर सकता है ? वह तो दोनों पंखसे उड़ता है । अंतरंगमें सत्य-भक्ति, बहिरंगमें सत्कार्य, यही शरण मार्ग है । यही लिंगैक्यका साधन है । सत्यका सतत स्मरण भक्ति है । उसको जानना ज्ञान है । उसका आचरण करना कर्म है । उसका ध्यान अथवा चिंतन ध्यान है । इन सादे-सरल शब्दोंमें वचनकारोंने अपने मार्गका गंतव्य स्थान तथा मार्ग, साध्य और साधन इन दोनों-का विवेचन किया है । मानो आध्यात्मिक जीवनका रहस्य खोलकर सामने रखा है ।

वचन-साहित्यमें साक्षात्कारको जीवनका साध्य[1] माना है । उसीको शाश्वत सुख कहा है । अमृतानुभव कहा है । सर्वार्पणको उसका मार्ग माना है । उसके परिणाम-स्वरूप ज्ञान, ध्यान, क्रिया, भक्तिकी समुचित समन्वय-जन्य साधना चल पड़ती है । वचन-साहित्यमें इस प्रकारकी साधनाके लिए आवश्यक आचार, विचार, धर्म, नीति, तत्वज्ञान, विधि, निषेध आदिका ऐसी लोक-भाषामें निरुपण किया है जिसे सर्वसामान्य लोग समझ सकें । वचन-कारोंने साहित्यके द्वारा विस्तृत पैमानेपर सामूहिक आध्यात्मिक साधनाका प्रयोग किया है । आजकलकी भाषामें कहना हो तो वचन-साहित्य सर्वांगपूर्ण लोक-शिक्षाका सुन्दरतम साधन है । इस साधनसे सामान्य जनता इंद्रिय-जन्य सुखके पीछे न पड़कर शाश्वत सुखका विचार करने लगेगी । उनमें बाह्य भौतिक सुखके प्रति जो आशा-आकांक्षा है वह सीमित होगी । शाश्वत सुखकी जिज्ञासा जागेगी । अभ्युदयसे निःश्रेयसकी ओर मुड़नेकी भावना पैदा होगी । भुक्तिसे मुक्तिकी ओर देखनेकी इच्छा होगी । इससे समाजमें स्थिरता आयेगी । भौतिक सुखके लिए जो प्रतियोगिता चल पड़ी है उस स्थान पर आंतरिक समाधान प्राप्त करनेका प्रयास प्रारम्भ होगा । वचनकारोंने मुक्ति-सुख, अथवा अंतिम-सिद्धिप्राप्त मुक्त पुरुषका वर्णन करनेमें तो परा-काष्ठाका साहित्यिक सौष्ठव दिखाया है । मुक्त पुरषका वर्णन मानों सजीव साकार परमात्माका ही वर्णन है । जिसे देखकर सामान्य मनुष्यके मनमें भी ऐसा ही मुक्त मानव होनेकी आकांक्षा जागे, यही वचन-साहित्यका उद्देश्य है । किसी ग्रीक तत्ववेत्ताने जीवनकी उत्क्रांतिका वर्णन करते समय लिखा है, "स्टोन बिकम्स ए प्लांट, प्लांट ए बीस्ट, बीस्ट ए मैन, मैन ए स्पिरिट, स्पिरिट ए

---

१. अगले अध्यायमें इसका विस्तत विवेचन है ।

गॉड।" हम भी कहते हैं, कला और साहित्य नरको नारायण बनानेका साधन है। अर्थात् पाषाणसे मानव तक विकसित चैतन्यको मानवसे ईश्वर होनेकी प्रेरणा देना साहित्यका कार्य है। कला और साहित्य नरको नारायण बनानेका शास्त्र है नरको वानर बनानेका नहीं। वचनकारोंने अपने साहित्य द्वारा नरको नारायण बननेकी प्रेरणा दी है। मैनको गॉड होनेकी प्रेरणा दी है। सदैव मानवको दानव बननेसे रोक कर महान् बननेकी प्रेरणा देना, नरका वानरीकरण रोककर नारायण बननेकी प्रेरणा देना, मैनको डॉग न बनने देते हुए गॉड बननेकी प्रेरणा देना, समग्र मानवीय समाजको दिव्यीकरणके लिए स्फूर्ति देना, आवश्यक पथ-प्रदर्शन करना साहित्यका उद्देश्य है। वचन-साहित्यने यह कार्य किया है। यही वचन-साहित्यका सार-सर्वस्व है।

साक्षात्कार

कन्नड़ भाषा-भाषी लोगोंमें संतोंको अनुभावी कहनेकी परिपाटी है और उनके मार्गको अनुभावी मार्ग । कर्नाटकके संतोंका दो प्रकारका वर्गीकरण किया जाता है : 'शिवशरणरु' और 'हरिशरणरु' । शिवभक्तोंको 'शिवशरणरु' कहते है । हरि-भक्तोंको 'हरिशरणरु' कहते है । शिवशरणोंको वचनकार कहते है । क्योंकि उन्होंने वचन शैलीमें अपनी बातें कही है । हरिशरणोंको कीर्तनकार कहते हैं । उन्होंने कीर्तन (भजनों) के रूपमें अपनी बातें कही हैं । ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाए तो शिवशरण पहले हुए हैं और बादमें हरिशरण । इन दोनों तरहके संतोंके साहित्यको शरण-साहित्य भी कहते हैं, क्योंकि कर्नाटकके लोगोंका विश्वास है कि वे दोनों भगवानकी शरण गये थे । उनको परमात्माका अथवा सत्यका साक्षात्कार हुआ था । उन्होंने सत्यका अथवा परमात्माके साक्षात्कार का अनुभव किया था । इसलिए वे अनुभावी हैं । जब मनुष्य जंगली स्थितिमें था, शिकार करके खाता था, तबसे वह सत्यकी खोज करता आया है । मनुष्य विश्वकी विविधता, उसका सौंदर्य आदि देखकर चमत्कृत होता है । यह सब चमत्कार देखकर वह दिङ्मूढ़ हो जाता है । किंतु वह अधिक समय तक ऐसा नहीं रह सकता । वह इन सबका रहस्य जानना चाहता है । यह विविधतापूर्ण विश्व इतना सुंदर क्यों है ? इसका रहस्य क्या है ? इस सुंदरताके परे क्या है ? यह सौंदर्य किसका प्रकाश है ? उसकी जिज्ञासा जागती है । वह इस जिज्ञासाकी तृप्ति चाहता है । उसके लिए सोचता है । चिंतन करता है । प्रयोग करता है । चिंतन और प्रयोग, इन दो पैरोंसे वह इस विविध विश्वकी विविधता और सुंदरताकी तहमें जो सत्य है उसकी ओर बढ़ता है । इस सत्पथ-को संत-मार्ग कहते हैं । इस सत्पथपर चलकर उन्होंने जो कुछ पाया उसको किसीने सत्य, किसीने परमात्मा, किसीने ब्रह्म और किसीने और कुछ कहा । अनेक लोगोंने अनेक नाम दिये । अनेक प्रकारसे कहा । किंतु जिन-जिन लोगोंने वह पाया, उन सबका कहना है कि उसके परे और कुछ नहीं है । मानवीय मन दृश्यसे अदृश्यकी ओर दौड़ने लगता है । दृश्यमेंसे अदृश्यमें पैठता जाता है । इस दौड़में थककर वह ऐसी जगह बैठ जाता है जहांसे न आगे बढ़ना संभव रहता है न पीछे लौटना । उसी स्थानको अनुभावियोंने पर-मात्मा कहा । उसीका वर्णन किया । और घोषणाकी इसके परे कुछ है ही नहीं । अनादि और अनंत, दोनों इसके अंदर आ जाते हैं । जिन्होंने इस अंतिम तत्वका अनुभव किया उनको 'अनुभावी' कहते हैं । इस अंतिम तत्वके अनुभवको

साक्षात्कार कहते हैं। साक्षात्कार करनेकी इच्छा अथवा इस विविधतापूर्ण विश्वकी तहमें क्या है, यह जाननेकी इच्छा मानवमात्रका जन्मजात स्वभाव-सा हो गया है। प्रत्येक युगमें इसका प्रयास हुआ है। प्रत्येक देशमें इसका प्रयास हुआ है। और इस प्रयासमें किसीने जो पाया उसको साक्षात्कार कहा तथा जिसने कुछ पाया उसको साक्षात्कारी अथवा अनुभावी कहा।

इस जिज्ञासाके कारण मनुष्यने भौतिक क्षेत्रोंमें भी पर्याप्त खोज की है। इस क्षेत्रमें भी उसने बहुत-कुछ पाया है। इस क्षेत्रमें भी ऐसे अनुसंधान करने-वालोंने जो साक्षात्कार किया है वह सबने नहीं किया। इतना ही नहीं, वह साक्षात्कार जन-सामान्यको चक्करमें डालनेवाला है। जन-सामान्यके मनको चमत्कृत कर देनेवाला है। किंतु इससे हमें कोई सरोकार नहीं है। क्योंकि इस पुस्तकका विषय कन्नड़ वचन-साहित्य है। किसी भी वचनकारने भौतिक जगत्में न सत्यका अनुसंधान किया है न सत्यका साक्षात्कार। क्योंकि उनका विश्वास था कि भौतिक जगत्में किये गये सत्यके अनुसंधानसे भौतिक सुखके अंबार खड़े किये जा सकते हैं किंतु उससे आंतरिक समाधान नहीं मिल सकता। हार्दिक प्रस-न्नता नहीं मिल सकती। इस हार्दिक प्रसन्नताके बिना भौतिक वैभवका अंबार भी सिरपर बोझ-सा है। इससे शाश्वत सुख नहीं मिल सकता। नित्यानंद नहीं मिल सकता। इसलिए उन्होंने वह मार्ग छोड़ दिया। भौतिक विश्वकी खोजसे विमुख हुए। जो ब्रह्मांडमें है वही पिंडमें भी है तब पिंडमें ही क्यों न खोजें? अपने हृदय-गह्वरमें घुसे। वहां खोज की। चित्त सागरकी एक-एक वृत्तिका निरीक्षण-परीक्षण किया। उन वृत्तियोंको रोका। और वहाँ सत्यका साक्षात्कार किया। अपने ही हृदय-साम्राज्यके साम्राट् बने। और उस महान् शून्य सिंहासनसे घोषणा की—यही जीवनका आत्यंतिक महान् उद्देश्य है। यही मानव मात्रका सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है। यही शाश्वत सुखका स्थान है। हमने यह पाया है। आओ! तुम भी पाओ।

मनुष्यने अबतक सत्यकी जितनी खोज की उतनी और किसीकी नहीं की। तब यह सत्य क्या है? सत्य किसको कहते हैं? सत्यकी खोजका क्या अर्थ है? यह जो विश्व हम देखते हैं वह विविधतापूर्ण है। बार-बार बदलनेवाला है। अर्थात् परिवर्तनीय है। इस परिवर्तनीय विश्वके मूलमें एक अपरिवर्तनीय तत्व है। कभी न बदलनेवाला एक तत्व है। उसको सत्य कहते हैं। उस तत्वकी खोजही सत्यकी खोज है। अथवा सत्यका अनुसंधान अथवा सत्यान्वेषण कहलाता है। मनुष्य देखता है, इस दिखाई देनेवाले मनुष्यमें क्या तत्व है? इस दिखाई देनेवाले अथवा दृश्यमान विश्वकी जड़में कौन-सा तत्व है? इन दोनोंका क्या संबंध है? यह संबंध किस प्रकारका रहे तो

अधिकसे अधिक सुख मिलेगा ? इसकी खोज अथवा इसका अनुसंधान ज्ञान-विज्ञानका अनुसंधान है। अलग-अलग तत्ववेत्ताओंने अलग-अलग बातें कही हैं। जिन्होंने उस तत्वको जाना है, उनको तत्ववेत्ता कहते हैं। उन्हींको दार्शनिक भी कहते है। क्योंकि उन्होंने उस तत्वका दर्शन किया है। इन दार्शनिकोंमेंसे कुछने कहा है कि एक अदनेसे मिट्टीके कणसे लेकर आसमानमें चमकनेवाली विद्युत् तक सब जड़ ही जड़ है। तो कोई कहते हैं इस विश्वका अणु-अणु और कण-कण चैतन्यमय है। दिव्य है। इसी बातको लेकर कई दार्शनिकोंने कई दर्शन लिखे हैं। ऐसे दार्शनिक भारतमें ही नहीं विश्वके सभी देशोमे हुए हैं। सभी कालमें हुए हैं। सभी दार्शनिकोंके सब प्रयत्न अत्यंत निष्ठासे हुए है। प्रामाणिकतासे हुए हैं। तथा अत्यंत उत्कटतासे हुए हैं। किंतु प्रश्न यह उठता है कि दार्शनिकोंने जो अपने दर्शनकी नींव डाली है उसके आधारभूत साधन क्या हैं? मनुष्यके पास सत्यको जाननेके दो प्रकारके साधन हैं। वे हैं, पंच ज्ञानेंद्रिय और अंतःकरण। दृश्य-जगत्‌का सब ज्ञान इन्हीं पंचेन्द्रियोंसे होता है। और अंतःकरणको उस परम तत्वका अनुभव होता है जिस अनुभवके लिए मानव व्याकुल है। मानवका मन अथवा अंतःकरण एक अखंड शक्ति है। किंतु वह त्रिमुखी है। बुद्धि, भावना और स्फूर्ति यह उसके तीन मुख हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि मानव मन जब तर्क प्रधान होता है तब बुद्धि कहलाता है। जब श्रद्धा प्रधान होता है तब भावना कहलाता है। और जब दर्शन प्रधान होता है स्फूर्ति कहलाता है। ज्ञात बातोंसे अज्ञात बातोंका निर्णय करना तर्क कहलाता है। ज्ञात अथवा अन्य किसीकी कही हुई बात पर सम्पूर्ण विश्वास करना श्रद्धा कहलाता है। और जो तर्क और श्रद्धासे भी परे है, इन साधनोंसे हृदयंगम नहीं होता, किंतु जो यकायक अतःचक्षुओंके सामने आ जाता है, अथवा मनको सूझता है उसे स्फूर्ति कहते हैं। मानव मनकी ये तीन शक्तियां हैं। इन शक्तियोंके आधार पर कोई बात जाननेके तीन साधन माने गये हैं। वे हैं अनुमान, आप्तवाक्य और प्रत्यक्ष। बुद्धिसे अनुमान होता है। आप्तवाक्य पर श्रद्धा बैठती है और स्फूर्तिसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। ज्ञानकी ये तीन कसौटियां हैं। यह प्रत्यक्ष जब दृश्य-जगत्‌का विषय होता है आंखों पर निर्भर रहता है। और जब अदृश्य विश्वसे संबंध रखता है तब स्फूर्ति पर निर्भर रहता है। यही स्फूर्ति सत्यके साक्षात्कारकी आधार शिला है।

अब तक मनुष्यने जो साक्षात्कार किया है उसका यह रूप है। अब यह देखना रह जाता है कि वचनकारोंके साक्षात्कारका क्या रूप है ? वह सत्यकी खोजमें कहां तक सफल हुए है ? उनको सत्यका साक्षात्कार कैसे हुआ ? इस कार्यमें वह कहां तक सफल हो सके ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें कहा जा सकता है कि

वचनकारोंका मार्ग ही साक्षात्कारका मार्ग था। सत्यका साक्षात्कार करना, उस साक्षात्कारमें स्थित रहना, यही उनका अंतिम लक्ष्य था। जैसे हमारी आंखें सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, इंद्रधनुष आदि देखती हैं वैसे ही स्फूर्तिसे वे सत्यको देखते थे। जैसे हमारी नाक फूल, फल आदिकी सुगंध सूंघती है वैसे वे स्फूर्तिसे सत्यको ग्रहण करते थे। जैसे हमारे कान नदीका कल-कल, हवाका मर्मर, वर्षाका टप-टप सुनते हैं वैसे ही वह अपनी स्फूर्तिसे सत्यको सुनते थे। जैसे हमारी जिह्वा षड्-रसान्नको अपनी नोकसे चखती है वैसे ही वे स्फूर्तिसे सत्यको चखते थे। अनु-भावी साधक अपने अंतःकरणकी स्फूर्तिसे सर्वांगीण अनुभव करते हैं। मनुष्यको एक बार ऐसा साक्षात्कार हुआ कि बस उसके मनके संकल्प विकल्प मिटते हैं। क्षुद्र आशा आकांक्षाएं अदृश्य होती है। जैसे सूर्योदय होते ही अंधकार अदृश्य होता है ऐसे ही साक्षात्कारीका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। मन कभी शंका-कुशंकाओंके जालमें नहीं फंसता। संकल्प-विकल्पके जालमे नहीं फंसता। दुपहर-की प्रचंड धूपमे सूर्यको देखनेके पश्चात् जैसे सूर्यके अस्तित्व और उसके गुण, धर्मके विषयमे कोई संशय नहीं होता वैसे ही परमात्माके विषयमें कोई संशय नहीं रहता। आत्मज्ञान मानो करतलामलक-सा हो जाता है। यह साक्षात्कार दो प्रकारका होता है। प्रथम, जैसे बिजली क्षण भर बादलोमें चमक कर अदृश्य हो जाती है वैसे ही सत्यकी झलक मिलती है। इससे साधककी साधनामें उत्क-टता आती है। उसकी व्याकुलता तीव्र होती है। उसकी ध्येय-निष्ठा दृढ़ हो जाती है और साधक अपने साध्यको पानेके लिए व्याकुल हो उठता है। उसकी व्याकुलता तीव्रसे तीव्रतर और तीव्रतम होती जाती है। उसकी उस उत्कट व्या-कुलताकी कोई उपमा नहीं होती। वह अपने मार्गकी सभी रुकावटोंको ठीक वैसे ही हटा कर आगे बढ़ने लगता है जैसे पर्वतीय प्रदेशके किसी गहरे उतारमें बहने वाला नदी-प्रवाह। चुंबकसे खिंच जानेवाला लोहा जैसे सभी रुकावटोंको हटाकर चुंबकसे सट जाता है वैसे ही अज्ञात प्रेमातिशयसे वह भगवानकी ओर सतत खिंचता जाता है। इससे साधककी स्फूर्तिके सामने विद्युत्की तरह क्षण भर चमककर गया हुआ वह साक्षात्कार सूर्यके प्रकाशकी तरह स्थिर हो जाता है। विद्युत् की तरह क्षण भरके लिए जो साक्षात्कार होता है वह इतना सुखद होता है कि साधक उसको स्थिर कर लेनेके लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर देता है। यह सब कुछ न्योछावर करने-की तीव्र उत्कंठा ही संपूर्ण समर्पण है। उस उत्कंठासे साक्षात्कार स्थिर हो जाता है। साक्षात्कारजन्य आनंद स्थिर हो जाता है। वस्तुतः विद्युत् सदृश चमकनेवाला साक्षात्कार वृत्तिरूप होता है। फिर वही स्थिति हो जाती है। तब वह साधक न रहकर सिद्ध कहलाता है और जीवनमें जो कुछ पाना होता

हैं वह पाकर धन्य-भाव अनुभव करने लगता है।

साक्षात्कारका तात्विक रूप एक ही होता है। वह जीवनमें ओत-प्रोत होता है। इस अनुभवके बाद साधक अपनेमें पूर्णताका अनुभव करने लगता है। किंतु वह अनुभव अवर्णनीय होता है। वह अंतःकरणसे अनुभव करनेका होता है। वह अनुभव सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतरिन्द्रियको स्फूर्तिसे ही हो सकता है। गुरु-कृपासे यह संभव होता है। कोई भी शब्द इस अनुभवका वर्णन नहीं कर सकता। यह अनुभव पहले-पहले अंतरिन्द्रियोंको होता है। बादमें बाह्य इन्द्रियोंको भी होने लगता है। वह जीवनमें व्याप्त हो जाता है। जैसे-जैसे यह अनुभव सर्वव्यापी होता जाता है साधक सतत और सर्वत्र उस दिव्य-तत्वका दर्शन करने लगता हैं। वही ज्योतिर्मय रूप देखता जाता हैं। उसी दिव्य-तत्वका गाया हुआ दिव्य संगीत सुनता जाता है। कभी शरीरको स्पर्श न होनेवाले ब्रह्म-संस्पर्शके पुलकोत्सवसे[1] धन्य-धन्य होता जाता है। कभी जिह्वाकी नोकको अनुभवमें न आने वाले अमृतान्नके दिव्य स्वादके मदमें मस्त होकर झूमने लगता है। कभी नाकसे अनुभव न किये गये आकाश-पुष्पकी सुगधसे सुगधित हो जाता है। साक्षात्कारी इस तरह अंतर-बाह्य पूर्ण हो जाता है। उसका रोम-रोम दिव्य आनंद अनुभव करने लगता हैं। उनका अनुभूत यह दिव्य आनंद उनके रोम-रोमसे टपकने लगता है। ऐसे मनुष्यके दर्शनसे सर्वसामान्य मनुष्य भी आनंदित हो जाता है। उसका जीवन सबके लिए समान हो जाता है। न वह किसीसे द्वेष करता न दूसरा उसमे द्वेष कर सकता है। मानो वह सर्वबंधु हो जाता है। विश्वमित्र बन जाता है। इसमें संशय नहीं कि यह साक्षात्कार अदृश्य, अव्यक्त, सृष्टिका अवर्णनीय आनंद है। किंतु उसके भी कुछ बाहरी लक्षण हैं। सच्चा साक्षात्कार साधकके सब संशय छिन्न-भिन्न कर देता है। उसको निर्द्वन्द्व कर देता है। उसको निष्काम बना देता है। साधकमें पूर्णताका धन्य-भाव जगा देता है। मैंने जो कुछ पाया है वही अंतिम सत्य है, मैने वह पा लिया है अब और कुछ पाना नहीं है, इस भावको जगा देता है। उसके जीवनमें 'आवश्यकता है,' ऐसा कुछ नहीं रहता। जब तक यह बात नहीं होती तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि किसीको साक्षात्कार हुआ है। इन लक्षणोंके बिना यदि कोई साधक कहता है कि मुझे साक्षात्कार हुआ है तो यही कहा जाएगा कि यह साधककी कल्पना-तरंग है। हो सकता है कि यह उसके ज्ञानतंतुओंकी क्षणिक वृत्ति हो। हो सकता है वह आतुर साधककी आशा-आकांक्षाओंका खेल हो। हो सकता है वह साधकका योग-स्वप्न हो। किंतु ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं। साक्षात्कार कोई क्षणिक वृत्ति नहीं, अपितु जीवन-

---

१. कन्नड़ संतोंका अपना शब्द। पुलकित उत्सव=पुलकोत्सव।

की स्थिति है। साक्षात्कारी तो शरीरमें रहकर शरीरको जीते हुए रहता है। मनमें रहकर मनको जीते हुए रहता है। विषयोंमें रहकर विषयोंको जीते हुए रहता है। परमात्माके हृदयमें प्रवेश करके वहां पर अपना स्थान पाये हुए धन्य-प्राण तथा दिव्य मानव होता है।

साधक अपने अंतरंगमें आत्यंतिक सत्यका जो अनुभव करता है उसको साक्षात्कार कहते हैं। अथवा वह अपने अंतरंगकी स्फूर्तिसे जो सत्य दर्शन करता है वह साक्षात्कार है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही सत्यकी कसौटी है। साक्षात्कार हुआ अथवा नहीं, यह साधकको आत्म-साक्षीसे ही जान लेना होता है। ऊपर लिखे हुए गुण इस बातको जान लेनेमें साधन हो सकते हैं। साक्षात्कारी के बाहरी जीवनमें जो लक्षण दीखते हैं अथवा साक्षात्कारी के चाल-चलनसे जो भाव टपकते हैं उससे भी सर्वसामान्य लोग कुछ जान सकते है, कुछ अनुभव कर सकते हैं। तत्वतः साक्षात्कारका अनुभव एक है। किंतु साधककी योग्यता, उसकी साधना-पद्धति, उनकी शक्ति आदिके कारण उसके बाहरी रूपमें कुछ अंतर हो सकता है। हो सकता है कि कोई साधक क्रिया-प्रधान रहा हो। कोई भावना-प्रधान और कोई चिंतन-प्रधान रहा हो। किंतु साधकके अंतःचक्षुओंको सत्यका दर्शन होता है। उसके संपूर्ण जीवनपर उसका प्रभाव पड़ता है। उसकी बुद्धि निश्चल होती है। उसके भाव शुद्ध होते हैं। तेजस्वी होते हैं। कर्म निष्काम होता हैं। सर्वलोक-हितके अनुकूल होता है। उनका चित्त एकाग्र होता है। आचार-विचारसे नीति, धर्म प्रस्फुटित होते हैं। अपनी शक्तिसे वह सत्यका दर्शन करता है। इसलिए वह अहंकारशून्य होता है। वह नम्र होता है। निष्काम और निरपेक्ष होता है। सदैव उनकी बातों और चाल-चलनसे कृतार्थता टपकती है। मानो उसको जो कुछ पाना था वह पा लिया हो। और कुछ पानेको रहा ही नहीं। ऐसी स्थितिमें वह जो कुछ करता है उसके कर्तव्यका भार अनुभव नहीं होता। वह निराभार बनता है। मानो किसीके हाथका यंत्र बनकर काम कर रहा हो। वह निष्काम बनता है। निरपेक्ष रहता है। हो सकता है वह पंडित हो। भक्त हो। ज्ञानी हो। या मौनी हो। सदैव वह किसी अपार्थिव आनंदकी माधुरी चखता रहता है। किसी गूढ़ संगीतका रसपान करता रहता है। इसलिए वह मौन होनेपर भी बोलता रहता है। बोलकर भी मौन रहता है। वह देखकर भी नहीं देखता। सुनकर भी नहीं सुनता। खाकर भी नहीं खाता। वह सबसे निर्लेप रहता है। निष्काम रहता है। निरपेक्ष रहता है। अपने सत्य-दर्शनके प्रकाशमें जीवन नाटककी भूमिकाका नृत्य करता रहता है। इसी तरह जीवन बिताकर जहांसे आया था वहां जाता है। महात्मा कबीरके शब्दोंमें वह यह झीनी चदरिया ज्यों-की-त्यों धर देता है।

साक्षात्कारके लिए देश, काल, परिस्थितिका कोई बंधन नहीं है। विश्वके प्रत्येक देशमें, विशाल मानव-कुलकी प्रत्येक शाखामें ऐसे साक्षात्कारी हुए हैं। उनकी अपनी परंपरा है। इस परंपराके पूर्वेतिहासकी ओर सकेत करना भी असंभव है। हमारे इस विशाल देशके किसी एक राज्यके साक्षात्कारकी परंपराका इतिहास देना चाहें तो भी वह एक बड़ा भारी ग्रंथ हो जाएगा। यह विषय सागर-सा गहरा है और आकाश-सा विशाल। वैसे ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण भी है। वेद हमारे देशके अत्यंत प्राचीनतम ग्रंथ हैं। उनके बारेमें कहते है कि वे अशरीर वाणी सुनकर कहे गये थे। इसलिए उनको श्रुति कहते हैं। उन्हें कहने वाले ऋषियोंको मंत्रद्रष्टा कहा गया है। वेदके ऋषियोंको वह मंत्र प्रत्यक्ष हुए। वे इस सत्यको प्रकाशमें लानेवाले प्रकाशक थे। उन्होंने अपने अंतःकरणमें इस सत्यको, अथवा वेदवाणीको प्रत्यक्ष किया। अर्थात् उनको सत्य ज्ञानका साक्षात्कार हुआ। इस प्रकार साक्षात्कारकी परंपरा वेदकाल तक पहुँचती है। उसके बाद हैं उपनिषद्। उनमें भी इस मार्गको 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्ययः' कहा है। 'दुर्गम पथ' कहा है। उपनिषद् तो आत्यंतिक सत्य-दर्शनके तत्व ज्ञानकी उद्गम-स्थली है। आगे महुलाये हुए सभी मार्गोंके बीज उपनिषदोंमें मिलते हैं। उपनिषदोमें इस आत्यंतिक सत्यको परमात्म, ब्रह्म-आत्म, परब्रह्म आदि कहा है। उपनिषद्कार कहते हैं, यदि वह जाना तो इस जगतमें जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता। यह सत्य सूक्ष्मसे-सूक्ष्म है। स्थूलसे स्थूल है। इसका रूप अनंत, सत्य-संकल्प, सर्वसाक्षी आदि है। उस तत्वका साक्षात्कार ही जीवनका आत्यंतिक लक्ष्य है। ईशावास्योपनिषद्का ऋषि आह्वानपूर्वक कहता है कि यह समग्र विश्व परमात्माका निवासस्थान है। सर्वात्मरूप है। तू इसका अनुभव कर। समग्र विश्वमें एकत्वका अनुभव करनेवालेको कहांका मोह और कहाँका शोक ? इसके साथ-साथ वह सूर्यसे प्रार्थना करता है कि इस मोहक सुनहले ढक्कनसे ढके हुए सत्य स्वरूपको मुझे दिखा। आत्म-स्वरूप इंद्रिय, मन आदिकी पकड़में नहीं आता। उसका अनुभव अवर्णनीय है। स्फूर्त है। ऐसा भी वह कहते हैं। कठोपनिषद्में कहा है, साक्षात्कारी कभी आत्म-स्वरूपका ज्ञान दूसरोंको कह नहीं सकता। मनुष्य आत्म-ज्योतिके प्रकाशमें सब कुछ करता है। उस आत्माको अनुभवसे जानना होता है। यह बृहदारण्यकमें याज्ञवल्कने जनक राजासे कहा है। उपनिषदोंमें साक्षात्कारका सुन्दर विवेचन भी है। केनोपनिषद्में इन्द्रको साक्षात्कारसे ब्रह्मज्ञान होनेकी बात कही गयी है। इतना ही नहीं, साक्षात्कार होनेके बाद साक्षात्कारीमें होने वाले परिणामोंका भी वर्णन है। उसमें कहा गया है—साक्षात्कार होनेके बाद मनुष्यको जाननेके लिए कुछ भी नहीं रहता। उसके सभी संशय निरसन हो जाते हैं। उसकी सब ग्रंथियां खुल जाती हैं। ऐसा मुँडकोपनिषद्में

कहा है। और कठोपनिषद्में कहा है, ऐसा मनुष्य निष्काम हो जाता है। निष्पाप हो जाता है। निर्द्वंद्व हो जाता हैं। उसमें कृतकृत्य होनेका भाव स्थिर हो जाता है। वह अमृतत्वका अधिकारी हो जाता है। उपनिषद्कार तो साक्षात्कारका वर्णन करते थकते ही नहीं। उन्होंने साक्षात्कारके साधन रूप, श्रद्धा तपस्या, शम, दम ब्रह्मचर्य, सत्यनिष्ठा, अहिंसा, एकांतवास, ध्यान, उपासना, सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि, निष्काम कर्म, चित्त-शुद्धि, शांति, स्थैर्य आदि गुणोंकी आवश्यकता बतायी है।

उपनिषदोंके पश्चात् साक्षात्कारका प्रभावी ग्रंथ गीता है। उसमें साधनाके सभी मार्गोंका सुन्दर समन्वय हुआ है। भारतीय तत्व-ज्ञान तथा आध्यात्मिक जीवनपर गीताका अमिट प्रभाव है। गीता भारतीय आध्यात्मिक जीवनका हृदय है। वह साक्षात्कारका तथा उसके सब साधना-मार्गोंका निरूपण करनेवाला अप्रतिम ग्रंथ है। गीताके विराट् पुरुषका दर्शन जीवनके सब संशयोंका निरसन करता है। संकल्प-विकल्पको नष्ट करता है। और वासना-विकारोंकी उलझनोंको काटकर फेंक देता है। निष्काम होकर स्वभाव-धर्मका पालन करनेमें प्रेरणा देता है। उस रास्तेपर चलनेवालोंको बल देता है। गीताका अर्जुन बुद्धिमान है। भक्त है। निर्भय है। शूर है। एकाग्र चित्त है। किंतु जब तक साक्षात्कार नहीं होता तबतक वह निर्जीव-सा है। कृष्ण जगद्गुरु है। जगद्गुरुकी कृपा होते ही साक्षात्कारकी दिव्य दृष्टि मिलती है। साक्षात्कार होता है। बादमें तुरंत 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' होता है। इसी गीतामें सर्व-समर्पणका दिव्य मार्ग बताया है। गीता अनेक दृष्टिसे अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। और साक्षात्कारकी सत्यताकी दृष्टिसे तो प्रमाणभूत ग्रंथ है। वेद साक्षात्कारियो द्वारा कहा गया ज्ञान है। उपनिषदोंका आदर्श साक्षात्कार है। और गीता साक्षात्कारका प्रमाण-ग्रंथ है। उसके बाद आगम ग्रंथ। वह भी साक्षात्कारको अपना आदर्श मानते हैं। किंतु उन्होंने सत्यको सगुण मानकर सत्योपासनाको सर्व सुलभ बनानेका प्रयास किया है। आगम इंद्र, चंद्र, सूर्य, अग्नि, वरुण आदि देवताओंके द्वारा इन सबके मूलमें जो मूल तत्व है उसकी उपासना नहीं करते। उन्होंने अपने इष्टको मानवीय रूप दिया। उसको गुरु माना। माता-पिता माना। स्वामी माना। सखा माना। प्रिय माना। और उसकी पूजा की। उसके अनुकूल रीति-नीति और आचार, विचारका प्रचार किया। इसको भक्ति-मार्ग कहते हैं। इसमें स्मरण, श्रवण, कीर्तन आदि नवविध भक्तिके ढंग बनाये। वात्सल्य-भाव, सखा-भाव, मधुर-भाव, दास्य-भाव, आर्त-भाव ये पांच भेद हैं। यह मूल सत्य-भक्तिके ही महुलाकर फूटे हुए सुन्दर कोंपल हैं। साक्षात्कारका मार्ग अथवा सत्यदर्शनका साधना-पथ पहले एक संकरी पगडंडी थी जिसे ऋषि मुनियोंने अपने तप तथा

अपनी एकांत साधनासे बनाया था। किंतु आगमकारोंने उसको राजमार्ग बनानेका प्रयास किया। उनका मार्ग सबके लिए खुला था। वहाँ जाति, धर्म, कुल, गोत्र, लिंग आदिका कोई बन्धन नहीं था। सबको खुला निमंत्रण था। इसमें संशय नहीं कि आगमकारोंका मार्ग अपने पूर्वकालीन साधकोंके मार्गसे भिन्न था। किंतु उद्देश्य वही था। वैसे ही सूत्रकारोंने भी साक्षात्कारके भिन्न-भिन्न मार्ग प्रशस्त किये। जैसे पातंजल मुनिने योग सूत्रोसे ध्यान-योगका मार्ग प्रशस्त किया। नारदने भक्ति-सूत्रोंसे भक्तियोगका निरूपण किया। वैसे ही व्यासके ब्रह्मसूत्रोंने वेदांतका ज्ञान-मार्ग बताया। यह सब इसी आदर्शकी ओर जानेके विविध मार्ग हैं। सूत्रकारोने भी साक्षात्कारको ही लक्ष्य मानकर उस लक्ष्यतक पहुँचनेके भिन्न-भिन्न मार्ग बतानेवाले ये ग्रंथ लिखे है। साक्षात्कारकी दृष्टिसे वैष्णवोंका भागवत पुराण भी कम महत्वका नहीं है। इस देशके साक्षात्कारियोंका तथा साक्षात्कारके मार्गोंका विचार करते समय जगद्गुरु शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, श्री मध्वाचार्य आदि आचार्योंको भी भुलाया नहीं जा सकता। वह साक्षात्कारी नही थे। मुख्यतः वह तत्वज्ञ थे। दार्शनिक थे। किंतु उन्होंने जो तत्वज्ञान कहा उससे भारतमें भक्तिका संप्रदाय बढ़ा। इन भक्तोंने भारतकी भिन्न-भिन्न भाषाओमें अमाप भक्ति-साहित्यका निर्माण किया। घर-घरमें भक्तिकी गंगा बहाई। बंगालमें रामानंद, चंडीदास, गौरांग प्रभु आदि संतोने भक्ति-साम्राज्य उभारा तो उत्तर भारतमें कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि सतोंने भक्तिका प्रचार किया। महाराष्ट्रमें ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि भक्तोंने वही काम किया जो किसी एक दिन उपनिषद्कारोने किया था।

अब तक साक्षात्कार मार्गके आर्य-मार्गका विचार किया गया। अब द्रविड़ मार्गका विचार करें। इस पुस्तकमें विशेषतः द्रविड़ भाषा-कुलोंमेसे कन्नड़ भाषाके साक्षात्कार मार्गका विचार करना है। इस विषयमें तामिल भाषाका साहित्य आद्य साहित्य कहा जा सकता है। तामिल साहित्य अत्यन्त संपन्न साहित्य है। संस्कृतको छोड़कर अन्य किसी भी भाषाका साहित्य इतना संपन्न नही है। ईसामसीहसे पहलेसे ही वहां साक्षात्कारके दो मार्ग प्रचलित थे। एक 'आल्वरों' का और दूसरा 'अरिवरों' का अथवा इन दो नामोंसे साक्षात्कारी अथवा अनुभावी वर्ग प्रचलित था। 'आल्वर' का अर्थ होता है 'डूबा हुआ', तल्लीन अर्थात् तन्मय। कुछ लोग 'आल्वर' का अर्थ नम्र भी करते हैं। कुछ लोग 'आल्वर' का अर्थ शासक भी करते हैं। किंतु आल्वरका वास्तविक अर्थ होता है तन्मय— सत्य-तन्मय। यह वैष्णव थे। 'अरिवर' का अर्थ होता है 'अरियुववरु' अर्थात्

जानने वाले[1] अर्थात् ज्ञानी। यह शैव थे। अपने इष्ट देवताकी भिन्नताके कारण इनका यह भिन्न संप्रदाय था—इ० स० चौथी सदीमें आलवरोंके लिखे हुए कुछ तामिल ग्रंथोंको 'द्राविड़ वेद' कहा जाता था। आज भी वह उतने ही महत्वके माने जाते हैं। इ० स० १००० में नाथ मुनिने इनके ४०० ग्रथोंका संपादन किया था। श्री रामानुजाचार्यका भक्ति-मार्ग इसी परंपराका विकसित रूप है। क्योंकि श्री रामानुजाचार्य श्री यमुनाचार्यके शिष्य थे और श्री यमुनाचार्य श्रीनाथ मुनिके नाती। पद्म पुराणमें भक्ति-मार्गके विषयमें लिखा है, 'उत्पन्ना द्राविड़े देशे वृद्धि कर्नाटके गता।' संभवतः यह उक्ति अक्षरश सत्य नही होगी। किंतु भक्ति मार्गकी परंपराकी ओर संकेत करने वाली अवश्य है। श्री मध्वाचार्यके बाद कर्नाटकमें वैष्णव भक्तिका प्रचार विशेष रूपसे हुआ। इसका अर्थ यह नही कि इसके पूर्व कर्नाटकमें कोई भक्ति-मार्ग नही था। किंतु श्री मध्वाचार्यके बाद 'दासर कूट'[2] नामसे वह विशाल वृक्षकी तरह फैल गया। इससे पूर्व वैष्णव भक्तिका प्रचार था किंतु उसका सविस्तर अथवा सिलसिलेवार इतिहास नही मिलता। किंतु तामिलमें जो 'अरिवर' नामका शैव साक्षात्कारका मार्ग प्रचलित था उसका कर्नाटक तथा आंध्रमें पर्याप्त प्रचार हो गया था। श्री अल्लम प्रभु और श्री बसवेश्वरके कालमें वह मार्ग समग्र कर्नाटकमें सर्वमान्य था, सर्व प्रिय था। कन्नड़ वचनकारोंके 'त्रिषष्ठि पुरातनरु' तामिल के अनंतरके हैं। इनकी परम्परा का मूल तामिलके 'अरिवर' हैं।

स्वानुभवको ही सत्यकी कसौटी मानकर साक्षात्कार करनेवालोंकी परंपरा भारतके बाहर अन्य देशोंमें भी विद्यमान है। परमात्मा बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। श्रुति-ग्राह्य भी नहीं है। ग्रंथ ग्राह्य भी नहीं है। वह तो आत्मग्राह्य है। वह वाङ्मनातीत है। वह अनुपम और अवर्णनीय है। यह जैसे हमारे उपनिषद्कारोंने कहा वैसे ही पाश्चात्य प्राचीन दर्शनकारोंने भी कहा है। प्लेटो, प्लूटीनस आदिने भी यही कहा है। सोलहवीं सदीके जर्मन दर्शनकार कांट कहते है, 'The thing in itself'। हमारे दार्शनिकोंने 'नेति-नेति' कहा है। वह परमात्माके विषयमें The thing in appearance कहकर चुप हो गया है। किंतु इन दिनों यूरोपमे साक्षात्कारके सत्यका महत्व बढ़ गया है। और वह बढ़ने लगा है। ऐसे प्रश्न आज पाश्चात्य विचारकोंको सताने लगे है कि इंद्रियातीत सत्यका ज्ञान हमें कैसे हो सकता है? वह हमारी पकड़में नही आता है इसलिए उसे छोड़दें, इतना वह हमसे अलग है क्या? अमेरिकाके प्रसिद्ध दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रो० विलियम जेम्सने एक पुस्तक लिखी है उसका नाम है दि विल टू बिलीव (The will to believe), उसमें वह लिखते

---

१. एक कीटलका कन्नड़ कोश। २. सेवकोंका मिलन।

हैं कि साक्षात्कार सत्य है। पारमार्थिक सत्य साक्षात्कारसे अनुभव किया जा सकता है। वह साक्षात्कार हमारी आत्माको होता है। एक बार साक्षात्कार हुआ कि वह साधकके जीवनमें ओत प्रोत हो जाता है। इसके अलावा भी उन्होंने अपनी एक पुस्तक (Varieties of Religious Experience) में पाश्चात्य राष्ट्रोंमें अलग-अलग लोगोंने जो साक्षात्कार किया है उन सबके अनुभवोंका विवेचन किया है। इसका विवेचन और संपादन करते समय अत्यंत आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखा गया है। उसी प्रकार मिस एवलीन अंडर हिल (Miss Evelyn Underhill) नामकी विदुषीने अनेक पाश्चात्य साक्षात्कारियोंके अनुभवोंका विवेचन किया है। प्रो० राधाकृष्णनूजीने अपनी एक पुस्तक (Reign of Religion in Contemporary Philosophy) में पाश्चात्य तत्वज्ञानके विषयमें लिखा है। उसमें साक्षात्कारके मार्गका पाश्चात्य तत्वज्ञान पर कैसा प्रभाव पड़ा है, इसका अत्यन्त सुदर विवेचन किया है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगलने लिखा है, 'आत्म-दृष्टिमे विचार किया जाए तो विश्व एक छायाकी तरह है। आत्म सूर्यसे प्रकाशित दिव्य ज्ञानमे. अर्थात् आत्म-ज्ञानसे देखा जाए तो यह सब सत्यका शांत प्रतिबिंबसा दिखाई देगा।' (Philosophy of Religion) इसी प्रकार ब्रॅडले नामके अंग्रेज लेखकने अपनी पुस्तक (Appearance and Reality) ४४६ वें पृष्ठ पर जो साक्षात्कारका महत्व नहीं जानते, अथवा नही मानते उनकी हँसी उड़ाते हुए लिखा है, 'साक्षात्कारमें प्रतीत होने वाले सत्यसे अधिक प्रत्यक्ष सत्य देखनेकी इच्छा करने वालोंको इसका पता भी नहीं है कि वह क्या चाहते हैं?' कवि ब्राउनिंगने तो अपने अनुभव लिखते हुए कहा है, 'मैंने जाना मैंने प्रतीत किया...भगवान क्या है ? हम कौन हैं ? यह जीव क्या हैं ? अनंतने अनंतानद को अनंत सुखमे कैसे अनुभव किया .....यह मैंने जाना। यह मैंने प्रतीत किया!"

यह तो साक्षात्कारीकी भाषा है। पश्चिमके बुद्धिजीवी विद्वानोंमें भी आजकल यह धारणा बढ़ने लगी है कि तर्कसे सत्यको जानना असंभव है। वह अनुभवसे ही जान सकते हैं। पाश्चात्य राष्ट्रोंमें भी प्राचीनकालमें अनेक साक्षात्कारी अनुभावी हो चुके हैं। किंतु बीसवीं सदीके प्रारंभके साथ आधुनिक विचारकोंने आध्यात्मिक जीवनमें साक्षात्कारका महत्व स्वीकार करना प्रारंभ किया है। अब तक जो साक्षात्कारी हो चुके है उनका नाम निर्देश करना भी असंभव है। और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। योरोपमें ईसाई धर्म ही सर्वमान्य है। वही सर्वत्र व्याप्त है। उसके पहले जो धर्म ग्रीक और रोममें विद्यमान थे वे ही सब जगह थे। उस समय एशियामें भगवान बुद्धका बौद्ध-धर्म प्रचलित

था। महावीरका जैन धर्म प्रचलित था। तथा झरतुष्ट्रका धर्म प्रचलित था। सच पूछा जाए तो ये तीनों धर्म वैदिक धर्मसे घनिष्ठ रूपसे संबंधित हैं। तीन धर्मोंमेसे जैन धर्म केवल भारतमें प्रचलित था। बौद्ध धर्म बर्मा, चीन, जापान, कोरिया आदि देशोंमें पहुँच चुका था और झरतुष्ट्रका (ज़रदुश्त) धर्म ईरान में। इसके अलावा खाल्डिया, मिस्र आदि देशोमें यहूदी धर्म प्रचलित था। इसके बादके धर्मोंमे मुस्लिम धर्म अत्यंत प्रबल धर्मोंमें एक बना। इन सब धर्मोंके साक्षात्कार मार्गका अवलोकन किया जाए तो अनेकानेक ग्रंथोंकी सामग्री मिल सकती है। ईसाके पूर्वके दर्शनकारोंमें प्लेटोका नाम ही अत्यंत महत्वका है। वही उस कालका महान् दार्शनिक कहलाता है। उन्होने लिखा है, "आत्म-साक्षात्कार अवर्णनीय होता है। इसलिए मैं उसके विषयमें कुछ भी नहीं लिखता। यदि आत्म-साक्षात्कारके विषयमें लिखना संभव होता तो मैं जीवनभर वही लिखता।" उसके बाद प्लोटीनसका नाम ले सकते हैं। उसका काल ई० स० की तीसरी सदीका माना गया है। उस समय इसाई धर्म बाल्यावस्थामें था। प्लोटीनस पर इसाई धर्मका कोई प्रभाव नही दीखता। इसके ग्रंथमें साक्षात्कारका वर्णन प्लेटोसे अधिक है। इन्होने समाधि-स्थितिका वर्णन किया है, जैसे तैतरीय उपनिषद्में कर्तकीने किया है, अथवा याज्ञवल्कने। बाइबिलका Old Testament देखा जाए तो उसके कई परिच्छेद देखकर ऐसा लगता है कि वह मोसेस आदि यहूदी साक्षात्कारियोंने लिखे होगे। ईसाके विषयमें पूछना ही क्या है? वह अपने आत्मप्रकाशमें ही जीवन-यापन करता था। उसका जीवन तो साक्षात्कारका प्रात्यक्षिक-सा था। उनके शिष्योमें सेट जॉन, सेंट पॉल, सेट ऑगस्टाइन, डायोनिसस् आदि कई नाम गिनाये जा सकते है। किंतु विश्वके इन सब साक्षात्कारियोसे इस पुस्तकके विषयका कोई संबंध नहीं है। यहां तो कन्नड़ वचनकारोंके साक्षात्कारका प्रश्न है। इसके लिए वचनामृतका पांचवा, छठा तथा सातवां अध्याय देखना पर्याप्त होगा। वस्तुतः जीवन्मुक्त और साक्षात्कारीमें कोई अंतर नहीं है। साक्षात्कार मानव कुलकी संपत्ति है। वह तो प्रत्येक मनुष्यकी आकांक्षा है। मानवमात्रका स्वप्न है। प्रत्येक युगमें, प्रत्येक भाषा-कुलके लोगोंने साक्षात्कार किया है। यहां केवल वचनकारोंके साक्षात्कारका संबंध है। उसी विषयमें यहां लिखना है। विश्वके अन्य अनेक साक्षात्कारियोंमें वचनकारोंका स्थान-मान ढूंढना है। इसी बहाने सब संतोंका पुण्य-स्मरण हुआ। सबके स्मरणसे सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त हुई। अपने हृदयको सांत्वना मिली।

वचनामृतके पांचवें अध्यायमें मुख्यतः साक्षात्कारीकी आंतरिक स्थितिका वर्णन किया गया है। और सातवें अध्यायमें जिनसे उनके लोक-व्यवहारकी कल्पना हो सके, ऐसे वचनोंका संकलन किया गया है। साक्षात्कारकी स्थिति स्थिर

हुई कि साधक मुक्त हुआ। वह सिद्ध हुआ। तभी उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। साक्षात्कारका अर्थ आध्यात्मिक जगतके आत्यंतिक सत्यकी प्रत्यक्ष प्रतीति हैं। उसीके स्वानुभव, अनुभूति, अनुभव, अनुभाव, आत्म-साक्षात्कार, आत्मज्ञान, अपरोक्ष-ज्ञान, अपरोक्षानुभूति, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्म-साक्षात्कार, ब्रह्मानुभव आदि अनेक नाम हैं। किंतु वचनकारोंने इसे अनुभाव कहा है। परमार्थ मार्गमें ऐसा अनुभव मुख्य है। वही वचनकारोंका ध्येय रहा है। वचनकारोंने यह ध्येय अपनी आंखोंके सामने रखकर उसकी साधना की है। वचनकारोंकी दृष्टिके सामने यह ध्येय अत्यंत स्पष्ट रूपसे था। इस विषयके अनेक वचन मिलते हैं। उन्होंने जगह-जगह बार-बार यह कहा है कि बिना साक्षात्कारके जप, तप, ध्यान, धारणा सब व्यर्थ है। उनकी दृष्टिसे अनुभावके अभावमें ये सब योग, जप, तप आदि ठीक वैसे ही व्यर्थ हैं जैसे सूर्य, चंद्र-तारकाओंके अभावमें आकाश, सुगंधके अभावमें सुमन, प्रतिभाके अभावमें काव्य, मस्तकके अभावमें धड़। अनुभावके अभावमें सारा प्रयत्न व्यर्थ है। निस्तेज है। निरर्थक है। जैसे वृक्षकी परीक्षा उसके फलसे होती है वैसे ही विद्याका परीक्षा उसके परिणामसे होती है। अध्यात्म विद्या अथवा आध्यात्मिक साधनाकी परीक्षा उसके परिणामस्वरूप साक्षात्कारसे होता है। इंद्रियातीत आध्यात्मिक सत्य साधकके अनुभवसे ही सिद्ध हो सकता है। साक्षात्कार इसका प्रमाण है। अर्थात् साक्षात्कार ही सब प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाकी सिद्धि है। बिना इसके कितना ही जाप करो, कितना ही तप करो, कितना ही ध्यान-धारणा करो, कितनी ही पूजा-अर्चा करो, वह सब व्यर्थ है। वचनकारोंने इस तथ्यको अत्यंत तेजस्वी भाषामें अपने लोगोंके सामने रखा है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है, जीवन भरकी गुरु-लिंग-जंगमपूजा और प्रसाद-पादोदक सेवनसे क्षणभरका अनुभाव महत्वका है। अनुभावका वर्णन करते समय अक्कमहादेवीने "वही मेरे स्मरणकी निधि थी। वही मेरे ज्ञानका निचोड़ था। वही मेरे पुण्यका फल था। वही मेरा भाग्य था। वही मेरी आंखों-में घरकरके बसा हुआ ज्योति-प्रकाश था। वही मेरे ध्यानकी दृढ़ता थी। वही मेरा आनंदोत्सव था।" आदि शब्दोंमें अपना धन्यभाव दर्शाया है।

साक्षात्कार वचनकारोंकी जीवन-साधनाका अंतिम साध्य था। साक्षात्कार वचनकारोंके जीवनका पुण्यफल और आनंदोत्सव था। साक्षात्कार ही वचनकारों-के जीवन-प्रकाशका महाप्रकाश था। साक्षात्कार ही वचनकारोंके पूर्णत्वकी बुनियाद और उसका कलश था। साक्षात्कार ही उनके जीवनका, निचोड़ था। साक्षात्कार ही उनके ज्ञान-ध्यानका पूर्णत्व था। और वह उन्होंने पाया। और जो कुछ उन्हें पाना था वह सब प्राप्त करके वह वैसे ही रहे जैसे मछली पानीमें डूबकर भी अपनी नाकमें पानी न जाने देते हुए रहती है। सदैव चल-

कर भी निर्गमनीकी तरह रहे। बोलकर भी मौन रहे। अपने आपमें लिप्त होकर भी अलिप्त रहे। क्योंकि वह निरपेक्ष थे। निष्काम थे। वह जीवन भर कर्म करते रहे किंतु निराभार होकर। कामका बोझ उन्होंने नहीं ढोया। जीवन-भर वह जले किंतु कपूरकी तरह जले। चिमटीभर राख भी नहीं रही। उन्हींके शब्दोंमें कहना हो तो वह आकाशमेंसे उदय होनेवाले इंद्रधनुषका उसी आकाशमें विलीन होनेकी भांति, हवामेंसे उद्भूत होनेवाले बवंडरका उसी हवामें विलीन होनेकी भांति, जहांसे निकले थे वहीं विलीन हो गये। जैसे पूजाके लिए पुजापा लेकर आया हुआ पुजारी स्वयं पूज्य हो जाता है।

वचन-साहित्यमें नीति और धर्म

पिछले दो अध्यायोंमें तत्व-ज्ञानकी दृष्टिसे वचन-साहित्यका विचार किया गया, अथवा वचन- साहित्यमें जो तत्व-ज्ञान है उसका विचार किया गया। इस अध्यायमें नीति और धर्मके दृष्टिकोणसे इसका विचार किया जाएगा। अथवा वचन-साहित्यमें वचनकारोंने जो नीति और धर्म बताया है उसका विचार किया जाएगा। वैसे तो वचनामृतमें इस विषयमें कहे गये वचनोंसे ही उसका परिचय मिलता है।

नीतिका अर्थ व्यक्ति और समाजका संबंध है, और नीति-शास्त्र व्यक्ति और समाजका संबंध कैसा होना चाहिए, यह बताने वाला शास्त्र है। नीति शास्त्रमें समूह के साथ व्यक्तिका हित कैसे किया जा सकता है इसका विचार किया जाता है अर्थात् एक तरहसे नीति, समाज-धर्म है। समाजके सामूहिक अभ्युदयका साधन है। किसी भी व्यक्तिका समाज-हित विरोधी बर्ताव अनैतिक माना जाएगा। तथा समाज-हितके अनुकूल बर्ताव नैतिक आचरण। वचनकारोंने इस विषयमें अपने कुछ नियम बना लिए है। वचनकारोके नीति-नियमोंका विचार करते समय एक बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि वह समाजके अभ्युदयके साथ समाजका आध्यात्मीकरण चाहते थे। उनका दृष्टिकोण केवल भौतिक नहीं था। उनका अपना ही एक विशिष्ट दृष्टिकोण था। उदाहरणके लिए हम कामिनी और कांचनके विषयमें उनका दृष्टिकोण लें। केवल भौतिक दृष्टिसे विचार करनेवाले लोग कामिनी और कांचनको संपूर्ण रूपसे भोग्य वस्तु मानते हैं। भोगका साधन समझते है। आध्यात्मवादी उसे त्याज्य मानते हैं। हेय मानते हैं। मायाका जाल मानते हैं। किंतु वचनकारोंका दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है, "होन्नु मायेयेंबरु, हेण्णु मायेयेंबरु, मण्णु मायेयेंबरु। होन्नु मायेयल्ल, हेण्णु मायेयल्ल, मण्णु मायेयल्ल, मनद मुंदण आशेये माये काणा गुहेश्वरा।"[1]

वस्तुतः मंगलमय परमात्माके राज्यमें कोई वस्तु अमंगल है ही नहीं। किंतु गलत ढंगसे उपयोग करनेपर अमंगलमय-सी लगती है। कनक और कामिनी त्याज्य नहीं है। उसके विषयमें भोगाशा त्याज्य है। अनुचित भोगाशा मायाका परिणाम है। नहीं तो धन सकल पुरुषार्थका साधन है। नारी मानव कुलकी माता है। और धरित्री

---

१. धनको माया कहते हैं। दारा (स्त्री) को माया कहते हैं। धरतीको माया कहते हैं, धन माया नहीं है। धरती माया नहीं है। नारी माया नही है। मनके सामने जो आशा है। वही माया है रे गुहेश्वरा।

हमारी पुण्यभूमि है ! कर्म-भूमि है ! तपोभूमि है ! वचनकारोंकी यही दृष्टि रही है। "स्त्री एक भोग्य वस्तु है" इस भावनाको वचनकारोंने उखाड़कर फेंक दिया। उन्होंने स्त्रीको मातृ-रूपसे देखनेकी शिक्षा दी। बसवेश्वरने कहा, "नारि अंदरे जगन्माते" "स्त्री तो जगन्माता है।" वस्तुतः स्त्री शक्ति है। और शक्तिदात्री भी। शक्तिका यह स्वभाव है कि जिस रूपमें उसकी पूजा की जाए उस रूपमें वह दर्शन और प्रसाद देगी। समाजने उसको अबला, निर्बला, दुर्बलाके रूपमें पूजा। परिणामस्वरूप वह स्वयं निर्बल हुआ। निस्तेज हुआ। अबलाके दूधसे भला बलवान् कैसे बनेगा ? समाजने कामिनीके रूपमें पूजा तो वह कामका कीड़ा बना। स्त्रीके सामने वह निस्तेज बना। यदि वह सतीके रूपमें पूजता तो शक्तिशाली बनता। सत्वशाली बनता। माताके रूपमें पूजता तो मुक्त होता। वचनकारोंने इस तथ्यको जाना। उन्होंने मातृ-दृष्टिसे देखनेकी शिक्षा दी। समाजके मुक्त होनेका नया रास्ता खोल दिया। इसी मातृ-दृष्टिका विकास करता जाए तो साधकका मुक्ति मार्ग अधिक सरल होगा। सुगम होगा। इसलिए वचनकारोंने नीतिको धर्म-प्राण बना दिया।

धर्म केवल व्यक्तिगत मुक्तिका संदेश नहीं देता। वह सामूहिक दृष्टिसे भी विचार करता है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बना है। 'धृ' का अर्थ है पकड़ना, उठाना, खड़ा करना, पोषण देना। इसी 'धृ' धातुसे 'धृति' शब्द बना है। धृति का अर्थ एक ही स्थितिमें खड़ा रहनेकी शक्ति है। और धैर्यका अर्थ निर्भयतासे रुकावटोंसे संघर्ष करते हुए आगे बढ़ना है। धर्मका अर्थ धारण करना है। धारणाका अर्थ एक ही स्थितिमें खड़ा रहनेका आधार है। 'धीयते अनेन इति' अर्थात् व्यक्ति और समाज जिन नियमोंके पालन करनेसे सुस्थितिमें रहेगा, और ऊपर उठेगा वह धर्म है। जिस मार्गसे चलने पर स्थूल दृष्टिसे दिखाई देनेवाले इस विश्वमें तथा अंतःकरणकी स्फूर्त दृष्टिको सूझनेवाली अंतःसृष्टिमें अभ्युदय होगा वह धर्म-मार्ग है। अथवा जिससे मानव कुलके अत्युच्च ध्येयकी प्राप्ति होगी उसमें सहायता होगी वह धर्म है। धर्म कभी एक व्यक्तिकी उन्नतिका साधन नहीं हो सकता। वह तो समग्र मानव कुलके सर्वतोमुखी विकासका साधन है। तथा समग्र मानव कुलको जीवनके उच्चतम और श्रेष्ठतम साध्यको प्राप्त करनेमें समान अनुकूलता प्राप्त करा देना सच्चे धर्मका लक्षण है। इसमें संशय नहीं कि मोटे तौर पर देखनेसे मनुष्य अकेला जनमता है। अकेला बढ़ता है और अकेला मरता है। उसके जन्म और मरणसे समाजका कोई संबंध नहीं। किंतु वह सामाजिक प्राणी है। जबसे वह जन्म लेता है तबसे अंतिम क्षणतक वह समाजसे सहायता लेता है। उसको समाजका सहारा चाहिए। उसका सहयोग चाहिए। बिना समाजके सहारेके, बिना समाजके सहयोगके, बिना समाजकी

सहायताके उसका जीना असंभव है। इसलिए मनुष्यका समाजसे भिन्न अथवा पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह समाजका ही अंग है। समाजके सुख-दुःखसे उसका निकटतम सम्बन्ध है। उसी प्रकार समाजके सामूहिक अभ्युदय और निःश्रेयससे उसके व्यक्तिगत अभ्युदय और निःश्रेयसका निकट संबंध है। समाजका अहित करनेवाला व्यक्ति-हित धर्मसम्मत नहीं हो सकता। वैसे ही व्यक्तिगत ध्येय तथा उसके साधनोंके विषयमें कुछ निश्चित करने से पहले यह देखना भी आवश्यक है कि उसका व्यक्तित्व कैसे घटित हुआ? उसके घटकावयव कौन-से हैं। मनुष्यका अर्थ क्या है? इन आँखोंसे प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला उसका शरीर मात्र है? अथवा उसका चैतन्य विशेष है? अथवा उसके ज्ञानतन्तुओंका समूह है? अथवा उन सबका एकीकरण करनेवाला मस्तिष्क है? अथवा मनुष्यके सोते हुए भी जगनेवाली उसकी आत्मा है? अथवा इन सबका समीकरण है? मनुष्यके व्यक्तित्वका आधार क्या है? मनुष्यके सच्चे धर्मका, अर्थात् स्वभाव-धर्मका निश्चय करते समय ऊपरके प्रश्नोंका हल करना अत्यंत आवश्यक है। यह मानी हुई बात है कि मनुष्य समग्र विश्वकी एक छोटी-सी प्रतिकृति है। कहा जाता है जो पिंडमें है वही ब्रह्मांडमें है। उपनिषदोंमें भी कहा है, 'पूर्णमदः पूर्णमिदं।' मनुष्य भी पूर्ण है। समाज भी पूर्ण है। जैसे समाज अनंत मनुष्योंका संघटन है वैसे मनुष्य अनंत सजीव, स्वतन्त्र पेशियोका संघटन है। जैसे समाज-में मनुष्यका अपना स्वतंत्र और पृथक् अस्तित्व होता है वैसे ही शरीरमें प्रत्येक पेशीका स्वतंत्र और पृथक् अस्तित्व होता है। जैसे स्वतंत्र और पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी मनुष्य समाजका अभिन्न घटक कहलाता है, वैसे ही प्रत्येक पेशी अपना स्वतंत्र और पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी शरीरका अभिन्न घटक है। और जैसे शरीरकी एक भी पेशी विकृत होने पर अथवा सड़ने पर शरीर पूर्णतः नीरोग नहीं कहा जा सकता वैसे ही समाजमें एक भी मनुष्य विकृत हो तो समाजको संपूर्णतः निर्दोष नहीं कहा जा सकता। वैसे ही यदि एक भी मनुष्य दुखी है तो समग्र समाज सुखी नहीं कहा जा सकता। समाजका प्रत्येक घटक और उनसे बने हुए समाजका अन्योन्य संबंध है। दोनों परस्परावलंबी हैं। इसलिए व्यक्तिके साथ समाजका और समाजके साथ व्यक्तिके सर्वतोमुखी विकासमें सहायक होना सच्चे धर्मका लक्ष्य है। समाजका विचार न करते हुए किसी व्यक्तिका सर्वतोमुखी विकास जैसे संभव नहीं है वैसे ही किसी व्यक्तिका विचार न करते हुए समाज का सर्वतोमुखी विकास संभव नहीं है। इसलिए ऐसा कोई समाज अधिक दिन तक नहीं टिक सकता, जिसके घटक संकुचित स्वार्थके पुजारी हैं, अथवा केवल व्यक्तिगत हित ही देखते हैं। जिन लोगोंका जीवन 'सर्वेषाम् अविरोधेन' नहीं चलता, जो लोग दूसरोंकी आशा-आकांक्षाओंको कुचलकर स्वयं आगे बढ़नेका प्रयास

करते है उन लोगोंका समाज कभी सुखी नहीं हो सकता। ऐसे लोगोंका समाज अधिक काल तक टिक नहीं सकता। इसके लिए सामाजिक अभ्युदयके साथ निःश्रेयसका होना आवश्यक है। व्यक्ति और समाजके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिए समान संधि और प्रेरणा देनेवाले नियम ही धार्मिक नियम कहला सकते है। इस प्रकारकी व्यवस्था ही धार्मिक व्यवस्था है। समाजमें व्यक्तिगत सुख और सामूहिक सुखमें संघर्ष न हो। उसमें सौजन्यपूर्ण सहयोग हो। दोनोंका समन्वय हो ऐसी व्यवस्था करना धर्मका कार्य है।

ऊपरके विवेचनमें कई बार अभ्युदय और निःश्रेयस शब्द आए हैं। इसलिए इन दोनों शब्दोंका स्पष्ट अर्थ समझना अत्यंत आवश्यक है। आगमकारोंकी भाषामें अथवा पर्यायसे वचनकारोंकी भाषामें अभ्युदय और निःश्रेयसका अर्थ है भुक्ति और मुक्ति। वचनकारोंकी भाषामें भुक्तिका अर्थ भौतिक प्रगति है। अभिवृद्धि, वैभव, यश, कीर्ति आदि इसके रूप हैं। और मुक्तिका अर्थ है आंतरिक प्रसन्नता, नित्य-आनंद, आत्म-कल्याण, शाश्वत सुख। यही अभ्युदय और निःश्रेयसका अर्थ है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्तिका समुचित समन्वय है। इसी बातको सर्वसामान्य लोगोंकी भाषामें कहना हो तो इसे चतुर्विध पुरुषार्थों-की सिद्धि कह सकते हैं। काम, अर्थ, धर्म और मोक्षकी सिद्धि। इन चारों पुरुषार्थोंमें अविरोधी भाव होनेसे ही यह सिद्धि हो सकती है। काम और अर्थ धर्म और मोक्षका विरोधी न हो। किंतु उसके अनुकूल हो। धर्म और मोक्षके अनुकूल काम और अर्थकी साधना कैसे हो सकती है? यही कहना धर्मका कार्य है। धर्म इस ध्येयकी सिद्धिकी साधना है। जिस अभ्युदयके अभावमें मनुष्यका जीवन चलना असंभव है वह अभ्युदय धर्मानुकूल है। अथवा जिस काम और अर्थके अभावमें व्यक्तिगत तथा सामा-जिक जीवन यात्रा चलना असंभव है उस काम और अर्थकी साधना धर्म और मोक्षकी अविरोधी है। वह धर्म और मोक्षके अनुकूल है। वह काम और अर्थ मनुष्यके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा भावात्मक स्वास्थ्यको ठीक रखेगा। वह मनुष्यके सर्वांगीण विकासका साधन बनेगा। यही बात निःश्रेयसकी है। वही निःश्रेयस धर्मसम्मत है जो मनुष्यके भौतिक जीवनमें अभाव पैदा न करे। जिससे साधककी स्वस्थ जीवन यात्रा असंभव न हो, अपितु वह स्वस्थ जीवन यात्रामें सहायक हो। अभ्युदय और निःश्रेयसके समुचित समन्वय द्वारा मनुष्यके व्यक्तिगत और सामूहिक स्वस्थ और सर्वतोमुखी विकासका साधन जुटा देना धर्मका कार्य है। इस दृष्टिसे विचार करने पर लगता है कि अभ्युदय निःश्रेयस-की पूर्व तैयारी है। भुक्ति मुक्तिकी साधना है। काम और अर्थ, धर्म और मोक्ष-का मार्ग है।

किंतु अभ्युदय प्रवृत्तिका परिणाम है, और निःश्रेयस निवृत्ति-मूलक है। प्रवृत्तिके परिणामस्वरूप जो अभ्युदय है वह निवृत्ति-मूलक निःश्रेयसकी पूर्व तैयारी कैसे हो सकता है ? इसके लिए मनुष्यकी सब प्रकारकी शक्तियां तथा उनके गुण-कर्मोंका विचार करना चाहिए। मनुष्य जीवनका मूल आधार क्या है ? मनुष्यके जड़ शरीरमें चैतन्ययुक्त प्राण सर्वत्र संचार करता है। अर्थात् मनुष्यके चैतन्यका आधार प्राण है। और चैतन्ययुक्त जीवनकी सभी संवेदनाका आधार मन है। तथा मनकी विमर्शाशक्ति, बुद्धि आदिका आधार है आत्मा। वह आत्मा अहंभावसे युक्त है। जीवनके सभी घटकोंका संपूर्णरूपसे विश्लेषण करने पर लगता है कि तन, मन और आत्मा, ये ही तीन घटक हैं। इन तीन घटकोंका सम्मिलित अस्तित्व ही यह मानव है। शरीरका अर्थ है चैतन्ययुक्त शरीर। मनका अर्थ अनेक संवेदनाओंको अनुभव करनेवाला, संकल्प-विकल्पके लिए आधारभूत, विमर्शाशक्तिसे युक्त अंतरिंद्रिय है। तथा आत्मा व्यक्तित्वके आधारभूत उस शक्तिका नाम है जो स्वयं कभी विकृत न होते हुए सब प्रकारके अनुभवोंके हेतुरूप और चिदात्मक है। इन सब घटकोंसे बना हुआ मनुष्य सदैव सुख-दुख, राग-द्वेष, शीत-ऊष्ण आदि द्वंद्वोंको भुगतता रहता है। फिर भी वह शाश्वत सुखकी अपेक्षा करता रहता है। साथ-साथ उसकी यह भी अपेक्षा रहती है कि वह इसी जीवनमें मिलना चाहिए। यह सब मनुष्यके मरनेसे पहले, अर्थात् इन तीनों घटकोंका विघटन होनेसे पहले होना चाहिए। क्योंकि जबतक इन तीनों घटकोंका विघटन नहीं होता तब तक मनुष्य अपनी अपूर्णताका अनुभव करता रहता है। और जब अपूर्णताका अनुभव होता है तभी पूर्णताकी आकांक्षा रहती है। इसी आकांक्षासे मनुष्य अभ्युदयसे निःश्रेयसकी ओर बढ़ता है। देह, मन और आत्मा, इन तीनोंसे युक्त मनुष्य देह और मनके दोषोंके कारण अपूर्णत्वका अनुभव करता है। इस अपूर्णत्वके अनुभवसे पूर्णत्वकी आकांक्षा पैदा होती है। पूर्णत्वकी प्राप्तिका प्रयास होने लगता है। तब वह अपने जैसे आदमियोंको खोजता है। उनका सहयोग प्राप्त करता है। और फिर सह-उद्योग प्रारंभ होता है। सामूहिक साधनाका प्रारंभ होता है। इसी अर्थमें मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जबतक जीवन है, अर्थात् तन, मन और आत्माका विघटन नहीं होता है तब तक जीवन मुक्त स्थितिमें जानेपर भी जीवात्माके लिए शरीर तथा मनका संबंध रहेगा ही, अर्थात् समाजका संबंधभी अनिवार्य है। किंतु उस स्थितिमें वह 'यह तन मेरा है'। 'मन मेरा है', मान-अपमान मेरा है', आदि नहीं मानता। वह इन सबसे परे हो जाता है। वह अनुभव करता है कि मैं इन सबसे परे हूं। यह सुख-दुःख आदि नश्वर हैं। दोषपूर्ण है। आज रहेंगे कल नहीं रहेंगे। किंतु मैं अमर हूं। मैं आत्मा हूं। शुद्ध हूं। ईश्वरांश हूं। इस

भावनासे केवल साक्षीरूप बनकर रहता है। इसके लिए मनुष्यको आत्म-ज्ञानकी आवश्यकता है। वचनकारोंकी भाषामें कहना हो तो साक्षात्कार होना चाहिए। और उस साक्षात्कारके लिए अत्यंत तीव्र और उत्कट साधना होनी चाहिए। जब तक ऐसी साधनासे सिद्धि प्राप्त नहीं होती तब तक उसको इस मन, तन और समाजके सहारे ही रहना होगा। ऐसी स्थितिमें उसका और समाजका क्या संबंध होना चाहिए? और जीवन-मुक्तिके बाद भी जब तक विदेह मुक्ति नहीं होती अथवा तन, मन और आत्माका विघटन नहीं होता, उसका और समाजका क्या संबंध होना चाहिए? इसमें संशय नहीं कि जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष उदासीन स्थितिमें रह सकता है। किंतु यदि उस जीवन्मुक्त स्थितिको निर्विघ्न स्थितिमें रखना हो, अथवा अन्य लोगोंको भी ऐसी स्थिति तक पहुंचाना हो तो तन, मन और समाजकी सुस्थिति आवश्यक है। तत्वतः मनुष्य केवल आत्मस्वरूप है। निरहंकार है। शुद्ध-बुद्ध है। नित्य आनंदमय है। किंतु तन और मन द्वारा समाजसे संबद्ध है। अर्थात् समाजसे उसका ममत्व भी है। इसलिए उसको निःश्रेयस प्रधान अभ्युदयका आसरा लेना पड़ता है। तब पुनः यही सवाल उठता है कि साधक और समाज तथा सिद्ध और समाजका संबंध कैसा हो?

जब व्यक्ति और समाजकी बात उठती है तब नीतिका विचार करना पड़ता है। किसी भी व्यक्ति और समाजके लिए अथवा उन्नति या प्रगतिके लिए समाजमें शांति, स्वास्थ्य और स्थिरताकी आवश्यकता होती है। इसलिए कुछ नियम तथा निर्बंध भी आवश्यक होते हैं। इन नियमोंके अभावमें मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल हो जाती है। इससे समाज में अस्वस्थता, अराजकता तथा अनास्था फैल जाएगी। स्वार्थ, स्वैर तथा इंद्रिय लोलुपताके कारण काम, क्रोध, द्वेष आदि आसुरी प्रवृत्तियां बढ़ेंगी। उन आसुरी गुणोके प्राबल्यसे, दया, प्रेम, करुणा, प्रामाणिकता आदि दैवी गुणोंका हनन होगा। और यह दैवी गुण ही समाजके धारण-पोषणके लिए आवश्यक हैं। इन दैवी गुणोंके कारण ही मनुष्य अन्य पशु जगतसे अलग होकर देवकोटिमें जानेका प्रयास करता है। अथवा मानवका दिव्यीकरण होने लगता है। इसलिए शास्त्रकारोंने कई विधि-निषेध बताए हैं। कोई काम नहीं करना चाहिए, यह निषेध है। यह काम करना चाहिए यह विधि है। निषेध संयम प्रधान है और विधि सत्प्रवृत्ति प्रधान। निषेधसे मनुष्यकी पाशवी प्रवृत्तियोंका, अथवा आसुरी गुणोंका हनन होता है तो विधिसे दैवी गुणोंका विकास होता है। विश्वके प्रत्येक धर्ममें नैतिक नियमोंका धर्माचरणमें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। नीति नियमोंके अभावमें धर्मकी कल्पना असंभव है। प्रत्येक धर्म नीतिके किसी न किसी नियम पर अधिक बल देता है।

हिंदू धर्मने सत्य पर बल दिया है। जैनोंने अहिंसा पर। बौद्धोंने तृष्णा-जय पर तो ईसाइयोंने प्रेम और सेवा पर अधिक बल दिया है। किंतु सभी धर्मोंने नैतिक नियमोंके विधि निषेध कहे हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, इंद्रिय निग्रह आदि नियमोंका पालन करनेका आदेश दिया है। वचनकारोंने भी इन सब नियमोंका महत्त्व माना है। इसके आचरण पर बड़ा बल दिया है। क्योंकि बिना इसके कोई धर्म टिक नहीं सकता।

वचनकारोंकी दृष्टिसे अनीतिके सब बीज अहंकार और तज्जन्य अथवा तत्प्रेरित आशामें हैं। उसीसे सब प्रकारकी अनीति महुलाती है। जैसे-जैसे अहंकार और आशा क्षीण होती जाएगी वैसे-वैसे अनीति नष्ट होती जाएगी। 'मैं' दुनियासे पृथक् हूं। सब सुख मेरे लिए चाहिए। यह भावना अहंकारके मूलमें है। इससे मैं और तूका भेद प्रारंभ होता है। इस भेदके आते ही धूर्तता आती है। कुटिलता, कपट, कुतंत्रकी हवा चलती है, जिससे ज्ञान-ज्योति बुझती है। ज्ञानके अभावमें अथवा ज्ञानकी विकृत स्थितिमें बड़े-बड़े विद्वान् भी तमके अंधकारमें पड़ते हैं। अहंकार इतना सूक्ष्म और शक्तिशाली है कि कभी भी किसी वस्तुके विषयमें आशा निर्माण कर सकता है। वचन-साहित्यमें इस विषय पर खूब सुन्दर वचन हैं। उन्होंने विशिष्ट दृष्टिसे समाज शास्त्रका निर्माण किया है। वचन-साहित्यमें सामाजिक विधि-निषेध बताने वाले हजारों वचन हैं। उन्होंने कहा है, आशासे मनुष्य पराधीन होता है। निरपेक्ष मनुष्य स्वाधीन रहता है। आशाकी सीमाका अतिक्रमण किया कि कैवल्यकी सीमामें प्रवेश हुआ। वचनकारों की दृष्टिसे निरपेक्षता ही समाज-स्वास्थ्यका मूल है। इस निरपेक्षतासे सतत कार्य करते रहनेसे अभ्युदय तो होगा ही अपेक्षाके अभावमें वह निःश्रेयसाभि-मुख भी होगा। निरपेक्ष-कर्म-जन्य अभ्युदय निःश्रेयसकी भूमिका होगी। इससे निःश्रेयसाभिमुख अभ्युदय होगा और अभ्युदयानुकूल नि.श्रेयस भी सधेगा।

वचनकार अत्यन्त सत्यप्रिय हैं। उनके मतसे सत्य ही सब नैतिक नियमोंके शीर्षस्थानमें रखने योग्य तत्व है। इस विश्वकी जड़में ही सत्य है। सत्य सतत एकरूप रहता है। वह कभी परिवर्तित नहीं होता। सत्य ही धर्म है। जो बात जैसे अनुभव होती है वैसे कहना सत्य है। सत्य और उससे होने वाली विजय-का सम्बन्ध वैसा ही है जैसे कर्म और उसके फलका होता है। मुक्तिका मार्ग सत्यका मार्ग है। वचनकारोंकी दृष्टिसे सत्य कोई बौद्धिक विषय नहीं है। वह अनुभव और आचरणसे स्पष्ट होने वाला विषय है। वचनकारोंने असत्यवादी से किसी प्रकारका संबंध न रखनेकी सलाह दी है। उनकी अनुमतिमें असत्यका अर्थ है आत्म-वंचना। आत्म-वंचना आत्मघात-सा है। कभी-कभी उन्होंने कहा है कि आत्मवंचनासे बड़ा पाप नहीं। वचनकारोंने तो सत्य बोलना ही स्वर्ग

और असत्य बोलना ही नरक कहा है। उनकी दृष्टिसे जैसा अनुभव किया वैसे कहना शील है। जैसे कहा वैसे चलना शील है। इस प्रकार उन्होंने करनी और कथनीके समन्वयको ही शील कहकर अहिंसाके विषयमें भी अपना वैशिष्ट्य-पूर्ण मत दिया है।

आत्मैक्यकी भावना वचनकारोंकी अहिसाका आधार है। किसी भी प्राणी के शरीर अथवा मनको दुखाना अपनी ही आत्माको दुखाना है जब तक मनुष्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अनुभव नही करता तब तक वह पड़ोसियोंका सुख-दुःख अपना सुख-दु ख नहीं समझ सकता। और जब वह सर्वत्र एक ही आत्माका अनुभव करता है, सबको एक ही ईश्वरांश संभूत मानता है, तव भला अपनेको औरोंसे अलग कैसे मान सकता है ? ऐसी स्थितिमें यह केवल अपने ही तन और मनका स्वामी नही है। वह सब शरीरोंका स्वामी है। सबके मनका स्वामी है। सबमें एक ही एक आत्मा बसता है न ? इसलिए सबका दुःख उसका दुःख बन जाता है। वह सबके सुखकी साधना करने लग जाता है। 'सर्वे सुखिनः संतु सर्वेसतु निरामयाः' की साधना करने लगता है। आत्म-साक्षात्कारका अर्थ 'सर्वे सुखिनः संतु'की महासाधना का प्रारंभ है। इसलिए अहिसा, अर्थात् निषेधात्मक रूपसे हिंसा न करनेका अर्थ विधायक रूपसे सबसे प्रेम करना है। यह साधकका साधारण स्वभाव बन जाता है यही सामाजिक अथवा सामूहिक शांतिकी आधारशिला है। अहिंसाका अर्थ केवल हिसा न करना ही नही, वरन् द्वेष, वैर, दुष्टता, घृणा आदिका त्याग करना, तथा दया, करुणा आदि दैवी गुणोसे प्रेरित होकर सबसे प्रेम करना है। इसलिए सब सतोने 'दया' पर बल दिया है। तुलसीदासजीने 'दया धर्मका मूल है' कहा, तो बसवेश्वरने 'दयेये धर्मद मूलवु' कहकर 'दये इल्लद धर्म याव दय्या ?[1] ऐसा रोकड़ा सवाल पूछा। बसवेश्वरका वचन 'दयेये धर्मद मूल' और तुलसीदासका वचन दया धर्मका मूल है', दो भिन्न-भिन्न भाषाओंमें कहा गया एक सिद्धांत है। अक्षरशः एक है। वचनकार पूछते है, 'बिना दयाके भी कोई धर्म है ?' वह यज्ञ-मार्गकी हिंसाको भी सहन नहीं करते। वह स्पष्ट पूछते हैं— श्रुति, स्मृति, पुराणोंमें केवल मारनेको ही बात कही है क्या ? सर्वभूत हितकी बात नही कही है क्या ? आत्म-ज्ञानके पश्चात् भी मारना-काटना रहता है क्या ? उनके प्रश्न अत्यन्त मार्मिक हैं। उन्होंने मांस-भक्षणका भी विरोध किया है। परिणामस्वरूप दक्षिणमें बहुतसे शूद्र भी मांस नहीं खाते। वीरशैव तो उसको निषिद्ध ही मानते हैं। यदि कभी किसीने कहा कि वेदों में पशु-वधका प्रमाण है तो वे पूछते हैं, "वेद बकरोंकी मौत है क्या ?" उनके मूल

---

१. दया रहित धर्म कौन-सा है ?

वचन यह हैं, 'वेद शास्त्रगलेल्ला होतिगे मारियादवे ?" 'मारि' नामकी देवता है। वह भयानक और वीभत्स बीमारियोंकी स्वामिनी है। इसलिए मारि शब्द मौतसे भी निंद्य और हीनता दिखानेवाला है मारि शब्दमें निंदात्मक भावकी जो चुभन है वह मौतमें नहीं आती। उन्होंने सब प्रकारके पशुवधका विरोध किया है उनका यह विश्वास है कि अहिंसासे वैरका नाश होता है।

सत्य और अहिंसाकी तरह उन्होंने अस्तेय और ब्रह्मचर्यका भी प्रतिपादन किया है। नीति-नियमोंमें अस्तेय और ब्रह्मचर्य भी उतने ही महत्वके हैं कि जितने सत्य और अहिंसा। अस्तेयका अर्थ है दूसरोंकी किसी वस्तुकी चोरी न करना अर्थात् किसी वस्तुको उसके स्वामीकी इच्छाके बिना नहीं लेना। अधिक सूक्ष्मतासे इसका विवेचन करनेपर ऐसा लगता है कि अपने शरीर और मनके विकासके लिए जितना आवश्यक है, और जो आवश्यक है, उससे अधिक रखना चोरी है। संग्रह-वृत्ति चोरी है। जिस वस्तुकी आवश्यकता अपनेसे अधिक दूसरोंको है उसका रखना चोरी है। क्योंकि दूसरोंको उसकी अपनेसे अधिक आवश्यकता है। इसलिए अपने लिए जिन चीजोंकी जितनी आवश्यकता है उससे अधिक संग्रह न करना, अधिक आने पर उसका दान कर देना अस्तेय व्रत है। भगवानने अपने लिए जितना दिया है उतनेमें ही साधकको संतुष्ट हो जाना चाहिए। आशासे धनको न छूना ही शील है। वचनकारोंने दूसरोंके धन आदि लेने वालोंको खूब फटकारा है। इसी प्रकार उन्होंने भिक्षा-वृत्तिका भी विरोध किया है। उनका कहना है कि एक ओर परमार्थकी बातें करना और दूसरी ओर रोटीके टुकड़ेके लिए हाथ फैलाना लज्जाकी बात है। उन्होंने कहा है, जिसको देखा उससे मांगनेसे भगवान प्रसन्न नहीं होता। मांगकर लाया हुआ प्रसाद नहीं कहला सकता क्योंकि वह लिंगार्पणके योग्य नहीं होता। इसलिए उन्होंने अपनी जीविकाके लिए 'कायक' का सिद्धांत अपनाया। कायकका अर्थ है, जीविकाके लिए किया जाने वाला परमात्मार्पित शरीर-परिश्रम। उन्होंने लिखा है कि कायकमें ही कैलास है। कायक ही कैलास है। यह तो श्रमको ही राम माननेके समान है। वे कोरे उपदेशक नहीं थे। उपदेश देनेमें बहुत लोग कुशल होते हैं। उन्होने स्वयं कायकको अपनाया। यहां तक कि समाजमें हीन माने जानेवाले कामोंको भी उन्होंने उठाया। वचनकारोंके सामूहिक व्यक्तित्वका विचार करते समय पिछले परिच्छेदमें उनके नामोके साथ उनके व्यवसाय-बोधक चिन्ह भी दिये गये हैं। सभी वचनकार कोई न कोई व्यवसाय अवश्य करते थे। अपने व्यवसायसे जो भी कुछ मिलता, वह सब लिंगार्पण कर देते। फिर प्रसादके रूपमें वह अन्य सबको बांटकर खाते। इसको वह 'दासोह' कहते। उन्होंने कभी गरीबीको

पाप नहीं माना। उनकी दृष्टिमें शुद्ध, शांत सेवामय जीवन ही "धन" था। भक्तोंको धनकी कमी होनेपर भी धन्यताकी कमी नही है। उनका यह नियम था कि अपनी गरीबीमें से भी सत्कर्मके लिए कुछ न कुछ निकालना चाहिए।

वही बात ब्रह्मचर्यकी। वस्तुतः ब्रह्म-प्राप्तिके लिए व्रतस्थ रहना ही ब्रह्मचर्य है। अब काया, वाचा, मनसे स्त्रीसे कोई संबंध न रखना ही ब्रह्मचर्य माना जाता है। किंतु वचनकार नहीं मानते। वह शास्त्रोक्त रूपसे केवल अपनी पत्नीसे ही संबंध रखना ब्रह्मचर्य मानते हैं। केवल धर्मपत्नीसे, और वह भी शास्त्रानुसार सहवासको उन्होने ब्रह्मचर्य माना है। इस विषयमें उनका मत स्पष्ट है। वचनकार संयमके समर्थक हैं। वह दमनको आवश्यक नहीं मानते। वे मनुष्यकी सामान्य प्रवृत्तियोंको नष्ट करनेके पक्षमें नहीं हैं। जब कभी उन्होंने स्त्री-सहवासका विरोध किया है स्त्री शब्दके साथ 'पर' शब्द जोड़ा है। साथ-साथ 'अंगीकृत स्त्रीको त्यागना भी घोर पाप' होनेकी बात कही है। जैसे वह पर स्त्री संगको पाप मानते हैं वैसे विवाहिता स्त्रीका त्याग करना भी पाप मानते हैं। वह मानते हैं कि साक्षात्कारके लिए मनुष्यको निःकामी होना आवश्यक है। किंतु निःकामी होनेका उनका मार्ग संयमका है। दमनका मार्ग उन्हे मान्य नहीं। इसलिए वह स्त्रीकी ओर देखनेका जो दृष्टिकोण देते है वह निःकाम होनेमें सहायक है। द्वेष, अवहेलना, तिरस्कार आदि जीवनके स्वस्थ विकासके साधन नहीं हो सकते। वह स्त्रीको जगदम्बाके रूपमें देखनेका उपदेश देते है। ब्रह्मचर्यके विषयमें चेतावनी देते समय 'परस्त्री सहवास' का उन्होंने अत्यंत भयानक शब्दोंमें वर्णन किया हैं। उनका कहना है कि काम जीव मात्रकी सहज प्रवृत्ति है। अति प्रबल प्रवृत्ति है। एकदम काम जय सहज नहीं है। इसके लिए केवल स्वस्त्रीमें ही काम प्रवृत्तिको सीमित करके, धीरे-धीरे ब्रह्मचर्यका पालन करना स्वस्थ विकासके लिए अथवा प्रवृत्तिसे धीरे-धीरे निवृत्त होनेमे सहायक होता है। यही इद्रिय-निग्रह तथा काम जयका सामान्य नियम है। ब्रह्मचर्यके साथ उन्होंने इद्रिय-निग्रहके विषयमें भी बहुत कुछ कहा है।

इद्रिय-निग्रहका अर्थ है इंद्रियोंको उनकी सामान्य प्रवृत्तियोसे निवृत्त करते जाना। इंद्रियोंको अपने-अपने विषयोंका आकर्षण होता है। और वह स्वाभाविक है। इसमें कोई अस्वाभाविकता नही है। मनुष्यके अलावा दूसरे किसी प्राणीके लिए संयमकी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि मनुष्यके अलावा अन्य सभी प्राणियोंका जीवन निसर्ग-नियमानुसार चलता है। किंतु मनुष्यमें बुद्धि-शक्तिका अधिक विकास हुआ है। इससे उसका जीवन अधिक कृत्रिम और जटिल हो गया है। इसके लिए संयमकी आवश्यकता होती है। जैसे भोजनके विषयमें। मनुष्यके अलावा अन्य किसी प्राणीका भोजन इतना कृत्रिम नहीं है। मनुष्यके

अलावा अन्य किसी प्राणीमें अपने भोजनके नियमोंमें जो निसर्गने उनके लिए बना दिये हैं यत्‌किंचित् भी परिवर्तन करनेकी शक्ति नही है। मनुष्य अपनी इच्छासे चाहे जैसा भोजन बना लेता है। अतः मनुष्यके लिए रसनेंद्रियका संयम आवश्यक हो जाता है। यही बात अन्य इंद्रियोंकी है। यदि मनुष्यने अपनी इंद्रियोंकी भूख मिटाना ही अपना आदर्श मान लिया तो बात दूसरी है। ऐसी स्थितिमें वह आत्यंतिक सत्यकी खोज अथवा उसका अनुभव नहीं कर सकेगा। शाश्वत सुखकी खोज नहीं कर सकेगा। यदि साक्षात्कार, सत्यानुभव अथवा मुक्ति-सुख वह चाहता है तो उसे अपनी इंद्रियोंकी भूखको सीमित करना ही पड़ेगा। केवल उपभोगसे इंद्रियोंकी भूख कभी शमन नहीं हो सकती। वह तो आत्माकी भूखको जगानेसे अर्थात् गीताकी भाषामें कहना हो तो 'परं दृष्ट्वा' के पश्चात् 'निवर्तन' होती हैं। वचनकारोंकी भाषामें कहना हो तो साक्षात्कारके उपरांत मिटती है। और जो अपनी इंद्रियोंके विषयोंको चाहते है उन्हें जब विषय नहीं मिलते तो काम, क्रोधादि विकार-परंपराका प्रारंभ हो जाता है। इसीलिए वचनकारोंने सर्वार्पणका मार्ग सुझाया है। अपने भोगोंको भी ईश्वरार्पण कर दो। उन्हें भी ईश्वरका प्रसाद मानकर स्वीकार करो। उन्हीके शब्दोंमें कहना हो तो, अधरकी रुचि और उदरका सुख यदि लिंगार्पण न हो तो विष समान हैं। वचनकारोंने भगवानको अनर्पित भोग स्वीकार करनेका विरोध किया है। इंद्रिय-निग्रह अथवा मनोजय, यह शब्द देखनेमें छोटे-से दीखते हैं। किंतु इनका अर्थ गहरा है। इन्हीं दो शब्दोंमें नीतिशास्त्रका रहस्य भरा हुआ है। नीतिशास्त्रका उद्देश्य क्या है? नीतिशास्त्रका उद्देश्य व्यक्तिको उच्च, उच्चतर तथा उच्चतम स्थितिका आनंद प्राप्त करा देना और समाजमें सुख-शांति तथा सुस्थिरताका निर्माण करना है। किसी भी समाजके लोग उसी सीमातक उच्च, उच्चतर और उच्चतम आनंद प्राप्त कर सकेंगे जिस सीमा तक उस समाजके जितने अधिक लोग इंद्रिय-निग्रह तथा मनोजयमें सफल हुए हैं। जिसने अपनी इंद्रियोंको तथा मनको जीता है वही विश्वमें होनेवाली घटनाओंकी ओर साक्षी रूपसे देख सकेंगे। तटस्थ दर्शक होनेके लिए मनो-विजय अत्यंत आवश्यक है। वचनकारोंने सर्वत्र इसका विवेचन किया है। उन्होंने सुख-दुःख, मान-अपमान आदि शांत-भावसे, समदृष्टिसे सहन करनेकी शिक्षा दी है। उन्होंने लिखा है, कोई अविचारसे तुम पर पत्थर फेंके अथवा प्रेमसे फूल, दोनोंको एक-सा मानकर अपना कर्तव्य करो। यदि कोई हमारी गलतियां बतादे तो हमें क्रोध नहीं करना चाहिए, वरन् शांत-भावसे उसका विचार करना चाहिए। उन गलतियोंको सुधारना चाहिए। सुधारनेका प्रयास करना चाहिए। शारीरिक क्रोध अपने बडप्पनका शत्रु है। मानसिक क्रोध ज्ञानका हनन करता है। घरमें सुलगी

हुई आग पहले अपने घरको जलाकर ही फिर दूसरोंके घरको जलाती है, वैसे ही क्रोध पहले क्रोधीको जलाता है। पहले अपनेको मिटाकर फिर दूसरोंको मिटाने जाता है।

वचनकारोंकी नीति धर्माभिमुख नीति है। अर्थात् व्यक्तिगत तथा सामूहिक अभ्युदय और निःश्रेयसकी सहायक। सर्वसामान्य प्रवृत्तियोंको सीमित करके निवृत्तिकी ओर ले जाने वाली नीति है। उनके सामाजिक विचार भी क्रांतिकारी हैं। समन्वयकारी हैं। समाज क्या है? समाजका अर्थ क्या है? समाजके विषयमें विचार करने पर लगता है कि समाज देश, भाषा, जाति, धर्म, समान हिताहित आदिके कारण बने हुए अलग-अलग संघोंका महासंघ है। इन सब संघोंमे तथा संघोंके सदस्योंमें सौहार्द हो, शांति हो, स्थिरता हो, स्वस्थ संबंध हो, इसी विचारसे समाजके नियम बनाये जाते हैं। इसी विचारसे उसमें आवश्यक परिवर्तन किये जाते हैं। वचनकारोंके कहे हुए नियमोंका अध्ययन करने पर यही लगता है कि वह संघटन-चतुर थे। सामाजिक संघटनको खोखला बनानेवाले दोष कौन-से हैं, इनका उन्होंने विचार किया है। ऊंच-नीचका कृत्रिम भाव ही समाज संघटनको ध्वस्त करने वाला है, अर्थात् उन्होंने उसका विरोध किया। उन्होंने कहा है कि सब ऋषियोंकी ओर देखो! वह किस सत्कुलमें पैदा हुए थे? वह सब भगवानके शरण गये, इसलिए तर गये। जो एक बार भगवानकी शरण गया, भगवद्रूप होगया। शिवशरणोंका कोई कुल नहीं है रे! वह सब एक कुलके हैं। वह कुल शिव-कुल है। इसी प्रकार उन्होंने समताका प्रचार किया। संकीर्णताके विरोधमें आवाज उठायी। गुणग्राहकता, उद्योगशीलता, समान आदर्श, संस्कृति आदिका विकास किया। भारतके समाजोंमें सदियोसे अनेक प्रकारकी जाति-उपजातियां हैं। उनमें ऊंच-नीचका भाव है। तज्जन्य वैमनस्य है। विरोध है। उससे नित सिर फूटते हैं। हो सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाय तो किसी कालमें उसकी आवश्यकता रही हो। किंतु समयके साथ उसकी आवश्यकता समाप्त हो गयी। जाति-भेदकी आवश्यकता मिटी, किंतु उसकी बुराई नहीं मिटी। उससे समाजमें जो फूट पड़ी वह नहीं मिटी। उच्च मानी जानेवाली जातियोंमें वृथा अभिमान, दुरभिमान, दूसरों पर प्रभुत्व जमानेकी भावना आदि दुर्गुण पनपे। नीच मानी जानेवाली जातियोमें दास्यभाव पनपा। चाहे जो अन्याय सहन करनेकी स्वाभिमानशून्यता खिली। आत्मविश्वास मिटा। समाजकी सामूहिक कर्तृत्व शक्तिका ह्रास होता गया। कृत्रिम विषमताके कारण मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि बढ़ता गया। यह देखकर वचनकारोंने समानताका संदेश सुनाया।

उन्होने कहा जन्मगत योग्यता व्यर्थ है। कर्मगत योग्यता ही सच्ची योग्यता

है। मोक्षमार्गमें ब्राह्मणसे चांडाल तक सब एक हैं। भक्ति-सूत्रकारोंने तथा आगमकारोंने जो बात कही थी, उन्होंने जो परंपरा निर्माण की थी, उसको सामूहिक तौर पर आचरणमें लाकर दिखाया। उनके सिद्धांत पर उन्होंने प्रयोग प्रारंभ किये। प्रथम उन्होंने लोगोके सामने साक्षात्कारका उच्च आदर्श रखा। यदि आंखोंके सामने कोई निश्चित आदर्श न हो सो 'प्रगति'का कोई अर्थ ही नहीं ! प्रगति किस ओर ? प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी दिशामें प्रगति करता जाएगा, और समाज विच्छिन्न हो जाएगा। सामूहिक प्रगतिके लिए सामूहिक आदर्श चाहिए। इसलिए वचनकारोंने सर्वप्रथम समाजके सामने अत्यंत उत्साह-से एक सामूहिक आदर्श रखा। केवल शाब्दिक आदर्शसे काम नहीं चलता। उस आदर्शको प्राप्त करनेकी परिस्थिति भी निर्माण करनी चाहिए। उसके लिए आवश्यक साधनाक्रम भी चाहिए। उसके अनुकूल विचार मालिका भी चाहिए। उन विचारों पर निर्भयतासे आचरण करनेकी क्षमता भी चाहिए। वचनकारोंने इन सब बातोंका प्रयास किया। अपने विचारोंको निर्भयतासे, किंतु उतने ही नम्र बनकर आचरणमें लानेवाले लोग ही समाजके नेता बन सकते हैं। वचन-कारोंने भी यही किया। अनुभव-मंटपके साधक केवल विचारोंको कहकर ही चुप नहीं रहे। कथनीके अनुसार करके दिखाया भी। इस प्रकार उन्होंने एक अच्छे समाजकी नींव रखनेमें एक कदम आगे बढ़ाया। एक निश्चित आदर्श, एक ही इष्टदेव, एक ही प्रकारकी दीक्षा, एक ही एक मंत्र, अनेक प्रकारके साधना-मार्गोंका एक विशिष्ट प्रकारका समन्वय, वैसा ही बंधुत्व आदि बातोंसे अनेक जातियोंके संगठनसे शक्तिशाली संघटन बनाया। वह एक विशाल साधक-परिवार बना। सब भक्ति-साम्राज्यके बंधु बने। शिव-दीक्षारत सब एक ही घरके है। एक ही कुटुबके हैं। इस भावनाका उत्कट विकास किया। "समाज-हितका प्रत्येक कार्य ईश्वर पूजा है," यह भाव भरा। सेवा कार्यके विषयमें जो उच्च-नीचका भाव था उसको मिटाया। समाजके प्रत्येक सदस्यको अपने श्रमसे अपनी रोटी कमानी चाहिए, ऐसे कायक-सिद्धांतका प्रचार किया जिससे उनकी साधना उज्ज्वल हो। उनमें परोपजीवित्व न आये। वह पर-प्रकाशित न बने। इससे कई मूलभूत उद्योगोंका महत्त्व बढ़ा। मोक्षके लिए घर-द्वार छोड़ देना चाहिए, गेरुए कपड़े पहनने चाहिएं आदि भ्रम मिटा। उन्होंने कहा, प्रामा-णिकतासे कमाया हुआ कायक ही लिंगार्पण करने योग्य है। लिंगार्पित प्रसाद' ही अमृतान्न है। सत्य-शुद्ध कायक चित्तको नहीं उलझा सकता। नित्यका कायक नित्य लिंगार्पण होना चाहिए। संग्रह नहीं करना चाहिए। नियमित कायकके अलावा आशासे किया हुआ धन-स्पर्श पाप है। वह साधनाके लिए कलंक है। इस तरहके विचार और इन विचारोंके आचारसे समाजमें नये

जोशंका निर्माण हुआ। समाजके लोगोंको अपने नेताओं पर विश्वास जमा। किसी भी समाजमें स्त्री-पुरुष विषयक संबंध एक जटिलतम समस्या है। स्त्री-पुरुषके संबंधके विषयमें वचनकारोंने अत्यंत मननीय विचार व्यक्त किये हैं। वह स्त्रियोंको पुरुषोंके समान मानते हैं। वह स्त्रीको जगदंबाका रूप मानते हैं। इस तरह वह समाजमें नयी भावनाको जन्म देते हैं। उस समयमें समाजमें गिरा हुआ स्त्रियोका स्थान-मान ऊंचा उठानेमें उन्होंने महानतम प्रयास किया है। भारतीय इतिहासमें हम अक्क महादेवी जैसी महान् स्त्री रत्न उसी कालमें देख सकते हैं। वचनकारोंके सामाजिक विचार भी समाज तथा व्यक्तिकी ऊपरकी पोशाकको फाड़ करके अंदरकी आत्माको देखना सिखाते हैं। उन्होंने कहा 'अरे! हम सब एक ही ईश्वरकी संतान हैं। इसलिए हमारा बंधुत्व स्वाभाविक है। भाई-भाईमें कौन ऊंचा और कौन नीचा है? ऊपरका शरीर स्त्रीका हो या पुरुषका। ब्राह्मणका हो या चांडालका। उनके मन, प्राण तथा आत्मामें भी यह भिन्नता है क्या?' फिर वे जाति-पांतिके समर्थकोंको ललकार कर चुनौती देते हैं 'अरे! आत्माका कुल कौन-सा है, यह बताओ रे!!' एक हजार साल पहले से जो उन्होंने चुनौती दे रखी है, उसको आज भी किसीने स्वीकार नहीं किया है। समग्र मानव कुलको एकताके सूत्रमें पिरोनेका वचनकारोंका यह प्रयास स्तुत्य है। आज भी समाजकी उच्च-नीच जातियां, उनमें पाया जानेवाला विद्वेष, फूट, यह सब भारतीय समाजको सड़ा रहे है। आजके नेता इसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। फिर भी आजके वैज्ञानिक ढंगसे काम करनेवाले हमारे नेताओंकी आवाजमें, उनकी पुकारमें वह दर्द नही दीखता। वह टीस नहीं दीखती। उनकी बातमें वह शक्ति नहीं दीखती। उनकी पुकार सुननेवालेके हृदयको नहीं चुभती। वहां कोई विशेष हलचल नहीं पैदा करती। कहते हैं, मानव-जीवनका रहस्य उसके मस्तिष्कमें नहीं किंतु उसके हृदयमें हैं। आपसकी फूटसे बार-बार अपनी स्वतंत्रताको खोकर निर्जीव बने हुए समाजको एकताके सूत्रमें पिरोनेके लिए 'अरे! हम सब एक ही ईश्वरकी संतान हैं। भाई-भाई हैं। भाइयोंमें ऊंच-नीच कैसा? भाइयोंमें संघर्ष कैसा?' यह बंधुत्वका भाव अमृतमय है। कहते हैं, "सच्चा और उच्च कोटिका साहित्य समग्र मानव-समाजके हृदयके तार एक-सा झंकृत करता है।" एक हजार साल पहले लिखे गये इस साहित्यका यह आह्वान है, 'हम एक ही ईश्वरके पुत्र हैं। भाई-भाई हैं। आओ! गले मिलें। भाई-भाईकी तरह प्रेमसे मिलें।" यह प्रेम भरा संदेश, जाति, कुल, भाषा आदि-सभी दीवारोंको तोड़कर विश्व-बंधुत्वके निर्माणके लिए पर्याप्त है। समग्र मानव-कुलको बंधुत्वके सूत्रमें पिरोनेके लिए आज भी उतनाही शक्तिशाली है जितना एक हजार साल पहले था। आज भी वह उतना ही नया है जितना उन दिनोंमें

था। यह नित्य नूतन है क्योंकि उसके अंदर सत्य है और सत्य सदैव नित्य-नूतन रहता है। यह नित्य नूतनता ही उसके सनातन होनेका प्रमाण है।

समाजमें सदियोंसे जड़ जमाये हुऐ जाति-भेद को यकायक संपूर्णतया मिटाना असंभव था। उन्होंने अपना ही एक नया समाज बना लिया। वह उनका साधक परिवार था। समाजके सामने रखे हुए उनके विचार और आचारका सुंदरतम प्रात्यक्षिक था। इससे जन सामान्यमें उत्साहकी लहर दौड़ गयी। समाजने उसका सुंदर परिणाम देखा। नित्य हजारोंकी संख्यामें आकर लोग दीक्षा लेने लगे। वचनकारोंने कहा, दीक्षा आगकी चिनगारी-सी है। जहां पड़ी वहांका कूड़ा-कर्कट राख हुआ समझो! चाहे कोई ब्राह्मण हो या चांडाल, एक बार शिवकी शरण गये कि स्वयं शिव-स्वरूप हो गये। फिर न जाति है न कुल और न गोत्र। सब शिवकुलके हैं। सती और पति दोनों सम्मिलित रूपसे दीक्षा लेंगे, तो वह शिवको अधिक रुचेगा। आंखे दो होने पर भी जैसे दृष्टि एक ही है वैसे ही पति और पत्नी दीखनेमें दो होने पर भी उनका हृदय एक होता है। इस प्रकारके विचारोसे उन्होंने समाजमें स्त्री और पुरुषमें जो अंतर था उसको मिटाया। सामाजिक समता और सामूहिक सहयोग, यह उनके समाजकी बुनियाद है। इस बुनियाद पर रचे गये समाजमें नये आदर्शका बीजारोपण किया। उन्होंने इसका यत्किंचित् भी विचार नहीं किया कि पूर्व-परंपरा क्या है? किस ग्रंथमें क्या लिखा है? उस समयकी रीति-नीति क्या थी? उन्होंने ग्रंथस्थ पांडित्यका विचार नहीं किया। उन्होंने स्वानुभवके अमृत-बिंदुको ही पर्याप्त समझा। अपने आंतरिक अनुभवको ही गुरु माना। सर्वार्पणसे अंतर-बाह्यको शुद्ध कर लिया। और लोक-हितसे प्रेरित हो करके समाजका नेतृत्व किया उन्होंने निरपेक्ष भावसे कर्म करनेवाले कर्म-योगियोंका आदर्श समाजके सामने रखा। उन्होंने कहा, यह संसार मिथ्या नहीं हैं। विवर्त नहीं है। यह सत्य है। जबतक हम इस संसारमें हैं विश्वात्मासे समरस होकर जीवन बिताना श्रेष्ठतम आदर्श है। इसलिए परमात्माने अपनी इच्छासे तुम्हें जो कुछ दिया है उसको शिवार्पण करो। उसका प्रसाद मानकर ग्रहण करो। वह तुम्हें जैसे रखता है वैसे रहो। अपने सामने जो कर्म आता है वह स्वकर्म करो। उसी कर्ममें विलीन हो जाओ। यही जीवनका सर्वोच्च आदर्श है। यह आदर्श वचनकारोंने अपने नये समाजके सामने रखा। इसमें संशय नहीं कि इस आदर्शको आचरणमें लाना आसान नहीं था। किंतु वह आदर्श ही क्या जो हाथ उठाते ही हाथ लग जाय? उनका आदर्श कठिन था, किंतु पूर्ण था। न तो वह संन्यास-मार्ग है; न संसार मार्ग। वह अभ्युदय प्रधान निःश्रेयस है। अथवा निःश्रेयसाभिमुख अभ्युदय। वह भुक्ति और मुक्तिका समन्वय करनेवाला मार्ग था। वह करके भी न

करनेका-सा, बोलकर भी न बोलनेका-सा, भोगकर भी न भोगनेका-सा, निराभार, अनासक्त जीवनका सुंदर पाठ पढ़ानेवाला मार्ग था। वह सतत कर्म करनेका उत्साह और प्रोत्साह देता है की किंतु समर्पणसे कर्मका थकान उतरती है। वह किसी भी भोगसे भागनेकी कायरता नहीं सिखाता किंतु उस भोगको ही परमात्माका प्रसाद बनाकर भोगकी मादकतासे बचाता है। साधकको नम्र बनाता है। वह किसीको भिक्षा मांगनेका अधिकार नहीं देता। संन्यासीको भी वह भिक्षा मांगनेके अधिकारसे वंचित करता है। वह सबके लिए कायक अनिवार्य मानता है। किंतु वह कायक प्रामाणिक हो। समाज हितकारी हो। कायकमें कोई उच्च-नीचका भाव है ही नहीं। अपना प्रामाणिक लोक हितकारी कायक नित्य नियमित रूपसे शिवार्पण हो। वचनकारोंने जो सामाजिक जीवनका आदर्श सामने रखा है वह शिवार्पित, भक्तिपूर्ण, निष्काम, नीतियुक्त कायक द्वारा लोक-हितके अनुकूल व्यक्ति-विकास है।

वचनकारोंका सामाजिक आदर्श और सामाजिक विचार देखनेसे उनकी कल्पनामें जो समाज था उसका सुंदर चित्र हमारी आखोंके सामने आता है। वह ऐसी समाज-रचना चाहते थे कि समाजमें रहकर लोग मोक्षकी साधना कर सकें। उनके समाजके सदस्य स्वाभाविक रूपसे मोक्षार्थी हों। समाजका वातावरण केवल स्वांतःसुखाय न हो, जनहिताय भी हो। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करे कि मै जिस समाजमें हूं वह मेरी तपोभूमि है। मेरे समाजके सब सदस्य मेरे आध्यात्म-बंधु हैं। समग्र समाज साधक परिवार हो। यही धर्म-मोक्षाभिमुख काम-अर्थ-साधना है। यही निःश्रेयसाभिमुख अभ्युदय है। यही धर्ममय जीवन है। जिससे व्यक्ति-विकासके साथ ही साथ सामूहिक जीवनका सर्वांगीण विकास हो। जिससे मानव, मानवकी मर्यादाका अतिक्रमण करें, और न केवल दिव्यत्वकी सीमामें प्रवेश पा जायं अपितु दिव्यत्वके हृदय को भी पा जायं।

तुलनात्मक अध्ययन

अब तक साहित्य, तत्वज्ञान, धर्म और नीतिकी दृष्टिसे वचन-साहित्यका विवेचन किया गया। अब थोड़ा-सा यह भी देखलें कि अन्य संतोंने भी क्या कहा है ? कन्नड़ वचनकार संत थे। सत्पुरुष थे। सत्यकी खोज करने वाले साधक थे। सत्यका साक्षात्कार किए हुए अनुभावी थे। भिन्न-भिन्न देश, काल, परिस्थितिमें उन जैसे अनुभावियोंने क्या कहा है ? क्या उन सबमें समानता है ? यह भी देखें। वस्तुतः यह विषय अत्यंत विशाल और गहरा है। इसी एक विषय पर कई ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। उनके जीवन, उनका साध्य, उनकी साधना-पद्धति आदिका तुलनात्मक अध्ययन अत्यंत आकर्षक हो सकता है। किंतु हमारा यह अध्ययन अत्यंत सीमित है। केवल उन संतोंके वचनों तक ही है। वह भी इस पुस्तकमें जो विषय आए हैं, उन विषयों तक ! जैसे परमात्माका वर्णन, साक्षात्कार, जिज्ञासा, निष्काम भक्ति, नीति-नियम, सत्संग, गुरु-कृपा, समदृष्टि आदि विषयों तक। देश, काल, भाषा, आदिकी भिन्नता होने पर भी वस्तुतः संतोंका अनुभव एक है। वैसे तो समग्र मानव-कुल एक है। मानव मात्रका स्वभाव एक है। प्रत्येक मनुष्य सत्यको चाहता है। सुख चाहता है। जिस किसीने सत्यका दर्शन किया, शाश्वत सुखको पा लिया, उसका अनुभव एक होना स्वाभाविक है। किसी भी कालमें और किसी भी भाषामें, किसी भी देशमे और किसी भी शैलीमें कहा गया सत्यका अनुभव एक होना अनिवार्य है। हो सकता है कि भाषा, शैली, देश, काल, परिस्थिति वश उसका बाहरी रूप भिन्न हो। पोशाक भिन्न हो। किंतु 'अनुभव-अंतःकरण' एक होना स्वाभाविक है। यदि हम अपने संकुचित अभिमानके पर्देको, जो सत्यका सम्यक् दर्शन होने नहीं देता, हटालें तो हमारा निर्मल अंतःकरण अनुभव करेगा कि संतोंके वचनोंमें एक ही आत्म-संगीत गूंज रहा है। वह सबको अपने स्वर से स्वर मिला कर दिव्य विश्व-संगीतमें सम्मिलित होनेका निमंत्रण दे रहे हैं। इस आत्म-संगीतकी रागात्मिकताका बोध करा लेना ही इस अध्यायको लिखनेका मूल उद्देश्य है।

कन्नड़ वचनकारोंका परमात्मा अवर्णनीय है। वाङमनको अगोचर है। वह नित्य है। सत्य है। अंतर-बाह्य व्याप्त है। ईशावास्योपनिषदमें कहा है, "वह न दूर है न पास, वह सर्वांतर्यामी है। शुद्ध है। सर्व व्यापी है। (मं० ५. ८.) कठोपनिषदका परमात्मा भी अशब्द है। अस्पर्श है। अरूप है। अरस

है। अगंध है। अव्यय है। नित्य है। अनादि अनंत हैं। (क० अ. १ व ३. मं १५)। मंडूकोपनिषदमें भी वह न अंतः प्रज्ञ है और न बहिप्रज्ञ। उभय प्रज्ञ भी नहीं हैं। अदृश्य है। वह अग्राह्य है। अचिंत्य है। केवल आत्मानुभवसे ही जाना जा सकता है। (मं. ७) छांदोग्यमें भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। बृहदारण्यक भी उसको अमृत, अदृष्ट, अश्रुत आदि कहता है। 'नेति नेति' कहता है। गीताका सार भी यही है–वह 'अनादिनम् परं ब्रह्म'से लेकर, 'ज्ञाने ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्वधिष्ठित' (गीता १३–श्लो. १२–१७) तक है। सब ज्ञानियोंने इसी विरोधाभासके ढंगसे काम लिया है। किंतु भक्तोंने दूसरा रास्ता अपनाया है। ज्ञानियोंने उसको निर्गुण कहा तो भक्तोंने सगुण। भक्तोंने कहा है, वह कृपामय है। दयामय है। भक्तवत्सल है। आनंदमय है। किंतु उन्होंने भी परमात्माका, अर्थात् आत्यंतिक सत्यका वर्णन करते समय वचनकारोंकी भाषा-का ही उपयोग किया है। जैसे महाराष्ट्रके संत मंडलके गुरु-रूप श्री ज्ञानदेवने सत्यका वर्णन करते समय कहा है, "दिवस और रातके उस पार, भले और बुरेके उस पार ····· सब प्रकारके द्वंद्वोंसे उस पार जो शाश्वत ज्योति रूप प्रकाशित है"—आदि कहकर अंतमें यह प्रश्न किया है, "एकाकी और अव्यय होनेसे वह भी क्या प्रकाशेगा ?" ऐसा ही सेंट अगस्टाइनने कहा है, "परमात्मा-का अर्थ ही सत्य है। सत्य ही परमात्मा है। वह सर्व व्यापी है।" इसी प्रकार महाराष्ट्रके एक और संत एकनाथ महाराजने कहा है, "सत्य तेंचि पर ब्रह्म !" हिंदी संत रामानंदजी कहते हैं, "जहाँ जाइये तहं जल परवान। तू पूरि रह्यो है सब समान।" गुरु नानक भी कहते हैं, "सर्व निवासी सदा अलेपा तोहे संग समाई।" रैदासने "सब घट अंतर रमसि निरंतर" कहा है। तथा श्री तुलसी दासने "तुलसी मूरति रामकी घट-घट रही समाय। ज्यों मेहंदीके पातमें लाली लखी न जाय।" कहा है। तुलसीदासजीने उस परमात्म-तत्वको जो मेहंदीके पातमें न लखी जा सकने वाली लालीके समान व्याप्त रहता है "राम" कहा है और वचनकारोंने उसी तत्वको 'शिव' कहा है। परमात्म-तत्त्व मनुष्यकी बुद्धि, वाङमनको अगोचर है। वेद आगमादिके हाथ न लगने वाला है। कितना ही प्रयास क्यों न करें, वह अंतर-मनको भी नहीं सूझता। सूझने पर भी समझमें नहीं आता। समझमें आने पर भी समझाया नहीं जा सकता। मेंहदीके पातमें जो लाली छिपी होती है, वह दीख नहीं सकती, किंतु पीसने पर प्रत्यक्ष होती है, वैसे ही उस एक रस अखंड सत्य तत्वका साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार-से उसका अनुभव करना होता है। इसके अलावा दूसरा चारा ही नहीं। इस लिए संतोंने साक्षात्कारका मार्ग अपनाया। उस मार्ग पर वे चले। साक्षात्कार-का अनुभव किया। और लोगोंको वही मार्ग बताकर कहा, "आइए, हम सब

उसका साक्षात्कार करें।"

अदृश्य और अगोचर सत्यके विषयमें साक्षात्कार ही प्रत्यक्ष प्रमाण है जैसे दृश्य वस्तुओंके बारेमें प्रत्यक्ष देखना ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। "प्रत्यक्ष प्रमाण" हजार आप्त वाक्योंसे श्रेष्ठ है। जैसे "आग जलाती है," यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। लाख तर्क अथवा श्रुति-स्मृतियोंके आप्त वाक्य इसे झुठला नहीं सकते वैसे ही संतोंका साक्षात्कारका अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह श्रुति वाक्योंसे भी नहीं झुठला सकते। और साक्षात्कार कोई स्वप्नका-सा वृत्ति रूप नहीं होता। क्षणिक नही होता। वह जीवनकी बद्ध-मूल स्थितिरूप बन जाता है। तन, मन, प्राण, भाव आदिमें व्याप्त हो जाता है। वचनकारोंने कहा है, इस प्रकारका साक्षात्कार आत्यतिक सत्यकी कसौटी है। उनका कहना है कि साक्षात्कारसे साधक निःसंदेह होता है। उसका साधना-पथ निश्चित होता है। उसका धन्य-भाव जागता है। साक्षात्कारसे जीवन कृतार्थ हो जाता है। वचनामृतके छठवें और सातवें अध्यायमें इस विषयके वचन हैं। साक्षात्कारमें द्वंद्वातीत निर्गुण परब्रह्मका साक्षात्कार सर्व श्रेष्ठ है। वही अंतिम पद है। कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर पाता। वह सात्क्षाकार निर्विकल्प समाधिमें होता है। ऐसे साक्षात्कारका अनुभव अवर्णनीय है। अनिर्वचनीय है। इसके अलावा भी किसीको तेजोरूपका, किसीको अनहद ध्वनिरूपका, किसीको सूक्ष्म-स्पर्श-रूपका साक्षात्कार हो सकता है। साधना-पथमें साक्षात्कार सर्वोच्च स्थिति है। भक्ति, ज्ञान, सत्संग, शास्त्रार्थ आदिसे यह अनुभव श्रेष्ठ और परेका है। स्वानुभवका सुख वर्णनातीत सुख है। उससे होनेवाला अनुभव अनुपमेय हैं। वह एक दिव्य दर्शन है। साक्षात्कारीको एक प्रकारका दिव्य ऐक्यानुभव होता है। वह 'समरस सुख' में डूबा रहता है। वह सुख-दुख, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि द्वंद्वोंसे परे हो जाता है। वह सब बंधनोंसे मुक्त रहता है। अलिप्त रहता है। यह वचनकारोंका अनुभव है। उपनिषद्कारोंका अनुभव इससे भिन्न नहीं है। ईशावास्य उपनिषद्का ऋषि कहता है, "तुम्हारा कल्याण तम-तेजो-रूप मैं देखता हूं। वहां दिखाई देनेवाला पुरुष भी मैं ही हूं" (मं. ७) यह साक्षात्कारीकी भाषा है। सबसे परे जो आनंद मय कोश है उसका अतिक्रमण होते ही यह भाषा प्रारंभ होती है। ऐसे ही तैत्तरीय उपनिषद्का ऋषि भृगुवल्लीके दसवें अनुवाकमें मस्त होकर गाता है, "मैं ही अन्न हूँ। मैं ही कवि हूँ। मैं ही अमृत कोश हूँ। मैं ही वह स्वर्ण ज्योति हूँ।" साक्षात्कारी सदा आत्मरत होता है। आत्मक्रीड़ामें मग्न रहता है। छांदोग्य उपनिषद्के सातवें अध्यायके पच्चीसवें खंडमें उसका वर्णन है, "जैसे घोड़ा अपने बदनकी धूल झाड़ देता है वैसे वह अपना पाप झाड़ देता

है। राहुके मुखसे मुक्त चंद्रमा जैसे प्रफुल्ल बनता है वैसे वह प्रफुल्ल रहता है।" बृहदारण्यकका ऋषि भी यही कहता है, "देवोंकी तरह यह सब मैं ही हूं, ऐसी भावना होती है।" उस स्थितिका आनंद अद्भुत है। उस स्थितिमें पहुंचने पर न मां मां रहती है न बाप बाप; और न भगवान ही भगवान रहता है। वह तो सब प्रकारके द्वैत-भावसे परे हो जाता है। उस स्थितिमें हृदयके सब शोक, मोह आदि नष्ट हो जाते हैं, लय हो जाते है। वह पुण्यानंदमें डूबा रहता है। यही जीवनकी अत्युच्च स्थिति है। इस विषयमें प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोने कहा है, "अन्य शास्त्रोंके साक्षात्कारमें अनुभव आने वाले सत्यका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा आध्यात्मिक शास्त्रके साक्षात्कारमें अनुभव आने वाले सत्यका वर्णन नहीं किया जा सकता। यदि यह संभव होता तो मैं जीवन-भर वही काम करता रहता। उसका वर्णन करनेसे अधिक अच्छी बात और कौन-सी हो सकती है?" उसके बाद प्लेटोके तत्वज्ञानका पुनरुज्जीवन करने वाले उनके शिष्य प्लोटीनसने कहा है, "यदि जीवको एकमेवावद्वितीयके साथ एक रस होनेका अनुभव एक बार आया कि ··· वही जीव शिवैक्य कहलाता है।·· ··· वहां सौन्दर्यकी प्रतीति भी नहीं होती। क्योंकि वह उससे भी परे पहुंचता है। सद्गुणोंके संगीतका भी वह अतिक्रमण कर जाता है। वह ईश्वर भावाविष्ट हो जाता है। पर शांतिका अनुभव करने लगता है। वहां चांचल्यकी एकाध तरंग भी नहीं होती। तब 'मैं' नामका भान भी नष्ट हो जाएगा। वह मूर्तिमंत स्थिर होकर रहेगा।" स्पेनमें एक ईसाई साधु हो गये हैं। उनका नाम है सेंट जॉन ऑफ द क्रॉस। उन्होंने कहा है, 'प्रेम सूत्रसे जीव और शिव इतनी दृढ़तासे बंध जाते हैं कि वह दोनों एक हो जाय। तत्वतः वह दो होने पर भी उस स्थितिमें जीव शिव और शिव जीव अभिन्नसे हो जाते हैं। उनकी अभिन्नता-सी अनुभव होती है।" टॉलर नामके अनुभावीने कहा है, 'सोपाधिक जीव परिवर्तित होते-होते अंतर्यामी हुआ कि उस निर्मल आत्मामें परमात्माका प्रत्यक्ष अवतरण होता है।" सेंट अगस्टाइन नामके और एक अनुभावीने अपने अनुभवको सुंदर शब्दोंमें चित्रित किया है—"बायबिलके एक विशिष्ट अंशके पढ़ते ही एक शांत तेज मेरे हृदय गह्वरमें प्रवेश कर गया। युग-युगांतरसे वहां मडराने वाले संशयोंके बादल सब छंट गये। हमारे इंद्रियोंके अनुभवमें आनेवाले परमावधिक आनंद भी उस आनंदके नाखून पर न्योछावर हो सकते हैं। इतना ही नहीं, किसी भी शब्दसे उस आनंदकी तुलना करना बड़ी भूल होगी। सहस्र स्वर्गोंका सुख भी उसके सामने तुच्छ है। वह सुख केवल परमात्माके अंतःध्यानसे ही संभव है। उस स्थितिमें वही परशिव, जीवको सत्य-ज्ञानका अमृतान्न खिलाकर संतुष्ट करता है।····" ऐसा ही एक जर्मन दार्शनिकने कहा है, "मैं जीवात्मा हूँ, यह

भूल कर विश्वात्मामें विलीन होनेके आनंदसे बढ़ कर दूसरा कोई आनंद है ही नहीं ।"

अन्य अनेक धर्मोंकी तरह इस्लाम धर्ममें भी अब तक कई अनुभावी हो गये हैं। उसमें सूफी फकीर प्रसिद्ध हैं। सूफियोंमें सादी हाफिज, जामि, उमर खय्याम आदि प्रसिद्ध हैं। यह सब ग्यारहवीं सदीसे सोलहवीं सदी तक हो गये हैं। औरंगजेबके कालमें सरमद नामका एक फकीर था। गुस्सेमें आकर औरंगजेबने उसको मरवाया। मरते समय उसने हंसते हुए कहा, "मेरे यारोंने मजाकसे मेरी गर्दन उड़ाई। इससे मेरे दिमागमें जो सड़ियल खयालात जमा हुए थे वह भी खतम हो गये !!" और वह खुशी-खुशी कातिलोंके सामने सिर झुकाकर बैठ गया। इन सूफियोंके चरित्र बड़े उज्ज्वल हैं। किंतु यहां उनके चरित्र नहीं देखने हैं। उनके साक्षात्कारके अनुभव देखने हैं। इस विषयमें उमर खैयाम कहते हैं, "उस परम तेजसे अपना मन-भरा हुआ मैंने देखा। अहा ! उस प्रकाशने-वाले प्रकाशसे उसका सब रहस्य मैंने देखा। तोभी क्या ? ज़रा सोचकर देखा तो मैं कुछ भी नहीं जानता।" उसी प्रकार बेदिल नामका एक फकीर बड़े सोच-संकोच से 'रुक-रुककर' कहता है, "मैंने रुक-रुककर एक बात कही 'मैंने उसको देखा !' किंतु मैंने उसको जाना ? मैं नहीं जानता।" आत्यंतिक त्यागसे ही साक्षात्कार संभव है यह कहते समय वही बेदिल कहता है, 'जब मैं घर-बार छोड़कर निकला तब जहां-तहां पृथ्वीसे आकाश तक प्रकाश फैला हुआ देखा। उस दिव्य दृश्यको देखनेकी आशा हो तो तू भी आ ! अपना सब कुछ त्यागकर। उस दिव्य प्रकाशमें तू भी नहा ले !" इस्लाम धर्ममें मध्यरात्रिके बाद तीसरे प्रहर जो प्रार्थना की जाती है उसको अत्यंत महत्व दिया जाता है। हाफीजने उसी समयकी प्रार्थनामें हुए साक्षात्कारका वर्णन किया है—"मध्यरात्रि बीतने-के बाद मुझे दुःखसे मुक्ति मिली। उस अंधकारमें किसीने मेरे हाथमें अमृत-पात्र दिया। मेरे सत्यवादी अंतःकरणको वह अमृत मिला। उसके तेजमें मैं बेहोश हो गया। वह कैसा शुभ प्रसंग था ? उसी दिन मुझे मुक्ति-पत्र मिल गया।······ उसी दिन मुझे अमृतान्न मिल गया। तबसे मैं मौतके भयसे मुक्त हो गया।······ प्रेम-मंडलके मध्य बिंदुको मैं स्पष्ट देख रहा हूं। कैसी है वह सुगंध ? मैं रोज रातके समय यह भाग्य पाता हूं। नंदन वनका सुख-सौभाग्य, कल्पवृक्षकी छाया, अप्सराओंका विलास मंदिर, इन सबसे वह सुख अनंतगुना अधिक है। मैं परमात्माका प्रतिबिंब हूं। यह मैं प्रत्यक्ष देखता हूं। इसका मैं अनुभव करता हूं। मन्सूरकी तरह मुझे फांसी पर झूलना पड़ा तो भी मैं अनलहक कहना नहीं छोडूंगा !" जलालुद्दीन नामके और एक फकीरने कहा है, "आत्मानुभवके उस अनंत सागरमें शब्द-मुग्धताही एक आहार है।

मौत ही मार्गदर्शक है ।"

वैसे ही महाराष्ट्रके अनुभावियोंके अनुभव भी कम उद्बोधक नहीं हैं । ज्ञानदेवजी महाराष्ट्रके संतोंके गुरु-स्थानमें हैं । ज्ञानदेवजीके पहले महाराष्ट्रमें महानुभव पंथ था । मुकुंदराय नामके एक संत महात्माने ज्ञानदेवके पहले भी कुछ संत-साहित्य निर्माण किया था । किंतु महाराष्ट्रके अनुभावियोंने ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वरको ही अपने गुरु-स्थानमें माना है । ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, तथा रामदास आदिके वचन बडे उद्बोधक हैं । रामदास और तुकाराम छत्रपति शिवाजीके समकालीन थे और ज्ञानदेव तथा नामदेव तेरहवीं सदीमें हुए। इन सबका ब्रह्मका वर्णनतो उपनिषदोंका मराठी भाषांतर-सा है । अतः उसका विचार अनावश्यक विस्तार है । किंतु साक्षात्कारके विषयमें उनके विचार अत्यंत मननीय हैं । ज्ञानेश्वरी मराठी भाषाका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है । वह गीता पर लिखा हुआ स्वतंत्र भाष्य है । इसके अलावा भी ज्ञानेश्वर महाराजने 'अमृतानुभव' नामसे एक काव्य ग्रंथ लिखा है और अभंग शैलीमें कुछ भजन भी लिखे हैं । ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता पर लिखा हुआ महाभाष्य है । अमृतानुभव वेदांत-विषयक स्वतंत्र ग्रंथ है । और भजन विविध अनुभव हैं । यह सब उपमा-रूपक आदिकी खान हैं । ज्ञानेश्वर महाराजने साक्षात्कारके विषयमें लिखा है, "आत्म-दर्शन होते ही आत्मा-परमात्मामें वैसे ही ऐक्यत्व प्राप्त करेगा जैसे पानी सूख जाते ही पानीमें पड़ा हुआ प्रतिबिंब मूल बिंबमें ऐक्यत्व प्राप्त करेगा ! घड़ा टूटा कि घटाकाश विश्वाकाशमें विलीन हो जाएगा । जलानेके लिए कुछ रहा नहीं कि आग अपने आप बुझ जाएगी । वैसे ही परमात्मा ही आत्यंतिक पद है । वहां पहुंचा कि लौटना असंभव है । तब सब इंद्रियां निष्प्रभ हो जाती हैं । मन अंतःकरणमें विलीन हो जाता है । ध्येय-वस्तु चित्त में स्थिर हो जाती है । इससे परमानंदका अनुभव होता है । परमात्मासे ऐक्यानुभव हुआ कि आनंद-साम्राज्यका स्वामित्व मिला । सहस्रसूर्यके प्रकाश-युक्त चिद्वस्तु चिदाकाशमें प्रकाशमान होगी । साक्षात्कारी आनंद-सरोवरके राजहंसकी तरह लोलायमान होगा ।" ज्ञानदेवने अपनी काव्यात्मक स्फूर्तिसे साक्षात्कारका वर्णन किया है । नामदेवने केवल अभंग लिखे हैं । किंतु उन्होंने अनंत अभंग लिखे हैं । उन्होंने लिखा है, "साक्षात्कारकी सामर्थ्य भगवानकी कृपा ही है । भगवानके अनुग्रहके बिना यह असंभव है । अंतःकरणमें परमात्माका साक्षात्कार हुआ है । इसलिए नामदेव सदैव आनंदमें रहता है । अनंत करोड़ सूर्योंका सम्मिलित तेज अंतःकरणको प्रकाशित करता रहता है । उस तेजके सामने पार्थिव सूर्य-चंद्र फीके पड़ गये हैं । भगवान, नामदेवके पीछे वैसे ही दौड़ते हुए आए हैं जैसे गाय अपनी बछियाके पीछे दौड़ती आती है । अब

अत्यंत निकट साहचर्यके कारण नामदेव ही भगवान हैं, भगवान ही नामदेव हैं ! बादमें एकनाथ महाराज हुए। उन्होंने 'एकनाथी भागवत' नामका ग्रंथ लिखा है। उसमें अद्वैतानुभवका वर्णन है। बसवेश्वरने अपनेमें ऐक्यानुभवके पुलक, स्वेद, कंप, अश्रु, आनंद, गद्गद्, दीर्घ स्वर, आदि जिन गुणोंके अभाव-को अनुभव करके अत्यंत व्याकुलतासे लिखा है, उसीका एकनाथने सुंदर वर्णन किया है। एकनाथने लिखा है, "पुलक, स्वेद, कंप, अश्रु, आनंद, गद्गद दीर्घ स्वर यह सब ऐक्यानंदके लक्षण हैं। उस समय भक्त शतकोटि रोमकूपोंकी आंखें बनाकर वह दिव्य दृश्य देखता है। उस समय समग्र विश्व मानो स्वर्गीय दिव्य पोशाक पहनता है। आंखोंके सामने सतत आत्म सूर्य प्रकाशता रहता है। तब सब पुजापा परमात्माके ही रूपमें परिवर्तित हो जाता है। सब परमात्ममय हो जाता है। उस समय सारा द्वंद्व मिट जाता है।······समाधिका अर्थ होश-का अभाव नहीं है। परब्रह्ममें पूर्ण और निरंतर जागृत रहना ही समाधि है। वह नित्य साक्षात्कार है।" समर्थ रामदासने 'दास बोध' नामका ग्रंथ लिखा है। उस ग्रंथमें उन्होंने साक्षात्कारके विषयमें लिखा है, "उस हालतमें सब पाप लय हो जाएंगे। जन्म-मरणका चक्र नष्ट होगा। संपूर्ण आत्म-समर्पण होनेके बाद परमात्माका निःसंशय ज्ञान होगा। वह ज्ञान ही सबकी गुप्त निधि है। वही सबकी सुखश्री है। वह प्राप्त होते ही साधक आंतरिक आनंदसे संतृप्त हो जाएगा। तब सर्वत्र ब्रह्मका दर्शन होगा। बाहरी चर्मचक्षु मिटेंगे और अंतः-चक्षुओंकी दिव्यदृष्टि खुलेगी। सर्वत्र सत्यका प्रकाश दिखाई देगा। दिव्य दर्शन होगा।" इन सब संतोंमेंसे संत तुकारामने अपने अनुभव अत्यंत विस्तृत रूपमें लिखे हैं। वह तत्त्वतः अद्वैत मानते हैं किंतु वह द्वैत भक्त है। उन्होंने कई बार कहा है, "मुझे अंतिम सांस तक अपना सेवक बनाये रख।" वह जनम-मरण रहित मुक्तिसे भी भवगानका भक्त होकर अनंत बार जन्म लेना अच्छा मानते हैं। उन्होंने हजारों अभंग लिखे हैं। उन्होंने अपने अभंगोंमें लिखा है, "हमें जो अपनत्वका भान है वही अहंकार है। उसी अहंकारके कारण ज्ञान नहीं होता। अहंकार ही ज्ञानकी रुकावट है। तुम यह देखते हो कि जब बच्चेमें अपनत्वका भान होता है मां उसकी फिक्र करना छोड़ देती है।····· पानीका जब एक बार मोती बन जाता है। वह फिरसे पानी नहीं बन सकता। दहीको मथकर जब एक बार मक्खन निकाल लेते है फिर वह मक्खन दही नहीं बन सकता। और जब एक बार साक्षात्कार हो जाता है फिर वह सामान्य मनुष्य नहीं हो सकता।······ भगवान् है, यह बोध होना दूसरी बात है; और उसका साक्षा-त्कार होना दूसरी बात। साक्षात्कार के प्रकाशके बिना सब व्यर्थ है। मैं वह अनुभव चाहता हूं।······ साक्षात्कारका अनुभव वैसा ही है जैसा गूंगेका

अमृतान्न खानेका अनुभव है। वहां संपूर्ण शब्द-मुग्धता है। आत्यंतिक मौनका साम्राज्य-सा।······ 'मैं', 'मै' में से पैदा हुआ। 'मै' 'मै' को देखता हूं। 'मै', 'मेरा' यह मिट गया कि 'वह' दीखता है। वही सब कुछ है, वही सर्वत्र है यह प्रतीति होती है। कर्म, अकर्म, नाम, रूप, सब कुछ मिटकर मैं वही हो गया। ··· वह प्रकाश मुझको ऊपर ले जाता है। अब मैं आत्मकाम हुआ हूं। मैंने उस अरूपके चरण कमल देखे। उसकी कृपासे ही यह दर्शन हुआ। मैं आनंद सागरमे डूबा। दरिद्रको भाग्य मिला। मेरे रोम-रोममें वह आनंद भरा हुआ है। मुझे दिव्योन्माद हुआ है। अब मैं अनिर्वचनीय आनंद अनुभव करने लगा हूं। ··· शाश्वत प्रकाशका उत्सव फूट पड़ा है। गूढ सुंदर घंटा-नाद गूज रहा है। करोड़ों चंद्रमाओंकी शीतल चांदनी छिटक रही है। स्वर्गीय विश्वसे गीतकी ध्वनि मुझे लोरियां गाकर सुला रही है।" उपर्युक्त उपमाएं रूपक, तथा शब्द-चित्र कई वचनकारोके वचनोंसे अक्षरशः मेल खाते हैं। देश, काल, परिस्थिति, भाषा आदिकी भिन्नता होने पर भी निरपेक्ष भावसे आध्यात्मिक साधना करने वाले सब संतोंका अनुभव एक है।

कर्नाटकके संतोंमें दो परंपराएं है। शिवशरण और हरिशरण। शिवशरणोंमें भी वचनकारोंके अलावा भिन्न शैलीमें लिखनेवाले अनुभावियोंकी संख्या कम नहीं है। उनमें सर्वज्ञ, निजगुण शिवयोगी, सर्वभूषण, महालिगरंग आदि प्रसिद्ध हैं। उनका भी अनन्त साहित्य है। वह वचन साहित्यसे भिन्न है। इसके बाद हरिशरणोंका साहित्य। हरिशरण सब द्वैत संप्रदायके हैं। उनका संप्रदाय माध्व संप्रदाय है। हरिशरणोंके साहित्यको 'कीर्तन' कहा जाता है जैसे शिवशरणोंके साहित्यको 'वचन' कहा जाता है। कीर्तन-साहित्यमें भक्ति, गुरु महिमा, नाम महात्म्य, सत्संग, ज्ञान, वैराग्य आदि बातें हैं। इन विषयोंमें वचनकारों और कीर्तनकारोंमें कोई मतभेद नहीं है। ये हरिशरण भी बड़े अनुभावी थे। उन्होंने भी साक्षात्कारके विषयमें लिखा है। उन्होंने लिखा है, "हरिनाम नामकी कुंजीसे आज मेरे अंतःकरणका महाद्वार खुला।" "हाथमें ज्ञान-दीप लेकर देखा तो सर्वत्र भगवानका शृंगार-सदन फैला था। रत्नजटित मंटपके मध्यमें कोटि रवि-तेजसे दैदीप्यमान सच्चिदानंदको देखा। हृदय-कमल पर विराजमान वह दिव्य-रूप मैंने देखा।" "मैंने उस अच्युतको अपनी आंखोंसे देखा। उस भानुकोटि तेजवानको मैंने देखा। मुझे उसके चरणकमलोंका दर्शन हुआ। वह मेरे हृदयमें आकर स्थिर हो गया है।" "भगवानकी पूजा करनेवालों को वह अत्यंत सुलभ है। भूमंडल ही उनका पीठ है। सोम-सूर्य ही दीप हैं नक्षत्र-मंडल ही लक्ष दीपावली है।" आदि शब्दोंसे उन्होंने विराट् पुरुषका

वर्णन किया है। वह वर्णन अद्भुत है। प्रतिभापूर्ण है। अत्यंत स्फूर्त है। वैसे ही हिंदी संतोंका अनुभव भी कम अद्भुत नहीं है। वस्तुतः हिंदी पाठक इससे अनभिज्ञ नहीं है। हिंदी-साहित्यमें साक्षात्कारके अनुभवका अत्यंत सुंदर वर्णन मिलता है। एक जगह कबीर कहते हैं, "अमृतरस चूनेसे जहां ताल भरा है, वहां गगनभेदी शब्द उठता है। सरिता उमड़कर सिधुको सोख रही है। उसका वर्णन करते कुछ नहीं बनता। न वहां चांद है न सूर्य और न नक्षत्र। और न रात है न प्रभात। सितार, बांसुरी आदि बाजे बजते हैं। मधुरवाणीसे राम-राम ध्वनि उठती है। सर्वत्र करोड़ों दीपक झिलमिल-झिलमिल झलकते हैं। बादलके बिना ही पानी बरस रहा है। एक साथ दसों अवतार बिराजते हैं। अपने आप मुखमेंसे स्तुति सुमन झड़ते हैं। कबीर कहते हैं, यह रहस्यकी बात है। कोई बिरला ही वह जानता है।" वैसे ही और एक भजनमें वह कहते हैं, 'इस गगन गुफामें अजर झरै !" "जहां बिना बाजेके ही झनकार उठती है ऐसी गगन गुफासे अजर रस झरता है। जब ध्यान लगाते हैं तभी समझमे आता है। वहां बिना तालके कमल खिलता है और उस पर चढ़कर हंस केलि करता है। वहां बिना चांदके चांदनी छिटकती है और उस चांदनीमें हंस खेलते हैं। कुंजी लगने पर जब दसवां द्वार खुलता है तब वहां जो अलख पुरुष है उसका ध्यान लगता है। कराल काल उसके पास नहीं जाता। काम, क्रोध, मद, मोह आदि जल जाते हैं। युग-युगकी प्यास बुझ जाती है। कर्म, भ्रम, आदि, व्याधि सब टल जाती हैं। कबीर कहते हैं, अरे साधो ! जीव अमर हो जाता है और कभी मृत्युके फंदेमें नहीं पड़ता।" वैसे ही चरणदासजी कहते हैं, "जबसे घोर अनहद नाद सुना इंद्रियां थकित हो गयी हैं। मन गलित हो गया है। सभी आशायें नष्ट हो गयी हैं। जब अमलमें सूरत मिल गयी तब नेत्र घूमने लगे। काया शिथिल हो गयी। रोम-रोमसे उत्पन्न आनंदने आलस्यको मिटा दिया। जब शब्द विलीन हो गये तब अंतरका कण-कण भींग गया। कर्म और भ्रमके बंधन टूट गये। द्वैतरूपी विपत्ति नष्ट हो गयी। अपनेको भूलकर जगतको भी भूल गया। फिर पंचतत्वका समुदाय कहां रह गया ? लोकके भोगकी कोई स्मृति ही नहीं रही। गुणी लोग ज्ञानको भूल गये। शुकदेव मुनि कहते हैं, ऐ चरणदास ! वहीं लीन हो जा। भाग्यसे ऐसा ध्यान पाओ कि शिखरकी नोक पर चढ़ जा।" चरणदास के ऐसे कई भजन मिलते हैं जो साक्षात्कारके दैवी उन्मादमें गाये गये हैं। उनके एक भजन "देस दिवानारे लोगो जाय सो माता होय !" में साक्षात्कारका अद्भुत शब्द चित्र है। हिंदीके निर्गुण भक्ति धाराके अलावा सगुण भक्ति धारामें भी साक्षात्कारका वर्णन मिलता है। श्रीतुलसी-

दासने "जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" कहकर "किसने कैसी-कैसी देखी" इसका वर्णन करते-करते ज्ञानियोने प्रभुको "वदूषन प्रभु विराट्मय देखा षट्मुख कर युग लोचन शीशा" कहा है। मानो वह "विश्वतोमुख विश्वतो बाहु विश्वतस्थात विश्वतो चक्षु:" आदि विराट् पुरुषको देख रहे हों। ऐसे ही गुरु नानकदेवने "गगनमें रवि थालु रवि चंद्र दीपक बने तारिका मंडल जनक मोति" और "धूपु मल आनलो पवगु चवरो करे।" — कहकर विराट् पुरुषकी विराट्पूजा की है। आखिर रहिमनने तो थोड़ेमें अत्यंत सुंदर वर्णन किया है, "प्रीतम छबि नैनन बसी पर छबि कहां समाय। भरी सराय रहीम लखि पथिक आय फिर जाय।" एक बार जब सत्यका साक्षात्कार किया इन आंखोंमें वह बस गया। जहां देखो वहां जो देखो सो, सत्य-दर्शन है। जैसे, कबीर कहते हैं, "खुले नैन पहिचानो हंसि हंसि सुंदर रूप निहारो!" एक नाथ महाराज कहते हैं, "जहां देखौं वहां रामहि रामा।" अथवा "जो देखू वह राम सरीखा" हो जाता है। वही तुकाराम महाराज कहते है, "जहां जाता हूं वहा तू मेरा साथी है। मेरा हाथ पकड़कर चलाता है।" इसके लिए 'मैं' को मिटाना पड़ता है। जैसे कि रहिमनने कहा है, "रहिमन गलि है सांकरी दूजो ना ठहराय आपु अहै तो हरि नहीं हरि तो आपुन नाहीं।" हरिके लिए जिन्होने आपुनको नाहीं किया कि हरि-दर्शन हुआ। एक बार हरिदर्शन हुआ कि उस दर्शनसे दीवाना हुआ। बावला हुआ और अपने आप वह दर्शनानुभव कूकने लगा। क्योंकि हरदमका प्याला जो चढ़ा रखा है! अथवा कबीरके शब्दोंमें "बिना मदिरा मतवारे" बनकर जो 'झूमते' हैं किंतु इन मतवालोंकी सब बातें एक-सी नहीं होती। क्योंकि इसमेंसे कोई अपने इष्ट देवका सगुण साक्षात्कार करता है और उसीसे झूम उठता है। और दूसरा प्याले पर प्याला चढ़ाकर साक्षात्कारकी अंतिम चोटी पर चढ़कर अगम्य, अतीत चिद्रूपका दर्शन करता है। यही आत्यंतिक ध्येय है। इसके अलावा अन्य प्रकारके साक्षात्कार इस दिव्य साक्षात्कारके प्रतिबिंबमात्र हैं। किंतु किसी भी दर्शनको तभी साक्षात्कार कह सकते हैं जब वह सदैव, तथा सर्वत्र आंखोंके सामने स्थिर रूपसे रहता हो। ऐसा साक्षात्कार प्रत्यक्ष होता है। उसके लिए किसी प्रकारके प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। वह किसी प्रकारके बाहरी प्रमाणसे अबाधित हो, वह साधककी काया, वाचा, मनमें ओत-प्रोत हो, तब साधकको उसके विषयमें यत्किंचित् भी संशय नहीं रहता। इन लक्षणोंसे युक्त अंत:स्फुरित अनुभव ही साक्षात्कार कहलाता है। यही वचनकारोंके जीवनसाहित्यकी नींव है। यही उनके जीवनका रहस्य है। इसी प्रकाशमें वचनकार अथवा उनके जैसे अन्य सत्पुरुषोंके आत्मानुभवका यहां ससंक्षेप और सादर

स्मरण किया है। इससे अन्य बातोंको समझनेमें सहायता मिले।

मनुष्य मात्रमें यह अमृतानुभव प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। जब यह इच्छा तीव्र होती जाती है अन्य छोटी-मोटी इच्छाएं क्षय होती जाती हैं। अन्य छोटी-मोटी इच्छाएं क्षय होनेसे वह इच्छा तीव्रसे तीव्रतर और तीव्रतम हो जाती है। और वह व्याकुलतामें बदल जाती है। तब उसे आर्तभाव कहते हैं। जब अपने ध्येयका बिछोह असह्य हो जाता है। उसको विरहावस्था कहते हैं। वह साक्षात्कारकी प्रसव पीड़ा ही समझनी चाहिए। वचनकारोंके वचनोंमें से वह जगह-जगह फूट पड़ी है। कई जगह उनकी आत्मा आर्त होकर चीख उठी है—"सांपके फनकी छायामें बैठे हुए मेंढककी-सी हुई है रे मेरी दशा।" "इस संसारका यह बवंडर कब रुकेगा रे !" "तुमसे मिलकर कभी अलग न होनेका-सा रहूंगा क्या मेरे स्वामी !" वैसे ही विरहावस्थाके भी अनंत वचन पाये जाते हैं, जैसे—"मनका पलंग बनाकर चित्तसे अलंकृत करूंगा मेरे स्वामी ! आ !!" "हल्दीका स्नान कर स्वर्णालंकार पहनकर चन्न मल्लिकार्जुनकी राह देखते बैठी थी।" अनेक ऐसे आर्त और विरहभावके वचन मिलते हैं। वैसे ही "विषयरहित कर भरपेट भक्ति रस पिलाकर रक्षा करो।" "संसारकी आधि-व्याधि दूरकर मेरे परम पिता।" "विषय-विकल हुआ। बुद्धि भ्रष्ट हुई। गति-हीन होकर तुम्हारी शरण आया हूं मेरी रक्षा कर।" आदि प्रार्थनात्मक वचन भी कम नहीं है। पश्चिमके साधकोंके भी ऐसे वचन मिलते हैं। जैसे संट आगस्टाइन के कन्फेशन्स, बायबिलमें आये हुए संटपालके वचन, वायबिलके ओल्ड टेस्टामेंटकी साम्सकी प्रार्थना। उसी प्रकार मुस्लिम संतोंके भी ऐसे वचन हैं। हाफिजने कहा है, 'मैं तुमसे बिछुड़नेका वह दिन कभी भूल सकता हूं ? उस दिनसे किसीने मेरी मुस्कराहट देखी है ? मेरी यह यातना कौन देखता है ?" उसीने एक जगह—"अरी ! मेरे मनकी मलिनता धोकर प्रकाशनेवाली ज्योति ! आ ! मेरे मन-मंदिरको प्रकाशमानकर ! तुझे छोड़कर और कहां जाऊं उस प्रकाशको ढूंढने ? वहां पंडितोंकी सभामें न प्रकाश है न सत्य !"—कहा है। वह इस विरह व्याकुलतामें भी एक प्रकारका आनंद अनुभव करता है, "इस तेरे विरह-विह्वल अंतःकरणको और किसी सुखकी अपेक्षा नहीं है। कम-से-कम आखिर तक यह व्याकुलता तो दे !" महाराष्ट्रके संत-शिरोमणि तुकारामकी व्याकुलता भी बड़ी तीव्र थी। वह कहते हैं, "बिना तेरे दर्शनके मुझे और किसीकी आशा नहीं है। कम-से-कम सपनेमें तो अपना दर्शन दे ! मैं तो तेरे चरणोंके दर्शनके लिये तड़प रहा हूं। मैं तुझे देखना चाहता हूं। तुझसे बोलना चाहता हूं। मैं तेरे चरण छूना चाहता हूं। मेरे हृदयमें जलनेवाली यह आग बिना तेरे दर्शनके बुझना असंभव है। क्या मैं तुझे देख सकूंगा ?" वैसे ही

नामदेवने कहा है, "यह शरीर रहे या न रहे, किंतु तेरा विस्मरण न हो! मेरा मन तुम्हारे चरणोंमें दृढ़ हो।" "तुम्हारे चरण नहीं छोडूंगा यदि छोडूंगा तो तुम्हारी कसम!" और मीराकी विरह व्याकुलताका क्या कहना? दरद दीवानी मीरा कभी सूली पर सेज बिछाकर कैसे सोऊं की समस्या खड़ी करती है तो कभी आंसुवन जलसे प्रेम बेलिको सींचने बैठती है! मीराके शब्दोमें कहना हो तो "घायलकी गति घायल ही जानता" है। सूरदास भी उन्हीं घायलोमें एक है। उनकी आखें तो हरिदरसनके लिए प्यासी है। इसीलिए वह निसि-दिन उदास रहती हैं। क्योंकि उनका प्यारा नेह लगाकर तृन सम त्यागि गयो है। मानो गलेमे फासि डारि गयो!! संतोकी इस व्याकुलताका वर्णन जैसे तुलसीदासने किया है, "सहस्रमुख शेषनाग भी बखान नही कर सकता।" तुकारामने इसी व्याकुलतामें तेरह दिन तक अन्न-पानी भी त्याग दिया था। वैसे ही भगवान रामकृष्ण परमहंसदेव की व्याकुलता इसी युगकी बात है। परमात्मा दर्शनकी आकांक्षा कितनी तीव्र हो सकती है इसका वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भक्तिभी साक्षात्कारका एक मार्ग है। नारद शांडिल्यके भक्तिसूत्र-मे "सापरानुरक्तिरीश्वरी भक्तिः" ऐसी भक्ति शब्दकी व्याख्याकी है। अर्थात् ईश्वरमे आत्यंतिक अनुरक्ति ही भक्ति है। उसमें अनन्यता हो। अहेतुक सर्वसमर्पण भाव हो। यह भक्तिके उत्तम लक्षण हैं। वचनामृतके बारहवें अध्यायमें इस विषयमें वचनकारोंका जो विचार है उसका दिग्दर्शन है। पूजादि बाहरी कायिक कर्मोसे भक्तिका प्रारंभ होता है। भजन-कीर्तनादि वाचिक कर्मोसे बढ़ती है। स्मरण-मननादि मानसिक कार्योसे सूक्ष्म रूप धारण करके सर्वार्पण भावमें परिणित होती है। यह सर्वसमर्पण अथवा आत्म-निवेदन भक्ति-मंदिरका स्वर्ण कलश है। भक्तिमें प्रथम सगुण तत्वकी आवश्यकता है। क्योंकि प्रीतिके लिए अवलंब अनिवार्य है। परमात्माका सगुण रूप वह आलंबन है। भक्त अपने हृदय गह्वरमें फूट पड़नेवाली अपनी भावोर्मियोंको ईश्वरानुरक्तिके रूप प्रवाहित करता है। उनको भगवानके चरण तक ले जाता है। तब भक्तप्रीतिकी सभी कलाओमें भगवानको ही देखता है। उसे वह मां कहता है। पिता कहता है। पुत्र कहता है। सखा और प्रिय कहता है। गुरु और स्वामी कहता है। मानव-जीवनमें आनेवाले सभी मधुर और पवित्र संबंधोमें वह भगवानको देखता है। उनसे बोलता है। उनसे रोता है। उनसे प्रार्थना करता है। और उनको डांटता भी है। यहां भक्तकी सब मानवोचित भावोर्मियां भगवदर्पण होती हैं। भक्ति नवरसोंकी जननी है। निरहेतुक अनन्य समर्पण, तथा तज्जन्य ईश्वरानुरक्तिसे साधकको आत्यंतिक सत्यका साक्षात्कार होता है। यही भक्तिका स्वरूप है। उपनिषद् कालमें भक्ति-

का महत्व नहीं था, किंतु भक्तिके बीज अवश्य पड़े थे। गीतामें उन बीजोंका विशाल वृक्ष बना हुआ देखा जा सकता है। वस्तुतः गीतामें योग समन्वय है। फिर भी भक्तिका बड़ा महत्व गाया गया है। गीताका कर्मयोग भी कोरा कर्मयोग नहीं है। वह शहद मिले दूध-सा, मिस्री मिले नवनीत-सा, सुगंध मिले सोने-सा रुचिकर और सुंदर है। गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है, कि वेदाभ्यास, ज्ञान, तप आदिसे जो साक्षात्कार नहीं होता वह अनन्यभक्तिसे होता है। उसके बाद अनेक भक्तिग्रंथ रचे गये हैं। इसमें भी प्रथम सगुण उपासना ही थी, किंतु आगे जाकर अवतारकी कल्पनाओसे साकारोपासना हो गयी। इसमें शैव, वैष्णव और शाक्त ये तीन मुख्य मार्ग हैं। आगम, पुराणादि ग्रंथ भक्ति-प्रधान ग्रंथ हैं। इस प्रकार भक्ति मार्गका विकास हुआ, जो आगे जाकर संतोंका मार्ग बना।

इसका विकास केवल भारतमें ही नहीं पश्चिमके देशोंमें भी हुआ है। जीसस क्राइस्ट स्वयं परम भक्त थे। वह कहते थे कि सब भगवानकी संतान है। वह भगवानको पितृ रूपसे देखते थे। उनका मार्ग भक्ति मार्ग था। उनके बाद सेंट पॉल, सेंट फ्रांसिस, सेट जेवियर, इग्निशियस, लायोला, सेंट जॉन ऑफ् दि क्रॉस, सेंट कैथारिन आदि सब भक्त थे। इन सबने वैसी ही व्याकुलातिशयसे भक्ति की है जैसे भारतीय संतोने। पश्चिमके भक्तोंकी तरह एशियाके अन्य देशोंके भक्तोंने भी इस मार्गका अवलबन किया है। सूफियोने तो भक्तिके मधुर भावको पराकष्ठाको पहुंचाया है। हाफिजने "मेरे मन नामके दर्पणको भक्तिके जलसे स्वच्छ होने दो। उसमें तुम अपना प्रतिबिंब पड़ने दो। प्रभो! इस माटी पर अश्रु सिंचन करके इसमें स्थित भाव-सुमन खिलाया है मैंने; इसको स्वीकार करो!" कहा है। भक्तिकी अनन्यता तथा उत्कटता दर्शनिवाले उनके वचन अत्यंत उज्ज्वल हैं। वह कहता है—जिस दिन तेरे दर्शनकी इच्छा उतरेगी, तेरी प्रतीक्षा करनेसे मैं उकता जाऊंगा, तुझे छोड़कर अन्योंको चाहने लगूगा उस दिनसे मुझे अंधाकर, मेरी यह आंखें तेरे तेजसे वही जल जायं!!" उमर खय्यामने भी ऐसे ही भाव दर्शाये है। भारतके ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरा, नरसी भगत, धीरा भगत, त्यागराज, पुरंदरदास आदिने यही कहा है। ज्ञानेश्वरने आदर्श भक्तका वर्णन करते समय कहा है, "परम भक्त आत्मज्ञानके पवित्र तीर्थमें स्नान किया हुआ होता है! परमात्मा और उसके बीचका द्वैत नष्ट हुआ रहता है। नवयौवना वधू जैसे अपने यौवनका आनंद स्वयं अनुभव करती है वैसे भक्त परम भावोन्मादके आनंदातिशयमें स्वयं आनंदित रहता है। भक्त जो कुछ करता है वह सब परमात्माकी पूजा होती है।" पुरंदरदासने भी भगवानसे कहा है, "मेरा सिर प्रभुके चरणोंमें सदा नत

······ मैं जो कुछ करता हूँ वह श्री हरिकी सेवा हो।" जगन्नाथ दासने "भक्ति सुख बड़ा है अथवा मुक्ति सुख ?"—ऐसा प्रश्न पूछकर उस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है, "यह तन तेरा है, मन तेरा है, अनुदिन अनुभव होनेवाला सुख-दुख तेरा है। श्रवण, दर्शन, स्पर्श-सुख, गंध सब कुछ तेरा है। यह सब तेरे सहारेके बिना भला कैसे संभव है ?" यह सर्वार्पणकी सजीव मूर्ति-सी है। मीरा बाईने कहा है, "राजा रूठे नगरी न राखे अपनी मैं हरि रूठ्या कहां जाना ?" वैसे करीब-करीब उन्हीं शब्दोंमें कनकदासने कहा है, "राजा रूठा तो हम उसका राज्य छोड़कर जा सकते हैं। भूख लगने पर अन्न भी छोड़ सकते हैं। किंतु तुम्हारे चरण छोड़कर कहां जायं ?" यह सब संत-वचन उनके साक्षात्कारकी भूख दिखाने वाले हैं। भक्तिके अष्ट पहलू हीरेकी तरह हैं। भक्ति एक-एक ओरसे एक-एक दर्शन कराती है। किसी भी ओरसे देखो एक नया रूप दिखाई देगा, नया रंग दिखाई देगा, नया ढंग दिखाई देगा। कही सेव्य-सेवक भाव तो, कही माता-पुत्र भाव तो, कहीं सखा-भाव तो कहीं सती-पति भाव। नव विध भक्ति मानो नित्य नये-नये भावोंसे पल्लवित होनेवाली भक्ति है। सती-पति भावको भक्ति-साम्राज्यमें मधुर-भाव कहते हैं। मधुर भावका एक वैशिष्ट्य है। अनेक भक्त परमात्माको पति-भावसे पूजते है। वचनकारोंमेंसे कई वचनकारोने इस भावसे साधना की है। भक्तिका मूल आधार है प्रेम। प्रेम-कमलकी अनंत पंखुड़िया है। एकसे एक सजीव। एकसे एक सरस और सुदर ! बंधु-प्रेम, मित्र-प्रेम, मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, आप्त-प्रेम, पति-प्रेम, और पत्नी-प्रेम ·· ···आदि। इन सब संबंधोंमें जो ऐक्य है वही भक्तिका आधार है। सती-पति भाव भी नित्य नव-नव ऊर्मियोसे खिलता जानेवाला भाव है। उसमें सबसे अधिक समरसैक्यकी संभावना है। इस लिए इस भावका उपयोग कर लेना अपरिहार्य है। किंतु सच्ची भक्तिमें अथवा परमार्थ साधनामें यह एक रूपक मात्र है। कोई कुछ भी क्यों न कहे परमार्थमें सती-पति भाव सर्वोच्च भूमिका नही है। वह तो निम्न श्रेणीकी भूमिका है। क्योंकि उसका स्थान अन्नमय अथवा प्राणमय कोशके परेका नहीं है। अधिकसे अधिक खींचा जाय तो भी मनोमय कोशके उस पार यह भूमिका नहीं जा सकती। इतना ही नहीं, मनोमय कोशके गामेको भी नहीं छू सकती। तथा सती-पति मिलनैक्यका आनंद भी विषयानंदमेंसे एक है। और वह निष्काम भी नहीं है। वह तो सकाम है। अर्थात् यह आनंद परमात्मैक्यकी कल्पना देने तक ही सीमित है। बृहदारण्यक उपनिषद्में भी ब्रह्मानंदकी कल्पना देते समय "तद्यथा प्रियया संपरिस्वक्तः" कहा गया है। और प्लॉनिटनस्ने भी "अहा ! समरस आत्मैक्य तो भू-लोकके प्रणयी-प्रणयिनीके परस्पर गाढ़ालिंगनमें समरस होनेके समान है !"—कह

कर आगे "उस आत्मैक्यका यह पार्थिव प्रकार है। एक नीरस नकल है !" ऐसा वर्णन किया है। परमार्थ मार्गमें जैसे धर्म, जाति, कुल, लिंग आदिका कोई स्थान नहीं है वैसे ही सती-पति नामक लिंग-भेदके लिए भी कोई स्थान नहीं है। क्योंकि वस्तुतः परमार्थका क्षेत्र अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश ही नहीं विज्ञानमय और आनंदमय कोशके अतिक्रमणके बाद प्रारंभ होता है। वहां संपूर्ण रूपसे कामादि अंग-भावोंके गल जानेकी आवश्यकता है। परमार्थकी स्थिति संपूर्णतः अपार्थिव स्थिति है। वहां पार्थिवताका स्पर्श भी नहीं होता। किंतु अपार्थिव कल्पनाको समझानेके लिए पार्थिव उदाहरणोंको लेना आवश्यक हो जाता है। वैष्णवोंकी राधा-कृष्ण-भक्ति मधुर भावका एक सुदर उदाहरण है। जयदेव कविके गीत-गोविंद काव्यमें इस भावका परमोच्च विकास पाया जाता है। किंतु वचनकारोंके आधार-भूत ग्रंथ शिवागम हैं। इसलिए वचनकारोंने शिवागमोंमेंसे इसकी कल्पना ली है। शिवागमोंके एक सूक्ष्मागममें कहा है, "लिंग ही पति और अंग सती, इस भावसे ऐक्य प्राप्त किया हुआ भक्त ही सच्चा वीरशैव है !" वचनकारोंने इसी रूपका विकास किया है। उन्होंने कहा है, "शरण ही सती और लिंग ही पति", इस भावको व्यक्त करनेवाले अनेक उदाहरण वचन साहित्यमें मिलते है। उन वचनोंसे पतिव्रताकी अनन्यता, निष्ठा, विरहिणीकी व्याकुलता, शरणागति, समर्पण, मिलनका धन्यभाव आदि छलके पड़ते हैं। जैसे वचनकारोंने, इस मधुर भावसे साधना की है वैसे अन्य संतोने भी साधना की है। इसाई संतोंने उनमेसे भी इसाई साध्वियोंने इस प्रकारकी साधना अधिक की है। कैथराईन ऑफ सायना नामकी साध्वीने कहते हैं कि परमात्मासे हुए अपने विवाहके प्रतीक रूप एक अंगूठी पहन रखी थी। सैंट जान ऑफ दि क्रॉसने लिखा है, "प्रियाके मधुर स्पर्शसे, प्रेमाग्निकी एक चिनगारीसे ही मेरे अंतःकरणमें और आग-सी लग गयी !" किंतु आध्यात्मिक जगतमें लैंगिक भावनाको उत्तेजन देना उचित नहीं है। इस पर अनेक आधुनिक पौर्वात्य और पश्चिमात्य दार्शनिक सहमत हैं। प्रो० विलियम् जेम्स नामके एक अमेरिकन दार्शनिकने तो "हमारा पारमार्थिक जीवन हमारे यकृत, पित्तकोश, अथवा मूत्रकोश आदिसे जितना संबद्ध है उतना ही लिंग अथवा लिंगभावसे संबद्ध है !"—कहकर अत्यंत कटु सत्य समाजके सामने रखा है। सूफी संप्रदायके भक्त मधुर भाव और मदिराके उदाहरण बहुत देते हैं। उनके विचारसे मदिराका अर्थ भक्ति-रस है, उसमें आनेवाले दैवी उन्मादका उन्मत्त भाव है। कई बार वह भगवानको 'प्राणेश्वरी !' कहकर पुकारते हैं। उनके वह उद्गार बड़े रम्य हैं। भावोत्पादक हैं। वचनकारोंमें अक्क महादेवीने इस भावमें साधना की है। उनका जीवन पिछले अध्यायमें आया है। मीरा बाईने

भी इसी भावसे साधनाकी थी। महाराष्ट्रमें मंगलवेडेकी एक वेश्याकी पुत्री कान्हो पात्राका जीवन भी अक्क महादेवीके जीवनकी तरह अत्यंत उज्ज्वल, मनोरम और हृदयद्रावक है। वह महाराष्ट्रके संत-मंडलकी एक सम्मानित साध्वी है। उसने विषय-सुखका आत्यंतिक निराकरण किया है। बीदरके नवाबने उसके सौंदर्यकी कीर्ति सुनी। उसको निमंत्रण दिया। उसके संगकी इच्छाकी। कान्होपात्राने इन्कार कर दिया। नवाबने उसको जबरदस्ती ले जानेका प्रयास किया। किंतु वह भक्त थी। उसने परमात्माको अपना पति माना था। वह पंढरपुरके लिए रवाना हो गयी। बीदरके सैनिकोंके हाथ पड़नेके पहले पंढरपुरमें पहुंच कर पंढरपुरके विठोबाके सम्मुख प्राण त्याग किया!! 'अंदल' नामकी एक तामिल साध्वीने भी जीवन भर यह साधना की है। महाराष्ट्रके ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि संत-श्रेष्ठोने तथा कन्नड़के कुछ वैष्णव संतोंने भी अपने "सुलादि" नामके भजनोंमें कहीं-कहीं इस भावकी झलक दिखाई है। किंतु दक्षिणके संत-साहित्यमें यह प्रकार बहुत कम है। भक्ति-मार्गमें नामका अत्यंत महत्व है। भक्ति-मार्गमें नामका वही महत्व है जो वैदिक उपासनामें "ओं" प्रणवका तथा गायत्री मंत्रका है। नाम सबके लिए समान है। वह सबकी संपत्ति है। सब भाषाओंके संतोंने नामका माहात्म्य गाया है। वचनकारोंने नाम-महिमा गायी है। उनके संप्रदायमें "ओं नमः शिवाय" यह नाम-मंत्र है। भारतीय तथा विश्वके अन्य संतोंने नामके विषयमें जो कुछ कहा है उसकी एक-एक पंक्ति भी दें तो वह एक स्वतंत्र और बृहद् ग्रथ हो जाएगा।

वचनकारोंने कहा है कि सर्वार्पणयुक्त निष्काम भक्ति ही मुक्तिका मुख्य साधन है। इस विषयमें दूसरे देश-काल और भाषाके संतोंका क्या विचार है इसका विचार करें। सर्वार्पणकी भावनामें ज्ञान, ध्यान, कर्मका भी समावेश होता है। किंतु सर्वार्पणके बाद भी अपने-अपने स्वभाव-धर्मके अनुसार साधक कर्म-प्रधान, ज्ञान-प्रधान अथवा ध्यान-प्रधान हो सकता है। उनका कहना है कि परमात्मा सर्वान्तर्यामी है। उसके निरतिशय प्रेमसे चित्त-सर्वस्व भर जाना चाहिए। उसी प्रेमसे अंतःकरणमें सर्वार्पण भाव स्थिर कर लेना चाहिए। उसके बाद अपनेमें जो सबसे विकसित शक्ति है उससे, चाहे वह कर्म-शक्ति हो, भाव-शक्ति हो, ध्यान-शक्ति हो या ज्ञान-शक्ति, साक्षात्कारकी साधना करनी चाहिए। साधकमें जो शक्ति प्रधान रूपसे बलवत्तर है उसके अनुसार साधकका वह कर्मयोग, ध्यानयोग अथवा ज्ञानयोग होगा। साधकको अपने साध्यपर लक्ष्य केंद्रित करना चाहिए। मार्ग कोई भी हो, उसका अंतिम साध्य साक्षात्कार है। सत्यका ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान ही मोक्ष है। कन्नड़ संतोंने सत्य ज्ञानको अत्यंत महत्व दिया है। उनका स्पष्ट कहना है कि बिना ज्ञानके मुक्ति असंभव

है। ज्ञानका अर्थ केवल बौद्धिक जानकारी नहीं है, किंतु अनुभव-ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान है। भक्ति, कर्म आदिका ज्ञानमें ही समावेश होता है। गीता, उपनिषद् आदिमें यही कहा गयाहै। "अखिल कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं।"[१] "शुद्ध चित्त ध्यान करते-करते ज्ञान-प्रसाद होकर परमात्माको देखता है।"[२] "साधक भक्तिसे परमात्मा कौन है, यह जानकर उसमें प्रवेश करता है।"[३] उपनिषदोंने भी ध्यान-ज्ञानयुक्त उपासनाका महत्व गाया है। "विद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति होती ह।"[४] "सूक्ष्मदर्शी सूक्ष्म बुद्धिसे सर्व-भूतांतर्गत गूढ़ आत्माको देखते हैं। वाणीको मनमें, मनको ज्ञानमें, ज्ञानको बुद्धिमें, बुद्धिको शांत आत्मामें लय करनेसे आत्यंतिक सत्यका दर्शन होता है।"[५] उपनिषदोंने अधिकतर ध्यान और ज्ञानका महत्व कहा है। कहीं-कहीं कर्मका महत्व भी गाया है। ईशावास्योपनिषद्का दिव्य संदेश है कि कर्म करते हुए सौ साल जीना चाहिए। निर्लेप होकर जीनेका यही रास्ता है। कर्म दो प्रकारका होना है। निष्काम और सकाम। परमार्थ मार्गमें सकाम कर्मका कोई स्थान नही है। निष्काम कर्म ही पारमार्थिक कर्म-मार्गका सहायक है। वही साधकको बंधनसे मुक्त करता है। कर्म करके भी कर्म-बंधनसे मुक्त रहनेकी कला सीखनी चाहिए। ऐसा कर्म चार प्रकारसे किया जा सकता है। केवल कर्तव्यके रूपमें कर्म करते रहना। फल-त्यागपूर्वक कर्म करना। अनासक्त भावसे कर्म करते जाना। और ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करना। गीतामें श्री कृष्णने कर्मका मर्म अच्छी तरह समझाया हैं। श्री कृष्णने अर्जुनसे कहा है, "केवल कर्म करते रहना तुम्हारा अधिकार है। उसके फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। अनासक्त भावसे कर्म करते रहनेसे पुरुष परम पदको प्राप्त करता है।"[६] श्री कृष्णने यह भी कहा है, अपनाना, करना, धरना, खाना, देना, लेना, होमना, तपना आदि सब मुझे अर्पण कर, इससे तू कर्म-फलात्मक बंधनसे मुक्त होकर मुझसे मिलेगा।"[७] भक्तिकी तरह ध्यान कर्म आदिका पारमार्थिक साधनाके रूपमें उपयोग कर लेनेकी परिपाटी प्राचीन कालसे चली आ रही है। यह परिपाटी भारतमें ही नहीं अन्य देशोंमें भी चली आ रही है। किंतु अन्य देशोंमें इन मार्गोका सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण करनेवाले ग्रंथ नहीं बने। वहाँ इन सब मार्गोंका पृथक् और स्वतंत्र विकास नहीं हुआ। इसलिए भारतकी तरह वहां पृथक् संप्रदाय अथवा अनुगम नहीं बने। जैसे भारतमें वैदिक धर्म प्रचलित है वैसे भारतके बाहर प्रचलित धर्मोंमें

---

१. गीता ४-३३. २. मुं ३-१-८. ३. गीता १७-५५.
४. ईश. मं. ७. ५. क. १-३-१२-१३. ६. गीता ३-१९.
७. गीता ९-२७-२८.

बौद्ध, फारसी, यहूदी, इसाई तथा इस्लाम धर्म प्रमुख हैं। इनमेंसे बौद्ध धर्मका प्रारंभ भारतसे ही हुआ था। किंतु उसका विस्तार भारतसे बाहर अधिक हुआ। इतना ही नही भारतके बाहर प्रचलित अन्य सब धर्मों पर बौद्ध धर्मके महायान पंथका गहरा प्रभाव पड़ा है। इसमें संशय नहीं कि बौद्ध धर्म मूलत: तथा तत्वत: ज्ञान-प्रधान धर्म है। किंतु महायान पंथमें वह भक्ति-प्रधान बना है। इसका अर्थ यह नहीं कि महायान पंथमें ज्ञान, कर्म, ध्यान आदिके लिए स्थान नहीं है। उपनिषद् धर्म भी ज्ञान-प्रधान है। किंतु उसमेंसे कर्म-प्रधान गीताके भागवत धर्मका प्रादुर्भाव हुआ। अष्टांग योगका विवेचन करनेवाले पातंजल योग-सूत्रोंका विकास हुआ और भक्तिका रहस्य समझानेवाले नारदीय भक्ति-सूत्रका ग्रंथ भी बना। इन सूत्र-ग्रंथोंके कारण उन ग्रंथोंका अनुकरण करनेवाले अनुगम भी बने। अनुगमोंके अनेक साधकोंके चिंतन और प्रयोगके कारण यह भिन्न-भिन्न पंथ स्वतंत्र रूपसे विकसित हुए। पगडंडीका राज-मार्ग बना। अन्य धर्मोंमें अथवा अन्य देशोंमें ऐसा नहीं हुआ। किंतु उन्होंने भक्तिके साथ अन्य साधनोंका उपयोग कर लिया होगा। ईसा मसीह जंगलोंमें जाकर चालीस दिन तक निराहार होकर ध्यान-मग्न स्थितिमें पड़े रहे थे। उनको वह अप्राकृत आनंद भगवानके अंतर-ध्यानसे ही प्राप्त हुआ था। सैंट ऑगस्टाईनने ध्यान-योग ही कहा है। रूईस ब्रोकनने यह कहकर कर्मयोगका सुंदर विवेचन किया है "सच्चे भक्तका अंतरंग श्रम और विश्राममें समान रूपसे स्वस्थ रहता है। वह तो परमात्माके हाथका सजीव खिलौना बना हुआ रहता है।" इसाइयोंका सेवा-मार्ग लोक-संग्रहार्थ किया जानेवाला कर्मयोग ही है। बुद्ध भगवानने भी पहले अनेक प्रकारकी साधनाएँ की थीं। उन सब साधनाओंको करते-करते थक कर ब्रह्म-विहार नामकी ध्यान-पद्धतिसे बुद्धत्व प्राप्त किया था। यह पद्धति उनको अलार कालाम नामके ध्यान-योगीने बतायी थी। आधुनिक कालके महान् संत श्री ज्ञानेश्वर स्वयं ज्ञानी थे। वह ध्यानयोगी भी थे। उन्होंने अपने महान् ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी'में ध्यान-योगका अत्यंत गहराईके साथ और विस्तृत वर्णन किया है। ज्ञानेश्वरीके छठवें अध्यायका अध्ययन करने वाला प्रत्येक मनुष्य इस बातको स्वीकार करेगा कि ज्ञानेश्वर ध्यान-योगके अनुभवी थे। एकनाथ महाराजने भी ध्यान, ज्ञान तथा कर्मका समन्वय करनेका प्रयास किया है। उन्होंने समाधिका वर्णन निश्चल, शांत स्थितिके रूपमें नहीं, वरन् सतत कर्मरत साधकके रूपमें किया है। तुकाराम केवल भक्त हैं, किंतु संन्यासी होकर भी रामदास महान् कर्मयोगी थे। उन्होंने कहा है, "जिससे मोक्ष प्राप्ति होती है वही ज्ञान है।" तथा "व्यवहार दक्ष मनुष्य ही आदर्श पुरुष हैं।" "वह सदा सर्वदा दक्ष रहता है। सावधान रहता है। वह अपने एक क्षणको भी निरर्थक

जाने नहीं देता। अपना प्रत्येक क्षण वह ईश्वरकी सेवामें लगाता है। ऐसे व्यक्तियोंमें जागृति, सतत कर्म तथा शांत भक्तिका साथ रहता है।" रामदास महाराजका आदर्श पुरुष व्यवहारी, दक्ष पुरुष है। उनके अनुसार ऐसे पुरुष ही लोक-हितकारी होते हैं। श्रीतुलसीदासने भी रामचरित मानसमें रामको आदर्श पुरुष माना है। उनको मर्यादा पुरुषोत्तम माना है। रामके रूपमें तुलसीदासजीने मानव-जीवनका सुंदरतम आदर्श प्रस्तुत किया है। किंतु तुलसीदासजीने आदर्श पुरुषका कलात्मक पक्ष सामने रखा है और समर्थ रामदासने शास्त्रीय पक्ष। उन्होंने जैसे गीतामें स्थित-प्रज्ञके लक्षण बताये हैं वैसे आदर्श पुरुषके लक्षण कहे हैं। वैसे ही वचनकारोंने साक्षात्कारीके लक्षण कहे हैं। सत्यका साक्षात्कार किया हुआ अनुभवी ही उनका आदर्श पुरुष है।

वचनकारोंके आदर्श पुरुषके लिए आवश्यक गुण-शील तथा कर्मके विषयमें वचनामृतके सोलहवें और सत्रहवें अध्यायमें पर्याप्त वचन देखनेको मिलेंगे। साधक किसी भी मार्गकी साधना क्यों न करे, उसके लिए सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दया, क्षमा, शांति, अदंभत्व, धैर्य, सहनशीलता, ब्रह्मचर्य, इंद्रिय-निग्रह आदि गुणोंकी आवश्यकता है। उपनिषद्कारोंसे लेकर महात्मा गांधी तक प्रत्येक साधकने इन गुणोंकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया है। भारतके प्राचीनतम धर्म-साहित्य वेदोंमें भी "सत्यंवद" कहा गया है। और आज दस हजार सालके बाद भी जन-जीवनके सामूहिक विकासके साधकोंको 'सच बोलो' कहना पड़ता है। यह सब लोग कहते हैं, असत्य बोलना पाप है। झूठ ही सब प्रकारके पापकी जड़ है। हम अपने बच्चोंको इसलिए दंड भी देते हैं कि तुमने झूठ कहा! किंतु संतोंको बार-बार कहना पड़ता हैं, 'सत्य बोलो !!' मानो यह संत और समाजमें होड़-सी लगी है। समाज झूठ बोलनेसे नहीं अघाता और संत "सच बोलो" कहनेसे नही अघाते !! संत कभी हारनेवाले नहीं हैं। वह कभी निराश नहीं होते। संतोंके अनंत चमत्कारों पर विश्वास करनेवाले भारतीय इस पर भी विश्वास करेंगे कि एक दिन ऐसा भी आयेगा कि संतोंको सत्य बोलो ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी; और उसी दिन समग्र विश्व पर दिव्य शक्तिका अवतरण होगा। यह विश्व अमृतलोक हो जाएगा। ऊपर जो गुण कहे गये हैं वह आदर्श पुरुषके श्वास-निश्वास हैं। बिना इन गुणोंके आदर्श पुरुषकी कल्पना भी असंभव है। वचनकारोंकी तरह उपनिषदोंने भी सच बोलो, धर्मका आचरण करो, अतिथि-अभ्यागतोंको भगवानका रूप मानकर उनका स्वागत करो, पवित्र कार्य करो आदि बातें कही हैं। भारतकी प्रत्येक भाषाके संतोंने यह बातें कही हैं। ईसा मसीहने कहा है, "यदि हमने सत्यकी शरण ली, सत्य हमें अपना लेगा।" हमारे धर्मशास्त्रोंमें भी कहा गया है, "जो

धर्मका पालन करेगा, उसका पालन धर्म करेगा।" महाराष्ट्रके एक महान संत एकनाथजीने कहा है, "सत्या परता नाहीं धर्म सत्य तेंचि पर ब्रह्म।" सत्यसे बढ़कर धर्म नहीं, सत्य ही परब्रह्म है। यही बात तुलसीदासजीने कही है, "सच कहने वालेको इस जगमें कुछ भी दुर्लभ नही है।" उन्होंने कहा है, "सांच सम धर्म नहीं झूठ सम पाप।" वैसे ही वचनकारोंने भी सदाचार पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने बिना सदाचारके बाहरी आडंबरको हेय माना है। विश्वके सब संतोंने यही कहा है। ईसामसीहने मद्यपान, स्वैराचार, मार-पीट, मत्सर आदिका विरोध किया है। सूफी फकीरोंने दंभका विरोध किया है। उन्होंने कहा है, "न मुझे माला चाहिए, न वह कफनी, उसमें जो हजारों धूर्त और कुटिलोंका जो बोझ है वह कौन उठावे ? तुलसीदासजीने "सदाचार सब योग विरागा" कहा है तो सरमदने कहा है, "यदि तुमने अहंकार छोड़ा तो तुम्हें त्रिलोकनाथ मिल जाएगा। तुम उनकी लिखी हुई पुस्तकका मुख-पृष्ठ बनोगे।" उन्होंने और एक जगह लिखा है कि यदि तुम 'शून्य' नहीं बनोगे तो 'सर्व' भी नही बनोगे ! भगवान दुर्बल-दुर्लभ है ! "जबतक तू दीपककी तरह प्रकाश देता रहेगा तब तक जलता रहेगा।" वस्तुत: जीवनका आनंद देनेमें है, लेनेमें नही। जीवन देते जाना है, जैसे सूर्य प्रकाश देता जाता है, जीवन देता जाता है, चद्रमा चांदनी और शीतलता देता जाता है, पृथ्वी अन्न और संपत्ति देती जाती है। सारा विश्व हमें क्या सिखाता है ? बिना किसी अपेक्षाके देना, देना और देना ! बिना त्यागके यह कैसे संभव हो सकता है ? बड़े-बड़े ग्रंथोंको पढ़नेसे जीवनमें त्याग नहीं आता। उसके लिए साधनाकी आवश्यकता है। इसीलिए वचनकारोंने आशाको अनर्थका मूल माना है। मनके सामनेवाली आशाको ही माया कहा है। यह आशा जो अपना नहीं है, जो औरोंका है, उसको हड़प जानेको प्रेरित करती है। बादमें असत्य, हिंसा, परनिंदा, धोखा, धूर्तता, कुटिलता आदिका खेल प्रारंभ होता है। सब अनर्थ-परंपराकी जड़ यह आशा है। इसलिए सब संतोंने अनेक तरीकेसे समझाया है कि काम, क्रोध, लोभ, असत्य, हिंसा आदि छोड़ना चाहिए। अरे मन ! इस शरीर पर भरोसा मत कर। दूसरोंकी संपत्तिके पीछे मत पड़। पर-स्त्रीकी आशा न कर।

विश्वके सभी संतोंको इन्हीं बातोंको बार-बार कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता। एक ही एक बात वह हजार ढंगसे कहते हैं। हजार बार कहते हैं। भले ही सुननेवाला उकता जाय किंतु वह कहते नहीं उकताते। क्योंकि उनको मानवमात्रकी सद्भावना पर विश्वास है। वह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें बसा हुआ विश्वात्मा एक-न-एक दिन अपना प्रकाश दिखायेगा। मानव-कुलका दिव्यीकरण होगा। इसके लिए हमें भगवानका यंत्र बनकर चलना

है। यही हमारा जीवन है। संत एक-दो आदमियोंका गुरु नहीं होता। वह तो समाजका गुरु होता है। संतोंने गुरुका माहात्म्य गाया है। गुरु केवल दीक्षा-गुरु नहीं है। कान फूकनेवाला गुरु नहीं है। गुरु वही है जो मोक्षका मार्ग दिखाता हैं। मोक्ष तक ले जाता है। सत्यका साक्षात्कार कराता है। सदाचारकी शिक्षा देता है। हम ग्रथोंसे अपनी बुद्धिका विकास कर सकते हैं। किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि ग्रंथका अर्थ भूतकाल है। ग्रंथोंको पढ़ते समय उत्पन्न होनेवाली उलझनें सुलझानेकी शक्ति उनमें नहीं होती। ग्रंथोंसे हमारी बुद्धि शुद्ध हो सकती है, वह प्रगल्भ हो सकती है। किंतु उस बुद्धिको साक्षात्कारकी जोड़ नहीं मिल सकती। जब तक बुद्धिको साक्षात्कारकी जोड़ नहीं मिल सकती तबतक उसकी दुर्बलता नही जाती। वह निःसत्त्व ही रहती है। गुरु वह काम करता है। अन्य कोई वह काम नहीं कर सकता। वह काम संत, गुरु कर सकता है। इसीलिए कहा गया है, "संत परम हितकारी।" क्योंकि वह न केवल "प्रभु पद प्रगट करावत प्रीति" है किंतु 'भरम मिटावत भारी" भी है। इसीलिए वह त्रिगुणातीत तन-त्यागी होता है। ऐसे ही गुरुके लिए महात्मा कबीरने "गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूं पाय। बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो लखाय"—कहा है। गुरुकी वाणी अनुभव-वाणी है। परमार्थ-पथमें गुरु मानो ज्योति है। संतोंने गुरुको पारस मणि कहा है। संत तुकारामने कहा है, "सद्गुरु-के बिना दूसरा चारा ही नहीं है। वह तत्काल अपने जैसा बना देता है।" एकनाथने कहा है, गुरु ऐसा अंजन लगाता है कि बस "राम बिना कछु दीखत नाहीं" हो जाता है। कबीरने कहा है, "गुरु कुम्हार सिख कुंभ है गढ़-गढ़ काटै खोट। अंतर हाथ सहारा दें बाहर मारै चोट।" गुरु शिष्यकी मिट्टीका घड़ा बनाता है। अंदरसे प्रेमका सहारा देता हुआ बाहरसे ठोंक-ठोंककर खोट निकालता है। संत समग्र समाजको अपना शिष्य मानकर अंदरसे प्रेमका आसरा और बाहरसे करारी चोटें देते-देते मानव-कुलके दिव्यीकरणमें लगे हैं। इसीलिए सब संतोंके वचन एक हैं। उन सबकी शिक्षा एक है। उनका अनुभव एक है। उनका जीवन-कार्य एक है। चाहे वह किसी भाषाके संत हों, किसी देशके संत हों, अथवा किसी कालमें पैदा हुए हों; संत संत है और कुछ नहीं। संतोंमें न कोई बड़ा है न छोटा। न वह किसीको बड़ा मानता है न किसीको छोटा। न किसीको उच्च मानता है न नीच। उनकी दृष्टिमें सब परमात्माके अमृत पुत्र हैं। सब परमात्माके रूप हैं। वह तो सबको परमात्म-रूप समझते हैं। सबमें परमात्माको देखते हैं। चाहे वह ब्राह्मण हो या चांडाल, चाहे भूपाल हो या गोपाल, चाहे राजा हो या रंक, चाहे पंडित हो या निरक्षर, चाहे स्त्री हो या पुरुष; उनकी दृष्टिमें सब एक हैं। क्योंकि वह सत्यका साक्षात्कार कर चुका

होता है। उसके लिए सब सत्य-स्वरूप होते हैं। इसलिए वह कभी न थकते हुए, न निराश होते हुए, न किसी प्रकारकी हार मानते हुए मांकी ममतासे समाज-को उपदेश देते हैं, प्यारे! सच बोलो, झूठ मत बोलो। प्रेमसे रहो, द्वेष मत करो। दया करो, निष्ठुर मत बनो। आओ! तुम भी वह आनंद लूटो जो हम लूट रहे हैं। हम वह आनंद लुटाने आये हैं। भर-भर कर देते हैं, जितना ले सकते हो लो!

उपसंहार

यह 'परिचय खंड' का अन्तिम अध्याय है । वचनकारोंके शब्दोंमें ही कहना हो तो साहित्यमें वचन वैसे ही पवित्र हैं जैसे देवियोंमें पार्वती, नदियों-में गंगा, क्षेत्रोमें काशी और पर्वतोंमें कैलाश ! वचनकारोंकी दृष्टिसे वचन-साहित्य पवित्र साहित्य है । वस्तुतः जिस साहित्यमें साहित्यकारके हृदयके पवित्रतम अनुभव अंकित हों वह साहित्य पवित्र है । क्योंकि हृदय ही मानवता का उगम है । मानवी जीवनका रहस्य उसके हृदयमें ही है और वहींसे मानवताकी पवित्र गंगा बहती है ।

किसी भी पुस्तकका उपसंहार करते समय पुस्तकके विषयका विहंगाव-लोकन करनेकी परिपाटी-सी है । किसी पुस्तकका उपसंहार मानो उस पुस्तक-का संक्षेप-सा है । इस पुस्तकमें कन्नड़-भाषा-भाषी २१३ शैव संतोंमें से ६७ संतों के ५६९ वचन हैं । कन्नड़ भाषामे पहले चंपू-काव्यके दो काव्य-खंडोंको जोड़ने वाले अथवा दो काव्य-खंडोंके बीचमें आनेवाले गद्य-विभागको वचन कहते थे । आगे जाकर शिव-शरणोंने अपने धर्म-प्रचारके लिए इस साहित्य-शैलीको अपनाया । आज वचनका अर्थ "वीरशैव संतोके आध्यात्मिक उपदेश" माना जाता है । केवल साहित्यिक दृष्टिसे इसको "वचन-गद्य" कहते हैं । आज भी कोई-कोई साहित्यिक इस शैलीमें लिखते हैं । यह गद्य-शैली अन्य गद्य-शैलियों से भिन्न है ।

इस पुस्तकके दो खंड हैं । पहला खंड परिचयात्मक है । यह केवल मुह देखा परिचय ही है । पहले खंडमे विषय प्रवेश, साहित्यिक परिचय, वचनकारों का सामूहिक व्यक्तित्व और व्यक्तिगत परिचय, साम्प्रदायिक उपासना-पद्धति, वचन-साहित्यका सार-सर्वस्व, साक्षात्कार, वचन-साहित्यका धार्मिक तथा नैतिक दृष्टिकोण, तुलनात्मक अध्ययन और उपसंहार, ऐसे नौ अध्ययाय हैं । और दूसरा खंड "वचनामृत" है। उस खंडमें ५६९ वचनोंको (१) परमात्मा, (२) सृष्टि (३) सृष्टि रचना क्रम, (४) परमात्मा कहाँ है ? (५) मुक्ति ही जीवनका उद्देश्य है, (६) साक्षात्कार, (७) साक्षात्कारीकी स्थिति, (८) अज्ञान, (९) मुक्तिकी इच्छा, (१०)साधना-मार्ग-सर्वार्पण, (११) ज्ञानयोग, (१२) भक्ति योग, (१३)कर्मयोग (१४) ध्यान योग, (१५) ज्ञान, भक्ति, क्रिया, ध्यानका सम्बन्ध, (१६) साधकके लिए आवश्यक गुण, शील, कर्म, (१७) विधि-निषेध, (१८) षट्स्थल-शास्त्र, (१९) प्रकीर्ण, (२०) मुक्ताय, इन २० अध्यायोंमें विभाजित किया है तथा

प्रत्येक अध्यायमें विषयानुसार वचनोंका संकलन किया है। अर्थात् व्यक्तिगत तथा सामूहिक आध्यात्मिक जीवनका उच्चतम साध्य और उसकी साधनाकी दृष्टिसे आवश्यक सभी अँग-प्रत्यंगोंका विवेचन करनेवाले वचनोंका संकलन संक्षेपमें किया है। आध्यात्मिक जीवनका अर्थ है मनुष्यका आंतरिक जीवन। आत्मा, परमात्मा और विश्वमें क्या सम्बन्ध है ? और वह कैसे होने चाहियें ? उनके लिए मनुष्यको क्या-क्या करना चाहिये ? उसके आचार-विचार क्या है ? तथा उसके अनुभव क्या है ? यह सब आध्यात्मिक जीवनकी समस्याएं हैं। संतोंने इन समस्याओंको अपने जीवनमें सुलझाया है। उन्होने जिस ढंगसे, जिस पद्धतिसे इन समस्याओंको सुलझाया है उसको सुन्दर शब्दोंमे कहा भी है। संतोंका यह कथन आध्यात्मिक जीवनका निचोड़ है। आध्यात्मिक जीवनके जो साधक सदियोंसे जीवनके इन पहलुओंपर चिन्तन और प्रयोग करते आए हैं, खोज करते आए है, उनका अनुभव है कि मनुष्य तभी शाश्वत सुख पा सकता है जब वह आत्यंतिक सत्यका साक्षात्कार करता है। अर्थात् अध्यात्म-शास्त्र साक्षात्कारजन्य शाश्वत सुख-शास्त्र है। वचनकारोंने यही कहा है। वह उस सुखका बखान करते नहीं अघाते। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि साक्षात्कार ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, वही जीवनका अन्तिम साध्य है और वह हर कोई प्राप्त कर सकता है। वचनकारोंने अपने विश्वासके अनुसार व्यक्तिगत और सामूहिक रूपसे साधना की, वैसा जीवन बिताया और अपने अमृतानुभवोंको अंकित करके रखा। उसीको आज वचन-साहित्य अथवा वचन शास्त्र कहते हैं।

वचन-साहित्यके संदेशमें कोई गूढ़ता नहीं है। उसमें समझमें न आये ऐसा शब्द-जाल नहीं है, तथा उसके पास कोई फटके भी नहीं ऐसी काँटोंकी बाड़ भी नहीं है। जिसको इस विषयकी रुचि है, जो यह जानना चाहता है उसके लिए वचनकारोंने सरल-सुलभ शैलीमें गुह्यान् गुह्यतम ज्ञान खोलकर रखा है। जिसमें धर्मकी जिज्ञासा है, मोक्षकी इच्छा है, शुद्ध-सात्विक जीवन बिताने-की आकांक्षा है, उसके लिए वचन-साहित्य पथ्यकर है। अमृतान्न-सा है। वचनकारोंका यह जीवन-संदेश आश्वासन देने वाला है। उत्साह-प्रद और आनन्द-दायक है। उपनिषद्कारोंने जिस ज्ञानके अनुभवसे "अमृतत्वं हि विंदते" कहा है वही ज्ञान शिव-शरणोंने वचन-साहित्यमें कहा है। उपनिषद्में याज्ञवल्कने जिस ज्ञानके लिए "अभयं वै प्राप्तोऽसि" कहा है वह यही ज्ञान है। यह ज्ञान सत्य ज्ञान है। यह ज्ञान सदा आनन्दमय है। यह ज्ञान शाश्वत सुख देने वाला है। इसलिए अमृतमय है। इसी ज्ञानके लिए उपनिषद्-कारोंने "आनन्दरूपममृतं यद् विभाति" कहा है। अर्थात् वचन-साहित्यका संदेश

अभय संदेश है. अमृत संदेश है, आनन्द संदेश है।

देश-काल परिस्थितिमें भिन्नता होती है, किंतु अनुभावियोंके अथवा संतोंके संदेशमें कोई भिन्नता नहीं होती। उपनिषदोंने जो कहा वही संतोने कहा। कन्नड़-भाषा-भाषी शिव-शरणोंने जो कहा वही महाराष्ट्रके भागवतोंने कहा, वही हिंदी-भाषा-भाषी संतोंने कहा। वे सब पूर्ण सत्यके साक्षात्कारी थे। समग्र मानव-कुल एक है। उसका ध्येय एक है। सबका आध्यात्मिक अनुभव एक है। मानव-हृदय एक है। भिन्न-भिन्न भाषाके अनुभावियोंने, भिन्न-भिन्न प्रकारसे यह बात कही है। भिन्न-भिन्न शैलियोमें कही है। अर्थात् कन्नड़ शिवशरणोंका संदेश केवल कन्नड़-भाषा-भाषियों के लिए नहीं है जैसे तुलसीदासजीका संदेश केवल हिंदी-भाषा-भाषियोंके लिए नहीं। कन्नड़ शिवशरण, हरिशरण, तथा अन्य सब संतोंका संदेश विश्वके मानव-समाजके लिए है। केवल इंद्रिय-सुखोपभोग ही अपना एक मात्र साध्य किसीने बना लिया हो तो उसकी बात दूसरी है, किंतु जो अपने अंतरंगके सुखकी इच्छा करता है, इस भौतिक सुखके परे जो महान सुख है उसका अनुभव करना चाहता है, उसके लिए यह संदेश दिव्य संदेश है। यह शरण-संदेश मुक्तिकी इच्छा करने वाले मानव-समाजके लिए अभय संदेश है। यह शरण-संदेश, निरावलंब निर्दोष, नित्य, शाश्वत सुख चाहनवालोंके लिए अमृत संदेश है। यह शरण-संदेश मानव-कुलके दिव्यीकरण-का दिव्य संदेश है। यह शरण-संदेश मानव-कुलके सामूहिक विकासका स्फूर्ति संदेश है। यह शरण-संदेश मानव-जीवनकी अंतर-बाह्य शक्तियोंका समन्वय करके ससारमें परिस्थितियोंका दास बनकर जीना छोड़कर उसका स्वामी बन कर अपने अंतः साम्राज्यका सम्राट् बननेकी शक्ति देनेवाला शक्ति-संदेश है। यह शरण-संदेश निरपेक्षतासे ईशत्व प्राप्त करा देनेवाला ईश-संदेश है। वचन साहित्यका यह संदेश जीवन-संदेश है, यह सही तरीकेसे मानवोचित जीवन जीनेकी कला और शास्त्र सिखाता है। वचन, केवल आत्मा और परमात्माका संबंध ही नहीं बताते, व्यक्ति और समाजका सबंध कैसा होना चाहिए, यह भी सिखाते हैं। अर्थात् वह केवल वीर-शैवोंका उपासना-शास्त्र ही नहीं है, मानव समाजका नीति-शास्त्र भी है। वैसे ही वह केवल व्यक्ति और समाजका संबंध ही नहीं बताते, जीव, शिव और विश्व, अथवा आत्मा, परमात्मा और सृष्टिके संबंधको स्पष्ट करके दिखाते हैं, अर्थात् वह दर्शन भी है। वह मानव-जीवनके सभी पहलुओंका विवेचन, विश्लेषण, तुलना करके युक्तियुक्त निर्णय भी देते हैं। इस लिए वह जीवन-साहित्य भी है। किसी भी दृष्टिसे वचन-साहित्यका विवेचन करें तो यह स्वीकार करना पड़ता है वह पूर्ण साहित्य है। उसमें धर्म, नीति, तत्वज्ञान सभी दृष्टियोंसे मानव-जीवनका विवेचन मिलता है। इसलिए

वचन-साहित्य सच्चे अर्थोंमें जीवनका सर्वांगीण विकास करनेवाला सर्वोदय-कारी पूर्ण साहित्य है।

वचनकार मुक्त कंठसे यह घोषणा करते हैं कि निर्दोष, निरावलंब, नित्यानंद-में डूबे रहना ही मनुष्य-जीवनका अंतिम साध्य है, किंतु वह अपने शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक दायित्वसे मुँह नहीं मोड़ते। मुक्तिके नशेमें कनक, कान्ता, तथा भूमिको हेय नहीं मानते, इसको माया-जाल कहकर त्याज्य नहीं कहते। वे मानते हैं कि मुक्तिके लिए निष्काम होना आवश्यक है, काम-मुक्त होना आवश्यक है, किंतु इसके लिए कामिनीको हेय दृष्टिसे देखनेकी, उनको त्याज्य माननेकी आवश्यकता नही। वे 'स्त्रीको जगदंबा मानने' का आदर्श सामने रखते हैं। वे 'परस्त्री संगको महापाप' मान कर भी 'पाणि ग्रहण की हुई स्त्री का त्याग करना भी महापाप' मानते है! मुक्तिके लिए घर, बार, संसार आदिके त्यागकी आवश्यकता नहीं मानते। वे अपना सर्वस्व परामात्माको समर्पण करके प्राप्त भोगोंको प्रसादरूपमें स्वीकार करनेकी शिक्षा देते हैं। वे मुंहसे परमार्थकी बातें करते हुए रोटीके लिए हाथ फैलाना कष्टकर मानते हुए, प्रत्येक मनुष्यके लिए चाहे वह संसारी हो या सन्यासी, नियमित 'कायक' अनिवार्य मानते हैं। कायकका अर्थ अपने जीविकोपार्जनके लिए किया जानेवाला ईश्वरार्पित प्रामाणिक शरीर-परिश्रम है। उन्होंने स्पष्ट भाषामें कहा है, 'कायक ही कैलास है, पूजामें खंड पड़ा तो क्षम्य है, किंतु कायकमें खंड पड़ना अक्षम्य है।' उनका यह स्पष्ट कहना है कि परमात्माने जो शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक शक्तियाँ दी हैं उन शक्तियोंको मोक्ष-साधनाके नाम पर कुचल देनेकी कोई आवश्यकता नहीं, किंतु उनका दुरुपयोग नहीं होना चहिए। विचारपूर्वक उनका सदुपयोग होना आवश्यक है। उन शक्तियोंका समुचित विकास होना आवश्यक है। अपनी सभी शक्तियोंको परमात्मार्पण करके उनका सदुपयोग करनेका परामर्श देते है। यदि हमें अपनी सभी शक्तियाँ परमात्मार्पण करनी ही हैं तो भला उन सब शक्तियोंको, कुचल कर, नष्ट-भ्रष्ट कर, कुरुप-कुरंग कर, सड़ा-गला कर परमात्मा-के चरणोंमें क्यों अर्पण करें? भगवानके चरणोमें अर्पण किया जानेवाला यह जीवन-सुमन, जीवनी-शक्ति-सुमन, खिला हुआ हो, सुन्दर हो, सुरभित हो, रस-भरा हो, मधुर मकरंदसे भरा हो, यही तो पुरुषार्थ है! यही भक्ति है! हम अपने जीवनको परमात्माकी पूजाके योग्य पवित्र, सुन्दर फूल बनाएं। वचनकार साधकको अपने जीवनको सुष्ट-पुष्ट करके समाजके अपने अन्य साधक बंधुओंमें बसे परमात्माकी पूजा करनेका उपदेश देते हैं। वे पूछते हैं परमात्मा कहाँ है? और इसके उत्तरमें कहते हैं, "वह भक्त काय मम काय कहता है।" "वह शरण सन्निहित है!" "वह सज्जनोंके हृदय-कमलमें बसा है।" मानों वे सज्जनोंको ही

परमात्मा मानकर उनकी सेवा करनेका आदेश दे रहे हैं ! वे मानव-मनको अधिक सुतीक्ष्ण कर, विचार-क्षम कर, उसमें स्मरणशक्ति, मननशक्ति, ग्रहणशक्ति, संवेदनाशक्ति आदिका समुचित विकास करते हुए सत्यासत्य, न्यायान्याय, विवेक आदिसे समाजकी बुराइयोंको मिटाकर समाजकी नवरचना करनेको प्रवृत्त करते हैं। वचनकारोंकी दृष्टिसे यही अपने जीवनको परमात्मार्पण करनेकी पूर्व तैयारी है। इसीसे साधक अपने जीवनको परामात्मार्पण करने योग्य होता है प्रथम कायार्पण, फिर करणार्पण, प्राणार्पण, भावार्पण, और आत्मार्पण, यह परमात्मार्पणकी सीढ़ी है। संपूर्ण विकसित स्वस्थ सत्कार्य-प्रवृत्त शरीर कायार्पणसे शुद्ध होगा। वही बात मन, प्राण, भाव और आत्मार्पणकी है। सुतीक्ष्ण, स्मरण-शील, विचार-क्षम, प्रगल्भ मन ही ईश्वरार्पण करने योग्य है, न कि मारा हुआ, कुचला हुआ, निर्बल मन ! सुपुष्ट स्वस्थ शरीर, मन, प्राण, भाव, आदि परमात्मार्पण करनेसे शुद्ध होते है। इससे चित्त-शुद्धि होती है। आत्म-शुद्धि होती है। और शुद्ध आत्माको ही परमात्माका साक्षात्कार होता है। जैसे सधे हुए हाथीसे जंगली हाथी पकडवाया जाता है वैसे ही परमात्म-गुणोंसे युक्त आत्मासे ही परमात्माका साक्षात्कार होता है। आत्म-शुद्धिके लिए सबसे पहले तन, मन, वचन, प्राण आदि शुद्ध, स्वस्थ, निःकाम, निष्पाप, करके फिर आत्मार्पण द्वारा परमात्म-प्राप्ति करनी होती है।

वचनकारोंका यह पूर्णार्पण साक्षात्कारकी पूर्व तैयारी है। वचनकारोंका साक्षात्कार कोई निर्विकल्प समाधिमें होने वाला क्षणिक साक्षात्कार नहीं है। उनका साक्षात्कार सतत-सर्वत्र परमात्म-रूप देखनेका साक्षात्कार है। इसमे संशय नहीं कि वे अन्तः चक्षुओं से सतत अपने मनकी नोकके छोरके उस पार रंग-रूप-रहित प्रतीक देखनेमें तल्लीन रहते थे, किन्तु बाह्य चर्म-चक्षुओं से सदैव और सर्वत्र उसीका प्रकाश देखते थे। उनकी दृष्टिसे विश्वमें ऐसा कोई कार्य नहीं होता था जिसमें उस मंगलमय परमात्माका हाथ न हो, ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ मंगलमय परमात्माका वास न हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जहाँ उनकी दृष्टि नहीं। इसलिए वह समग्र विश्वको शिव-स्वरूप देखते थे। तभी उनके मुखसे यह शब्द अनायास निकल पड़ते थे "मरणवे महा नवमि" "मरण ही महा नवमी है"। तभी वह निर्भय होकर स्पष्ट घोषणा कर सकते थे कि शिव-साधनामें ब्राह्मण और चांडाल एक समान हैं। उन्होंने कभी इस विश्वको अथवा विश्वके व्यापारको हेय नहीं माना। वे इसको मंगलमय परमात्माकी लीला मानते आये थे। उन्होंने इस विश्वके किसी भी व्यापारके लिए यह उच्च है, वह नीच है, यह हेय है वह श्रेय है ऐसी भाषाका उपयोग नहीं किया। उन्होंने सबको ईश्वरका प्रसाद माना। भोगको भी प्रसाद-ग्रहण समझा और समग्र

विश्वमें विश्वव्यापीको देखते हुए 'ईशावस्यमिदं सर्वं यत् किंचित् जगत्यां जगत्' भावनासे जीवन-यापन किया। भुक्ति-मुक्तिमें सामरस्य निर्माण किया। उन्होंने न भोगको प्राधान्य दिया न भोगका तिरस्कार किया। न उन्होंने प्रवृत्तिका तिरस्कार किया न निवृत्तिको स्वीकार किया। उन्होंने निवृत्तिको सब कुछ मानकर निवृत्तिके प्रचारकी महानतम प्रवृत्ति नहीं की। उन्होंने निवृत्याभिमुख प्रवृत्ति सिखाई और प्रवृत्तिकी अविरोधी निवृत्ति। उन्होंने अपने साथियोंको समझाया कि विश्वका प्रत्येक कार्य परमात्माके संकल्पसे होता है, हम सब उसकी संकल्प-पूर्तिके साधनमात्र हैं। इस प्रकार सामूहिक रूपसे निरहंकार, निराभार जीवनका पाठ पढ़ाया।

वस्तुतः परमात्मा द्वारा निर्मित इस विश्वमें अपने पास जो कुछ है वह सब कुछ अन्य मानव-बन्धुओंकी सेवामें नम्र भावसे समर्पण करके निराभार होकर जीनेसे बढ़कर और कोई परमार्थ है नहीं। अनन्य भावसे अपनी सभी शक्तियोंका समुचित विकास करते-करते, उन विकसित शक्तियोंको परमात्माके कार्यमें समर्पित कर उनका शुद्धीकरण करते-करते, संसारके सभी मानवोंको अपना बन्धु मानकर नम्रतासे उनकी सेवा करनेसे मानवके मनपर बैठा हुआ 'मै'-रूपी अहंता और 'मेरा'-रूपी ममताका भूत भाग जाएगा। जैसे-जैसे अहंता और ममतासे भरा हुआ यह जीवन-कलश रीता होता जाएगा परमात्मा-की कृपासे वह भरता जाएगा। जैसे-जैसे परमात्माकी कृपा बढ़ती जाएगी उनके संकल्पका ज्ञान होता जाएगा। जैसे-जैसे साधक भगवानके संकल्पसे काम करता जाएगा अपना संकल्प गलता जाएगा। जब 'अपना' संकल्प ही नहीं रहा तब साधक परमात्मामें विलीन होकर समरसैक्यके शाश्वत सुख-साम्राज्यका सम्राट् बनेगा। वह स्वयं परमात्म-रूप हो जाएगा तब पूजक, पूज्य, पूजा इस त्रिपुटीका एकीकरण हो जायगा। इसीको मुक्ति कहते हैं। वचनकारोंका यही साधना-मार्ग है। यही शिव-शरणोंका शरणमार्ग है। यही शिव-योगियोंका समन्वय-जन्य पूर्णयोग है। यही उनकी परमात्मा-पूजा है, शिव-पूजा है।

इस शिव-पूजामें भी वे सदैव दक्ष हैं कि कहीं इसका दंभ न हो, इससे दुराचार न फैले, इसमे कहीं दायित्वहीनताकी दुर्बलता न आए! उन्होंने दिखावे के लिए, कीर्तिकी आशासे, अंहकारसे, अभिमानसे 'कुछ भला काम करनेवालोंको' फटकारा है। उन्होंने कहा है, "इससे साधक अधिकाधिक बंध जाएगा!" समाजमें दंभाचार बढ़ानेवाली पूजा, हवन, होम, भजन, नाम-संकीर्तन आदिके लिए उनके साधना-मार्गमें यत्किंचित् भी स्थान नहीं है। उनकी दृष्टिसे शुद्ध नैतिक जीवन सबसे श्रेष्ठ साधना है। शुभाशुभ, सगुन, मुहूर्त, ज्योतिष, स्वप्न, आदिकी वहाँ कोई पूछ नहीं। उनकी दृष्टि से यह सब मानसिक दुर्बलताकी

परमावधि है। वे पूछते हैं, "बिल्ली का रास्ता रोकना और तुम्हारे कार्यमें क्या सगाई है?' वे दूसरोंके धनकी इच्छा, परस्त्रीकी कामना, निंदा, चोरी, विश्वास-घात, असत्य वचन, भिक्षावृत्ति, आलस्य, मांसाशन, मद्यपान आदिके विरुद्ध मानों नंगी तलवार हाथ में लेकर घूमते है। वे पुनः-पुनः यह कहते हुए नहीं थकते कि मनुष्योंको अत्यंत निर्दयताके साथ अपने दुराचार तथा अपनी दुर्बलताओंको कुचल देना चाहिए। वे केवल उपदेश देकर ही चुप नहीं होते। उनकी यह भी मान्यता है कि व्यक्ति समाजका एक घटक है। समाज सुधारके अभावमें व्यक्तिका सुधारना आसान नहीं है। इसलिए समाजमें साम्य, स्वातंत्र्य, धर्म, बोधव्य, कायक, अपरिग्रह, गुणग्राहकता आदिकी नीव पर उन्होने नई समाज-रचनाका भी प्रयत्न किया। कपट, ईर्ष्या, आपसकी प्रतियोगिता आदि सामूहिक जीवन-विकासके लिए विषप्राय है। इससे उच्च-नीच भाव, दुरभिमान, असहकार, संघर्ष आदि बढ़ते हैं। इसलिए उन्होने इसकी जड़में जो धर्म-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, लिंग-भेद आदि है उसके विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होने जन्मगत श्रेष्ठता के स्थान पर कर्मगत अथवा गुणगत श्रेष्टताको स्वीकार किया। लोगोंको सत्कर्म-प्रवृत्त किया। सद्गुणोकी पूजासे समाजमे गुण-विकासकी साधना चलायी। "स्त्रियों को पूजाका अधिकार नही" "मन्त्रका अधिकार नही" आदि इन परम्परागत रूढ़ियोंके विरुद्ध "स्त्री जगदंबा है" "वह महादेवी है" "वह लोक-माता है" आदि घोषणाओंने नये भाव भर दिये। स्त्रियोंको "धर्म-माता" "धर्मभगिनी" आदिके रूपमें समाजमें समान और सम्मानका स्थान दिलाया। वचनकारोंकी दृष्टिमें शिव-पथ पर कोई भेद-भाव नही। लिंग-भेद नही, जाति-भेद नहीं, वर्ण-भेद नहीं, कर्म-भेद नहीं। उन्होने कहा, हम सब एक ही परशिवकी संतान हैं इसलिए भाई-भाई हैं। आइये! बड़े, छोटे, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, चांडाल गोपाल, भूपाल, पंडित, पामर, ज्ञानी, अज्ञानी, विज्ञानी, तत्वज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी, सैनिक, सेनापति, कलाकार, साहित्यिक, शिक्षक, भिक्षुक, साधु, सन्यासी सभी आइये! हम सब एक ही परमात्माके वंशज हैं, अमृत पुत्र हैं, हम अपने सब क्षुद्र मत-भेदोंको भूल जाएँ! उच्च-नीच भावको भूल जाएं, शासक और शासित भेदको भूल जाएं! शोषक और शोषित भेद को भूल जाएं! अहंकार, दुरभिमान रागद्वेष आदिको भूल जाएं! परमात्माने मानव मात्रको जो यह भिन्न-भिन्न शक्तियाँ दी हैं वह सब परमात्माके इस विश्व-संगीतमें साथ देनेवाले वाद्य-वृंद हैं। आइये! हम सब अपने-अपने वाद्योको आवश्यकतानुसार कसकर, ढीला कर, ठोक-पीट कर, संस्कृत करें, शुद्ध करें, जिससे विश्वात्माके विश्व-संगीतमें कोई बेसुरापन न आये! उसके साथ एक-तानता हो, एक स्वर हो, वह विश्व-संगीत दिव्य हो, भव्य हो, पवित्र हो, पावन हो, जिससे उस संगीत-माधुरीमें तल्लीन

मानव-कुल, अपना सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, पाप-पुण्य, ईर्ष्या-द्वेष आदि विकारोंको भूल जाएं ! देवके दिव्य संगीतकी धुनमें समग्र मानव-कुलका दिव्यीकरण हो। वह परम सत्य अपने संगीतके वाद्योंमें उतर आये। हम सबका स्वर विश्वात्माकी वीणाकी टंकार हो। सुनो ! विश्वात्माके दिव्य संगीतका स्वर सुनो ! वह तुम्हें पुकार रहा है। तुम उस महान संगीतकारके साथी हो। अपना-अपना वाद्य उस दिव्य संगीतके स्वरमें मिला कर गा उठो। और दिव्य बन जाओ ! भव्य बन जाओ !! अमर बन जाओ !!!

यह है कन्नड़ वचन साहित्यका दिव्य संदेश। यह है शिव-शरणोंकी अमर युगवाणी। यह उस समयमें भी युगवाणी थी, आज भी युगवाणी है और हजार साल बाद भी युगवाणी रहेगी। जब तक विश्वमें एक भी मानव अपूर्ण रहेगा, उसका दिव्यीकरण होना बाकी रहेगा, विश्वके किसी कोनेमें दु.खकी किंचित्‌भा छाया होगी तब तक शिवशरणोंकी यह पुकार युगवाणी बनी रहेगी। ऐसी है यह नित्य नूतन अमर युगवाणी।

वचन-खण्ड

परमात्मा अथवा परात्पर सत्य

विवेचन—सदैव अपरिवर्तनीय, सदा एकरूप, अबाधित रहनेवाला तत्वही परात्पर सत्य है। संपूर्ण चैतन्य अथवा चिन्मय होनेसे उसको चित् कहते हैं अथवा परमात्मा कहते हैं।

हमारी आंख, नाक, जिह्वा, त्वचा तथा हमारे कान, इन पाँच ज्ञानेंद्रियोंको ज्ञात होनेवाली सब वस्तुएँ प्रति-क्षण परिवर्तनीय स्वभावकी हैं। इन वस्तुओंके उस पार अथवा इन वस्तुओंके अन्दर इन सबके आधारभूत अपरिवर्तनशील एक नित्य सत्य तत्व है। वह देश-कालसे अतीत है। वह मानव-बुद्धिके लिये अगोचर है। उसको जानना मनुष्यकी बुद्धि-शक्तिसे परे है किन्तु "वह है" इसकी प्रतीति अथवा इस विषयका स्फूर्त-ज्ञान मनुष्यकी निरपेक्ष शुद्ध बुद्धिको होता है। वह "एकात्म प्रत्यय सार" सा है। समाधि-स्थितिमें जब चित्त सत्य वस्तुमें विलीन होता है तब "वह एकरूप एकरस है" इसकी प्रतीति होती है। ऐसे समय जो-जो अनुभव हुए, उन सब अनुभवोंको कुछ 'अनुभावियों'[1] ने अनेक प्रकारसे व्यक्त किया है। वही सत्य स्वरूपका वर्णन है। वही परमात्माका वर्णन है। इस प्रकारसे जिसका वर्णन किया गया है वही परात्पर सत्य है। वही परमात्म-तत्व है।

वचनकारोंका कहना है कि उस तत्वका यथार्थ वर्णन करना असंभव है। इसलिये उसको अवर्णनीय कहते हैं। वह अनिर्वचनीय है। वाङ्मनके लिए अगोचर है। यह विश्व परिवर्तनीय है अर्थात् शीत-उष्ण, अंदर-बाहर, साकार-निराकार, सुख-दुःख, आदि द्वंद्वों अथवा सापेक्ष गुणोंके आधीन है। परमात्म-तत्व अपरिवर्तनीय है अर्थात् इन सापेक्ष गुणोंके परे है। वह नाम, रूप, गुण आदिसे अतीत है। यदि उसकी तुलना करनी ही हो तो आकाशसे कर सकते हैं। आकाशका आकार और अंत जाननेवाला भी कोई है? सत्य भी आकाश की तरह सर्वत्र, सर्वव्यापी है। उसीको वचनकारोंने आत्यंतिक सत्य, परमात्मा, आत्मा, शून्य, शून्य लिंग, निरवय, चित्, आदि कहा है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ये सब नाम यथार्थ हैं। ठीक अन्वर्थक हैं। क्योंकि वह अवर्णनीय है। कोई भी शास्त्र, उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। केवल उस ओर संकेत भर कर सकता है।

---

१. अनुभावी—साक्षात्कारी।

वचन—(१) अजी ! निरवय, शून्य लिंग-मूर्तिका दर्शन न साकार ही है न निराकार ही, निरवय, शून्य लिंग-मूर्ति न आदि है न अनादि, न इस लोककी है न परलोककी, न सुखकी है न दुःखकी। निरवय, शून्य लिंग-मूर्ति न पापमें है न पुण्यमें (न पापकी है न पुण्यकी) न कर्तृ न भर्तृ, न कार्य-कारणकी है, न धर्म-कर्मकी है और न पूज्य-पूजक ही है। इस प्रकार इन द्वंद्वोंका, उभय का, अतिक्रमण करके प्रकाशती है वह **गुहेश्वर लिंग मूर्ति**[1]।

टिप्पणी:—निरवय शून्य लिंग-मूर्ति=किसी प्रकार गोचर न होने वाली केवल चिद्घन वस्तु, केवल चैतन्य-पूर्ण तत्वका बोध चिन्ह ही लिंग है। वह केवल शून्यका बोध कराता है इसलिए शून्य लिंग है।

द्वंद्वोंका अतिक्रमण करके द्वंद्वसे परे जा करके, मूल शब्द "उभय वळिदु" है; "उभय"का अर्थ है द्वंद्व और "अळिदु"का अर्थ मिटाकर ऐसा होता है। मिटानेका भाव व्यक्त करनेके लिए "अतिक्रमण" शब्दका प्रयोग किया है।

(२) न अन्तरंग है न बाह्यांग, न अर्घ्य है न जटा-जूट, न अन्य शरीर कुछ भी नहीं है; दश दिशाएँ, विश्व, संसार, ऐसा कुछ भी नहीं, स्थिर-स्थावर, आत्माओंका आधार अथवा कर्त्ता, कुछ भी नही ! ऐसा सर्व शून्य निरालंब है न तू **महालिंग गुरु सिद्धेश्वर प्रभु** !

टिप्पणी:—सर्व शून्य=अगोचर सत्ता ही शून्य है। श्रुतियोंमें "नेति-नेति" कहकर जिसका वर्णन किया है वही शून्य है।

(३) तुम न पृथ्वीमें हो न आकाशमें, इस त्रैमंडलके आधारभूत भी नहीं, होम, नेम, जप, तपमें भी नहीं, तब तुम्हें कौन जानेगा ? हरि-हर-ब्रह्मको भी अगोचर, निरवय, निरंजन, वेद भी जिसे "नहीं" कह कर जानते हैं। श्रुति-स्मृति-शास्त्र भी तुम्हें नहीं जानते, आकाश-कमलकी सुगंधके उस पार रहने वाले **गुहेश्वरा** तुम्हारे रहनेका ठांव कौन जाने ?

टिप्पणी:—त्रैमंडल=पाताल, पृथ्वी, स्वर्ग; निरंजन=शुद्ध, निष्पाप, निर्दोष; आकाश-कमलकी सुगंधसे उस पार=आकाश-कमल ही काल्पनिक है, उसकी सुगंध और अधिक काल्पनिक, उसके भी उस पार अर्थात् कल्पनातीत, कल्पना की सीमासे परे।

(४) अपने आप न आदि है न अनादि, न अजांड ब्रह्मांडमें है, नाद बिंदु कलातीत, जन-परमोंका भी नहीं है। नाम-रूप-क्रियातीत, सचराचर रचनामें भी न आनेवाला, पर, अखंड, परिपूर्ण, अगम्य, अगोचरके परेका महाधन चैतन्य **अप्रमाण कूडल संगम देवा**।

---

१. मोटे अक्षरों में छपे वाक्यांश वचनकारकी मुद्रिका है।

टिप्पणी:—नाद बिंदु कला=अव्यक्तशक्ति पहले नाद रूपसे, बादमें बिंदु रूपसे, उसके बाद कला रूपसे व्यक्त हुई तब अनेकरूप सृष्टि हुई ऐसी मान्यता है। अजांड=ब्रह्मांड; जन परम=श्रेष्ठ जन; चैतन्य लिंग=चिद्रूप लिंग।

(५) वचनोंकी रचना बातोंका समूह नहीं है रे! देख करके बखान करने वाले सब उस मूर्तिमें विलीन हो गये। वेद-शास्त्र, श्रुति-स्मृति सब "नहीं दीखता" यही कहते रह गये। तीनों लोक जानते हैं गुहेश्वर साक्षी है देख इसका सिद्ध रामय्या।

टिप्पणी:—यह वचन अल्लम प्रभुने सिद्ध रामय्यासे कहा था। इसका तात्पर्य, अनंत वचनोंकी रचना करनेपर भी परमात्म-स्वरूपका वर्णन करना असाध्य है।

विवेचन—दृश्य जगतको देखनेवाली हमारी सामान्य दृष्टिसे केवल शून्यकी तरह दीखनेवाला, अव्यक्त, सनातन, द्वंद्वातीत सृष्टिके आदिमें रहनेवाला, अगोचर, अगम्य तत्व, उपर्युक्त ढंगसे बखाना गया है। वह तत्व शून्य रूप है, वह एक-मेव अज्ञेय तत्व है। वह स्वयंभू है, इस विषयमें अनेकानेक वचन हैं। वचन-कारोंने कभी-कभी उस तत्वको पुरुषाकार मानकरके भी वर्णन किया है तो कभी-कभी केवल चिन्मय मानकर वर्णन किया है। इसलिये कहीं-कहीं "वह" "यह" (कन्नड़ में नपुंसक लिंगी "अदु" "इदु" और कहीं-कहीं "मैं" "तुम" (कन्नड में "नानु" "नीनु") संबोधन पाया जाता है। "नानु" अर्थात् "मैं" नामका व्यक्ति जब "अदु" "वह" (कन्नड़में नपुंसक लिंगी) नामकी दिव्य शक्ति है इस रूपमें उस सत्यकी ओर देखता है तब वही ईश्वर-सी लगती है। दार्शनिक उस शक्तिको अव्यक्त, निर्गुण, शून्य आदि कहते हैं तो भक्त उसीको अनंत गुण, अनंत शक्ति-सम्पन्न, अनंत रूप, आदि कहते हैं। एकही गुणातीत शक्ति, ज्ञानकी दृष्टिसे निर्गुण और भावकी दृष्टिसे सगुण सी लगती है।

वचन—(६) काल-कल्पित कुछ न होकर तुझसे ही तू हुआ है न? तुम्हारे परमानंदके प्रभावके परिणाममें अनंत काल ही था न? तुम्हारी स्थिति[1] तुम स्वयं जानते हो न? तुम्हारा निजभाव[2] तुमही जानते हो न कूडल चन्न संगम देव।

टिप्पणी:—१ मूलशब्द निलवु है, उसके स्थान और स्थिति ऐसे दो अर्थ हैं। २ आत्मभाव, सत्य भाव।

(७) जानता हूँ कहनेसे अज्ञानका ही बोध होता है। (उससे) न जाननेका ही भाव स्पष्ट होता है देख, घनके लिये वह स्वयं घन है देख, चन्न मल्लिकार्जुन बिना निर्णयका ही रह गया।

(८) जो क्रियायें तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकती उनसे मैं तुम्हारी पूजा कैसे करूँ ? मेरे नाद-बिन्दु जहाँ पहुँच नहीं सकते वहांका तुम्हारा गान मैं कैसे गाऊँ ? शरीर पहुँचना तो दूर रहा जिसकी गहराईमें दृष्टि भी नहीं पहुँचती उसे हथेली[1] पर कैसे उठाऊँ ? **चन्न मल्लिकार्जुना** तुम्हें देख-देखकर मैं चकित होती रहती हूँ !

(९) बिना मां बापके बच्चे ! तुझसे तू ही पैदा होकर बढ़ता-बढ़ाता रहा न ? अपने परिणामसे ही तुझे जीवन मिला है न ? भेदकोंके लिए अभेद्य होकर तुझे तूही प्रकाशित कर रहा है न ? तेरा चरित्र तू ही जान सकता है **गुहेश्वरा** !

टिप्पणी:—जीवन मिला है इस अर्थके लिये मूल वचन में "प्राण-प्राप्ति" शब्द प्रयोग किया गया है।

(१०) सहस्र कुओंके जलमें प्रतिबिंबित होनेवाला सूर्य एक ही न होकर अनेक है क्या ? सब देहोंमें भरकर, भ्रममें डालने वाली पर-वस्तु बिना तेरे और कोई नहीं है **अखंडेश्वरा**।

(११) दो, तीन, चार ईश्वर हैं ऐसा अहंकार से न बोला कर। ईश्वर एक ही है देख ! दो तीन चार कहना असत्य है रे ! **कूडल संगम देव के** अलावा और कोई ईश्वर नहीं कहते हैं वह वेद !

(१२) वह सत्यवस्तु एक ही हैं। अपनी लीलामें अनेक होनेकी कला जाननेवाला वह एक ही है। अपने अलावा और कुछ न होनेका भाव अपने आप होता है **सिम्मलिगेय चन्नराम**।

(१३) शून्यमें शून्य मिलनेकी सीमारेखा क्या होगी ? दूधमें दूध मिलनेपर क्या उन दोनोंको अलग करके पहचाना जा सकता है ? तुममें मिलकर विलीन होनेके बाद भी तुममें मिलने वालेका चिन्ह बना रहेगा क्या **अखंडेश्वरा**।

टिप्पणी:—"तुममें मिलनेके" अर्थमें मूल वचनमें "निजैक्य" शब्द है। कन्नड़में निज शब्दके दो भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। एक सत्य और एक अपने आप अतएव "निजैक्य प्राप्त" होनेका "अपने आपमें अथवा सत्यमें विलीन" होना दोनों ही अर्थ होते हैं।

(१४) आदि-अनादि नहीं कहकर, अंहता-ममता नहीं कहकर, शुद्ध-अशुद्ध नहीं कहकर, शून्य-निःशून्य नहीं कहकर, समस्त चराचर सृष्टि नहीं कह कर, **गुहेश्वरा** तू अकेला ही न होनेके समान रहा है न !

(१५) पृथ्वीका गोला निगलकर, पानी सब पीकर, आगको कुचल कर,

---

१. वीरशैवोंमें हथेलीपर शिवलिंग रखकर पूजा की जाती है।

वायुको पकड़कर, आकाशका अतिक्रमण कर, मध्याकाशके शून्यमें खड़े होकर देखनेसे, सर्व-शून्य निराकारीकी निराकार स्थिति दीख पड़ेगी। उस निराकार स्थितिमें बसव प्रभु आदि शिव-भक्त विलीन हो गये हैं, यह जानकर **स्वतंत्र सिद्धेश्वर** भी उसमें विलीन हो गया।

टिप्पणी:—बसव प्रभु=श्री बसवेश्वर और अल्लमप्रभु दोनों कर्नाटकके महान शैव संत हैं।

इस वचनका अर्थ करते हैं कि पंच महाभूतोंका अतिक्रमण करके निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होनेपर परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

सृष्टि

विवेचन—पिछले अध्यायमें परात्पर सत्यका वर्णन किया गया। वह वर्णन दृश्य जगतके उस पार जो अदृश्य तत्व है उसका था। उस अदृश्य तत्वको समाधि स्थितिमें स्थिर होनेसे जाना जा सकता है। अर्थात् वह समाधि स्थितिमें प्राप्त प्रतीतिका वर्णन था। किंतु इस चित्तका दूसरा भी अनुभव है। चित्त सदा-सर्वदा समाधि स्थितिमें ही स्थिर नहीं रहता। वह अन्य अनेक बातोंमें उलझता भी है। उस समयका अनुभव विश्वका अथवा विश्वकी विविधताका अनुभव है।

ज्ञानका प्रमुख साधनही चित्त है। इस साधनसे आत्यंतिक सत्य सागरकी गहराई देखनेका प्रयास किया जाय तो उसकी तह तो नहीं मिलती किंतु हमारा चित्त ही उसमें डूब जाता है। जब हमारा चित्त उसमें डूब जाता है तब तदाकार हो जाता है, जैसे नमकका पुतला पानीमें डूबकर स्वयं पानी बन जाता है। तब भला वह "अपना" अनुभव कैसे कहेगा? कल्पनामें न आनेवाले, शब्दोंमें न गूंथे जानेवाले, उन अवर्णनीय अनुपम अनुभवोंको जिन महापुरुषों ने प्राप्त किया है, तथा जिस ढंगसे प्राप्त किया है उसका द्वैत, अद्वैत, विशिष्टा-द्वैत आदि परिभाषामें उन्होंने वर्णन किया है। वह तत्व अज्ञेय है, इसलिये किसी भी प्रकारसे तथा कितनी ही भाषा-चातुरीका प्रयोग करके, उसका वर्णन किया जाय तो भी वह अधूरा ही रहता है। उसका पूर्ण वर्णन करना असंभव है। इस प्रकारके वर्णनके शब्द अलग-अलग होते हैं किंतु वह परमानुभव एक ही है। एक ही परमानुभवको भिन्न-भिन्न प्रकारसे, भिन्न-भिन्न शब्दोंसे वर्णन किया जाता है किंतु वह परमावधिका आनंदानुभव एक ही है। सभी मुक्त कंठसे उसीका वर्णन करते हैं।

उस अनुभवको आत्यतिक सत्य माननेपर भी जीवनमें वह नित्य नहीं है। पराकाष्ठाके प्रयत्नोपरांत प्राप्त किया हुआ वह अनुभव भी क्षणिक होता है। वृत्तिरूप होता है। स्थिति रूप नहीं। इसमें संशय नहीं कि वह मानवी चित्तका आत्यंतिक और अत्युच्च अनुभव है, वह जीवनमें सर्वोपरि, अत्यंत प्रिय और इष्ट है यह सब होने पर भी हमारी ज्ञानेद्रियां, इस विश्वका अनुभव करती ही हैं। हम सदैव आकाशसे परिवेष्टित रहते है, उसीमें चलते फिरते रहते हैं किंतु उसका ज्ञान व भान हमें नहीं होता, वैसे ही हम उस परमात्म-तत्वमें पैदा हो करके, उसीमें जीवन व्यतीत करनेपर भी अपने चित्तकी अनेक व्यग्रताओंके कारण उस सत्य-तत्वका ज्ञान और भान नहीं कर पाते।

ग्रात्यंतिक सत्यका अनुभव द्वंद्वातीत होता है, निरपेक्ष होता है, एकरस और एकरूप होता है, वह देश-कालके परेका होता है, किंतु सामान्य अनुभव देश-कालके अन्दरका होता है। द्वंद्वसे पूर्ण होता है। सापेक्ष और विविध परिवर्तनशील होता है। पहला अनुभव सत्यका अनुभव है और दूसरा अनुभव सृष्टिका है। ये दोनों अनुभव प्रत्यक्षानुभव हैं। पहला अनुभव आंतरिक अनुभव है तो दूसरा बाह्य है। पहला ज्ञान चक्षुओंको सूझता है तो दूसरा चर्मचक्षुओंको दीखता है। जो अनुभव आन्तरिक है, ज्ञानचक्षुओंको सूझने वाला है वह तात्विक सत्यका अनुभव है और जो चर्मचक्षुओंको दीखता है वह व्यावहारिक सत्यका है। आत्यंतिक सत्य स्वयंभू है और व्यावहारिक सत्य उसका प्रतिबिंब है। उस तात्विक सत्यका अवलंबन करता है। इस व्यावहारिक अनुभवके आधारभूत यह विविधतापूर्ण सृष्टि कहांसे और कैसे आई यह प्रश्न अब हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं।

वचनकारोंने इस प्रश्नका उत्तर दिया है कि उस अनंत सत्य-तत्वने, उस महाशक्तिने अपनी लीलाके लिये इस सांत, विविधतापूर्ण सृष्टिका सृजन किया है। यदि दार्शनिक दृष्टिसे यही बात कहनी हो तो "इस प्रकार विविधतापूर्ण सृष्टिके रूपमें दीखना सत्यका एक स्वभाव ही है" ऐसा कह सकते हैं। सत्य अपने आपमें सृष्टिका सृजन करके उसीमें अव्यक्त रहकर, चैतन्यात्मक भावसे सर्वव्यापी होकर स्वयं निर्लिप्त रहता है। आगत वचनों का यही भाव है।

वचन—(१६) महाकर्त्ताने अपनी शक्तिके विनोदके लिये विश्वका सृजन किया। अनंत लोक, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् और प्रकाशको, देशकाल, कर्म और प्रलयको, नर-मादा, भिन्न-भिन्न जातिके प्राणी, सुर-असुर, मानवेतर प्राणी, जलथल, योग-भोग, आयुष्य, निद्रा-स्वप्न, जागृति आदि समस्त संसारको, चौरासी लक्ष जीवयोनियोंमें सृजा अपने विनोदके लिये। इस यंत्र-चालकके नियमोंको कोई नहीं जानता। सब आत्माएँ मलपाशसे बँधकर पशु बनीं और वह स्वयं पशुपति बना हमारा **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वर।**

टिप्पणी:—मलपाश=आणव मल, माया मल, कार्मिक मल नामके त्रिदोष बंधन। पशुपति-पशुपक्षियोंकी रक्षा करनेवाला, पापविद्ध प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला।

(१७) बंधन रहित निर्लिप्त प्रभो! तुम्हीसे तुम शून्यमें रहकर स्वयंभू बन गये न? बीज-वृक्षकी तरह तुम ही साकार-निराकार बन गये न? महाकर्त्ताने अपनी शक्तिके विनोदके लिये इस विश्वकी रचना की **स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वर।**

(१८) घन गंभीर महासागरमें फेन, तरंग और बुदबुद, यह सब पानीसे अलग है क्या ? आत्मरूपी महासागरमें सकल ब्रह्मांडकोटि अलग हो सकती है क्या ? इन सबको अलग-अलग कहने वाले अर्ध-पागलोंको क्या कहें ? विश्वको जानकर देखनेसे वह **सिम्मुलिगेय चन्नराम** लिंगसे अलग नहीं है।

(१९) अपनेमें ही अनंतकोटि ब्रह्मोंकी उत्पत्ति-स्थिति-लयादि है। अपनेमें ही अनंतकोटि विष्णु आदिकी उत्पत्ति-स्थिति-लयादि है। अपनेमें ही अनंतकोटि देवताओंकी उत्पत्ति-स्थिति-लयादि है। आपने आप स्वयं ही अखंडित अप्रमेय, अगणित, अगम्य, अगोचर है देख **अप्रमाण कूडल संगम देव**।

(२०) तुमने समुद्र पर पृथ्वी रख दी है अडोल-सी। बिना नींव आधारके आकाश धर दिया। अरे शंकर! बिना तेरे और देवताओंसे यह संभव है क्या **रामनाथ** ?

(२१) तुम्हारे सत्यका अंत जाननेवाला भला कौन है ? चतुर्दश भुवन सब तेरे आधीन हैं। तुमसे भी कोई बड़ा है क्या **कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन** ?

विवेचन—अनंत अव्यक्त शक्तिने अपने मनोरंजनके लिये अपने ही एक अंशसे विविधतापूर्ण विश्वका सृजन किया और वह स्वयं निर्लिप्त रही। दार्शनिकोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह सारा संसार, चित्‌से अभिन्न है जैसे फेन, बुदबुद, तंरग आदि समुद्रसे अभिन्न हैं। किंतु व्यावहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो कार्यकर्म न्यायसे यह सृष्टि आत्मासे भिन्न है। केवल आत्मा ही स्वतंत्र है; और सब उसके आधीन हैं। सारा विश्व आत्माका आविर्भाव है इसलिये "सारा विश्व आत्मा है" ऐसा कह सकते हैं क्या ? नहीं! क्योंकि वह केवल आविर्भाव ही है। एक अंशमात्र है और मायासे आवृत है। इसमें भी वह है किंतु यही वह नहीं है। वह इससे परे भी है।

वचन—(२२) अद्वैत साधना करनेवाले "सब कुछ शिव है" कहते हैं। ऐसा नहीं कह सकते। सबका लय-गमनादि है किंतु शिवका नहीं है। यंत्रचालक सर्वत्र परिपूर्ण है कहनेसे क्या सबको परिपूर्ण शिव है कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। **निजगुरु स्वतंत्र सिद्ध लिंगेश्वर** जलमें पद्मपत्रकी तरह उसमें डूबकर भी निर्लिप्त है।

(२३) पारसकी प्रतिमापर लोहेके आभरण कैसे पहनाये जा सकते हैं ? लिंगमें लोक और लोकमें लिंग हो तो अब तकके प्रलय कैसे बने ? और आने वाले प्रलय क्योंकर होंगे ? लोक लोक-सा है और लिंग लिंग-सा है। इन दोनोंका भेद **गुहेश्वरा** वही जानते हैं जो तेरी शरण आए हैं।

विवेचन—सत्यके अंश मात्रसे निर्मित यह विश्व विश्वेश्वर नहीं है किन्तु वह इस विश्वमें सर्वत्र भरा है। वह सर्वव्यापी है। वह विश्व-व्यापी ही नहीं

विश्वातीत भी है। वह अव्यक्त रूपसे सर्वत्र विराजमान है। वह केवल चैतन्य रूप है। वह सचराचर वस्तुमात्रका कारण रूप है फिर भी सबसे अलिप्त है। अगम्य है। इसलिये वह सब कुछ करके भी न करने वालेका-सा रहता है। वह निरंहकारी, निरपेक्ष, निर्लिप्त है इसलिये सबमें व्याप्त रहकर भी सबसे अतीत भी है।

वचन--(२४) जहां कहीं देखता हूं तू ही तू है प्रभो! इस सारे विस्तारका रूप तू ही है। तू ही विश्वतोचक्षु है, तू ही विश्वतोमुख है, तू ही विश्वतोबाहु है, तू ही विश्वतोपाद है **कूडल संगम देव**।

(२५) यह पृथ्वी तुम्हारा दिया हुआ दान है, इसमें से उत्पन्न होनेवाला धन-धान्यादि तुम्हारा दिया हुआ दान है, सर्वत्र सूंय-सूंय करके चलनेवाली हवा तुम्हारा दिया हुआ दान है, तुम्हारे दिये गये दान पर जीकर औरोंका यशोगान करनेवाले कुत्तोंको मैं क्या कहूँ **रामनाथ** ?

(२६) इस तरह बसी हुई इस भूमि, फैले हुए आकाश, कल्लोल करनेवाले सप्त सागर आदिमें सर्वत्र समाये हुए अचिंत्यको कौन जानता है भला **रामनाथ** ?

(२७) अणुसे भी अणु, महानसे भी महान, अनगिनत, असंख्येय, ब्रह्मकी समानता भला कौन करेगा? अगणित, अक्षय, सर्व-जीवमन: प्रेरक सर्वज्ञ, एको·देव, सर्व-संवित्प्रकाश परमेश्वरको, मन रूपी दर्पणमें, बिंद्वाकाश रूप होकर प्रकाशनेवाले शिवको देखकर उसमें विलीन होनेवाला ही शिवयोगी है। वह जनन-मरण-रहित है। वही सर्वज्ञ है। अधिक क्या कहूँ वह स्वयं **निजगुरु सिद्ध लिंगेश्वर** है।

टिप्पणी:—संवित्प्रकाश=ज्ञानका प्रकाश, चैतन्यका प्रकाश, बिंद्वाकाश=बिंदुरूप सूक्ष्म आकाश; निर्मल आकाश।

(२८) किरणोंमें छिपी धूपकी तरह होगा तुम्हारा निवास, दूधमें छिपे घीकी तरह, चित्रकारके हृदयमें छिपे चित्रकी तरह, शब्दमें समाये अर्थकी तरह, आंखोंमें चमकनेवाले तेजकी तरह होगा **चन्न संगैया**।

(२९) तुम्हारा ठौर भूमिमें छिपी संपत्ति, आस्मानमें छिपी विद्युत्, शून्यमें छिपे किरण और आँखोंमें बसे प्रकाश-सा है **गुहेश्वर**।

(३०) फूलमें न समानेसे छलककर बाहर पड़ी सुगंधको लेकर सर-सर सरकनेवाले समीरकी तरह, अमृतके रसास्वादको जिव्हाकी नोकसे जाननेवाले मानवके चैतन्यकी तरह, स्थानविहीन रूप-शिखाके तेजमें चमकनेकी तरह **रामनाथ**।

टिप्पणी:—इस वचनका यह अर्थ माना जाता है कि रूप रहित परमात्म-तत्त्वको तेजो रूपसे प्रतीत करना होता है।

(३१) हे त्रिनेत्र ! तुम वैसे ही सबमें बसे हो जैसे मणियोंको पिरोनेवाला धागा रहता है; वैसे देखा तो तनसे भिन्न आत्मामात्र है। अणु-रेणुमें गुण भरनेवाला तू ही है यह जानकर मैं नतमस्तक होता हूँ **रामनाथ**।

(३२) शिवने अपने मनोरंजनके लिये इस अनंत विश्वका निर्माण किया। निर्माण करके वह इस विश्वके बाहर होगा क्या ? नहीं, वह स्वयं विश्वमय ही हो गया। तो क्या वह विश्व-मय होनेसे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति, लयके आधीन हुआ होगा ? नहीं, क्योंकि अजातकी उत्पत्ति कैसी ? जो कर्म रहित है वह कर्म-जालमें कैसे फंसेगा ? और अविनाशीका लय कैसे होगा ? इस प्रकार यह गुणत्रय उसको नहीं व्यापते। इससे वह निर्लेप है। बिना उसके विश्वका दूसरा आधार नहीं है इसलिये विश्वाधार विश्वसे दूर नहीं है। अपनेमें अपने सिवा दूसरोंको दिखाना असंभव होनेसे आँखोंके सामने नहीं आया। गोचर न हो करके स्वयं विश्वमय हुआ यही सत्य है। अपने मनोरंजनके लिये राजा प्यादा हो सकता है और पुनः राजा भी हो सकता है। हमारा **उरिलिंगपेद्दिप्रिय विश्वेश्वर** विश्व होना भी जानता है और विश्व न होना भी।

सृष्टिका रचना-क्रम

विवेचन—सत् नामकी निरवय, द्वंद्वातीत वस्तुसे उसके अवेद्य स्वभावानुसार सृष्टिकी रचना हुई अथवा चिन्मय रूप परमात्माने अपने संकल्पसे सृष्टिकी रचना की। दोनोंका अर्थ एक ही है। बाहरसे देखनेवालेको उत्ताल समुद्रका रूप सामान्य-तया विकृत-सा दीखता है किन्तु समुद्रकी अपनी दृष्टिसे वह विकृत नहीं होता। क्योंकि समुद्रकी सतह पर तरंगोंका कितना ही तांडव क्यों न हो, पर्वताकार तरंगें क्यों न उठें, समुद्र तत्त्वतः समुद्र ही रहता है। भले ही देखनेमें उसका रूप और कुछ दीखता हो! अनादि सत्य-तत्त्व अथवा परमात्म-तत्त्व, इस सृष्टिके आविर्भावके कारण हमारी अल्प, संकुचित दृष्टिको विकृत-सा दीखता है किंतु वह मूलतः तनिक भी विकृत नहीं होता। इसीलिये परमात्म-तत्त्वसे, जो एकजीव, एकरूप है विविधतापूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होनेपर भी, तथा वह परमात्म-तत्त्व इस विविधतापूर्ण विश्वमें सर्वव्यापी होकर भी निर्लेप है ऐसा वचनकारोंने वर्णन किया है।

शिवके विनोदार्थ इस विविधतापूर्ण विश्वकी उत्पत्ति हुई, अथवा अनेक रूप सृष्टिका सृजन हुआ। इसी क्रमसे उसका वर्णन इस अध्यायमें किया गया है।

वचन—(३३) सबसे पहले अखंडाद्वय, अनुपम, निरवय, सर्वशून्य, सच्चिदा-नंद, नित्यपरिपूर्ण, अखंड लिंगको, बिना ध्यान-पूजाके शून्यमें नहीं रहना चाहिये इस विचारसे उसने अपने स्वेच्छा-विलासके स्मरण-संकल्पसे, अपनी चित्प्रभा-शक्तिके सामर्थ्यको प्रदीप्तकर, अनन्त कोटि ब्रह्मांड तथा अनंतकोटि आत्माओं-को अपनेमें ही निर्मितकर लिया; उन आत्माओंको पच्चीस तत्त्वोंसे वेष्टित करनेसे वह आत्माएँ देह-भान प्राप्त करके, जाति, वर्ण, आश्रम, कुलगोत्र, नाम-रूपादि सीमामें, सुख दुःख, बंध-मोक्षके जालमें अपने आत्मस्वरूपको भूल जाती हैं; इन आत्माओंको काल-कामादिके वशवर्ती करके, स्वयं उनके सुख-दुःख, बंधन-मोक्षसे निर्लिप्त यंत्र-चालकके रूपमें रहकर ही वह शिवलिंग सब खेल खेलता है।

टिप्पणी:—निरवय=अखंड; निरंजन=शुद्ध, निष्पाप; लिंग=परमात्म-प्रतीक, कोटि=करोड़, अनंत कोटि आत्माओंको=अनेकानेक जीवोंको, पच्चीसतत्त्व=सांख्यके पच्चीसतत्त्व, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, और मन, पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्मेंद्रिय, पाँच तन्मात्राएँ, और पंच महाभूत, देहभान= 'यह शरीर ही मैं हूँ' ऐसी धारणा।

(३४) आकाशमें एक नया तोता पैदा हुआ और उसने स्वयं अपने ज्ञानसे एक नया घर बना लिया था। एक तोतेके पच्चीस तोते बने। स्वयं ब्रह्म उसका पिंजडा बना, विष्णु उस तोतेका आहार बना, शंकर उस तोतेके संहारका साधन बना, आगे इन तीनोंसे उत्पन्न हुए बच्चोंको वह निगल गया। चमत्कारिक रूपसे नाम नष्ट हो गया देख **गुहेश्वर।**

टिप्पणी:—यह अल्लम प्रभुका वचन है। अल्लम प्रभुके अनेक ऐसे गूढ़वचन हैं। कन्नड़में उन्हें "मुंडिगे" कहते हैं। यह भी मुंडिगे है। यह एक पहेली-सी है। तोतेका अर्थ चित्-शक्ति किया जाता है। वही चित्-शक्ति पुरुष प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वोंमें परिणित हुई। विश्वका निर्माण करनेवाला ब्रह्म है इसलिये वह पिंजड़ा बना, संरक्षण करना विष्णुका काम है सो वह आहार बना, रुद्र का कार्य संहार करना है इसलिये वह संहारका साधन बना। यह सारा संसार इन तीनोंका बच्चा है, किंतु ज्ञानी यह रहस्य जानता है कि यह सब उस चित्का खेल है। अर्थात् ज्ञानीके लिये यह नाम-रूप मिटकर केवल चैतन्य [illegible] एक मात्र प्रतीक रह जाता है यह इसका सारांश है।

(३५) लोकादिलोक ऐसा कुछ नहीं है ऐसा एक स्मरण हुआ था, शून्यने श्रेष्ठताके स्मरणसे ही स्वय उत्पन्न होकर चित् कहला लिया था। उस [illegible] सत्, चित्, आनंद, नित्य, परिपूर्ण ऐसे पांच अंगोंको स्वीकार करके [illegible]-तत्त्वका रूप धारण किया। वह अखंड शिव-तत्त्व अपने आप स्वयं [illegible]तके प्रादुर्भावसे एकका दो हो गया। उस पर शिवकी चित् शक्ति [illegible]ारकी थी।............शक्ति ही प्रवृत्ति कहलायी और भक्ति ....वह शक्ति छः प्रकारकी हुई...चित् शक्ति......आदि शक्ति... ......ज्ञानशक्ति......इच्छा शक्ति......क्रियाशक्ति......उस क्रिया-[illegible]ो निवृत्ति कलासे माया शक्तिका जन्म हुआ। उस मायाशक्तिसे ही [illegible]मस्त संसारकी उत्पत्ति हुई.........**महालिंगगुरु सिद्धेश्वर प्रभु।**

टिप्पणी:—यह वचन बड़ा ही लंबा था। इस वचनमेंसे संदर्भ विषयक भाग ही यहाँ लिया गया है। अन्य भाग छोड़ दिया गया है। शून्यने अपनी श्रेष्ठताको स्मरण करके चित् कहला लिया इस लिये स्मरण भी उसका अंश बन गया।

मूल वचनमें "स्मरण" के लिये नेनहु शब्द आया है। नेनहु=स्मरण और मरवु=विस्मरण यह वचनकारोंके पारिभाषिक शब्द हैं। "शून्यने अपनी श्रेष्ठताके स्मरणसे" इस अर्थमें मूल वचनमें शब्द आये हैं 'नेनहिल्लद धनवन्तु नेनेद नेनहे"। शब्दशः किये गये इसके अनुवादका अर्थ अत्यंत दुर्बोध था। तब

गुरुजनोंसेहुई जिज्ञासापूर्ण चर्चासे "शून्यने अपनी श्रेष्ठताके स्मरणसे" इस शब्दावलीका प्रयोग किया गया।

माया शक्ति=आवरण-शक्ति, छाया, सत्य-ज्ञानको अंशतः ढकनेवाली शक्ति, इससे एकतामें अनेकता दिखाई देती है।

(३६) कुछ भी नहीं था वहां, एक महाशून्य अपनी ही लीलासे स्वयंभू-लिंग-स्थल बना। उस लिंगसे बनी शिवशक्त्यात्मिकता, उसी शिवशक्त्यात्मिकतासे आत्मा बनी। आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, और जलसे पृथ्वी बनी, उससे यह जीवराशि बनी; तुम्हारे संकल्प मात्रसे यह सब बना **सिम्मुलिगेय चन्नरामा।**

टिप्पणी:—यहाँ आत्माका अर्थ सादाख्य तत्त्वसे है। (सत् आख्या है जिसकी उसका भाव) इसमें कहा हुआ क्रम प्रचलित क्रमसे जरा भिन्न-सा दीखनेपर भी तत्त्वतः इसमें कोई भिन्नता नहीं है। यहाँ पंच महाभूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन है।

(३७) जलमें लहरनेवाली लहरें, फेन और बुदबुदोंकी तरह, सोनेमें छिपे अनेक आभरणोंकी संभावनाओंकी तरह, बीजमें छिपे पत्र-पुष्प-फलादिकी तरह, एक ही एक वस्तुमें गुणत्रयकी संभावनाएँ निहित हैं। इन गुणत्रयोंसे मलत्रय-का निर्माण होता है, मलत्रयसे लोक-रचनाका विकास होता है, लोक-रचनाकी बहुलतासे पाप-पुण्य बढ़ते हैं, बढ़नेवाले पाप-पुण्यसे स्वर्ग-नरकादिकी उत्पत्ति हुई, और स्वर्ग-नरककी बुराई और विनाशका रहस्य जानकर उसने अपनी माया समेट ली। मायाको समेटते ही दीखनेवाला सब विलीन हो करके तू अकेला ही रहा, यह शास्त्र-प्रसिद्ध है। समुद्रके पानीसे बाष्प बनकर, पुनः बादलके बरसनेसे वही पानी नदी-नालोंके रूपमें समुद्रमें ही लय हो जाता है, अतएव तेरा भी एक ही स्थानमें खड़ा न रह कर, देख न सकनेसे, अनेक स्थानोंमें अनेक रूप धरकर बहना उचित नहीं है रे प्राणी! ऐसा उपदेश देनेवाले सद्गुरु चन्न बसवके चरणोंमें नमोनमः नमोनमः कह कर जिया यह **कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन।**

टिप्पणी:—गुणत्रय=सत्व, रज, तम नामके तीन गुण। मलत्रय=आणव मल, मायामल, कार्मिक मल नामके तीन दोष। यहाँ पर भी प्रचलित क्रमसे भिन्न प्रकारका निरूपण किया गया है। किंतु समग्र वचन-साहित्यके अनुसार सृष्टि-रचनाके आधार-भूत तत्त्व ३६ हैं। सद्गुरु चन्नबसव वचन-कारोंका अग्रणी हैं। वचनकारने कृतज्ञता-पूर्वक अपने गुरुको प्रणाम करके इस वचनकी पूर्ति की है।

विवेचन—वचनकारोंने सर्वदा आदि सत्य-तत्त्वको अत्यंत श्रद्धा-भक्तिसे देखा है। जहाँ कहीं सृष्टि-रचनादिके विषयमें लिखा गया है, लिंगकी इच्छासे, अथवा परशिवके लीला-विनोदार्थ इस सृष्टिका निर्माण हुआ ऐसा लिखा है। (१) नित्य निरवय पर शिव, अथवा परमात्म, (२) अनंतर उनका स्मरण अथवा संकल्प, (३) चित् शक्ति, (४) सदाशिव (५) उसके बाद सांख्यके क्रमसे पुरुष-प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्व हैं। इस प्रकार विश्व-निर्माणके यह पांच खंड हैं। चौरासी लक्ष योनि, पुनर्जन्म आदि वचनकारोंको सम्मत है।

परमात्मा कहां है ?

विवेचन—स्वलीलासे सृष्टिका सृजन करके शुद्ध चिद्रूप सत्य "भूमिके अन्दर छिपी संपत्तिकी तरह" अव्यक्त रूपसे रहता है। इस विश्वकी प्रत्येक वस्तु उसी सत्यसे निर्मित है और वह सत्य सूक्ष्म रूपसे सर्वत्र व्याप्त है किंतु यह विश्व तथा विश्वकी कोई वस्तु पूर्ण रूपसे सत्य नहीं कही जा सकती। तब भला उस सत्यको कहाँ खोजना होगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें वचनकार कहते हैं कि वह सत्य सर्वत्र विद्यमान है। किंतु उसका प्रकाश केवल निर्मल आत्मामें पड़ता हैं, जैसे सूर्यके किरण सर्वत्र पहुँचते हैं किंतु उसका प्रतिबिम्ब केवल शांत जलाशयमें अथवा स्वच्छ दर्पणमें पड़ता है। यदि हम अपना अंतः-करण निर्मल बना लेंगे तो वहीं हमें उसका दर्शन होगा।

सर्व सामान्य लोग "वह वहाँ होगा" "यहाँ होगा" कह कर अनेक प्रकारके देवताओंकी, मूर्तियोंकी पूजा करते हैं। तीर्थ यात्रा करते हैं। वह सत्य-तत्त्व इन सबके परे है। उस अनंत गुण, अनन्त शक्तिका कोई एक अंश ले कर देवी देवताओंके प्रतीक बनाये जाते है। श्रद्धाशील लोग अनेक प्रकारसे उसकी पूजा करते हैं, किंतु वह शुद्ध चिन्मय है इसलिये निर्मल अन्तःकरणमें ही वास करता है। वहीं पर उसका साक्षात्कार होगा। इसलिये उसने कहा है मैं ज्ञानियोंके तथा भक्तोंके हृदयमें वास करता हूँ !"

वचन—(३८) (लोग उसे) "अणुरेणु महात्म" कहते हैं। कहते हैं "अणुरेणु तृण-काष्ठमें है" नहीं बाबा नहीं, मैं नहीं मानता। वह शरण सन्निहित है, कहता है "भक्त काय मम काय !" वह तो दासोहम्-परिपूर्ण है। सद् हृदयमें उसने अपना सिंहासन बना लिया है, वहाँसे वह हिलनेकी बात भी नहीं करता **कलिदेवय्य**।

टिप्पणी—शरण सन्निहित = शरण = भक्त + सन्निहित पास, भक्त काय मम काय = भक्तोंकी देह ही मेरी देह है। दासोहम् परिपूर्ण = जो दासोहम् कहता है उसमें पूर्ण रूपसे वास।

(३९) यदि (वह) वेदोंमें होता तो भला वहाँ प्राणीवध कैसे होता ? यदि (वह) शास्त्रोंमें होता तो वहाँ असमानता कैसे होती ? यदि (वह) गिरि शिखरों पर होता तो क्या वहाँ गये हुए लोग (उसे छोड़कर) वापिस लौटते ? इन निर्बुद्ध मनुष्योंको क्या कहूँ मैं ? तन-मन वचनसे जो शुद्ध है उसके हृदयमें "तुम्हें (ईश्वरको) देखा है" ऐसा कहता है **अंबिगरचौडय्या**।

टिप्पणी:—तप करनेके लिये जो पर्वतादि एकांतमें जाते हैं वह लौट आते हैं किंतु परमधाममें गये हुए लोग लौटकर नहीं आते । अर्थात् जहाँसे लौट आते हैं वहाँ वह नहीं है ।

(४०) सकल विस्तारका रूप है तुममें और तुम हो छिपे मेरे मनमें । वह कैसे ? पूछो तो सुनो ! दर्पणमें हाथीके समा जानेकी तरह ! तुम भक्त-मनो-वल्लभ होनेसे मेरे मनके अन्तिम छोरपर जा छिपे हो **अखंडेश्वरा** ।

(४१) मिट्टी हाथमें लेकर देखूं तो तू विश्वव्यापी है, हाथमें सुवर्ण लेकरके देखूं तो तू हिरण्यगर्भ है, और स्त्रीको लेकर देखू तो तू त्रिविध शक्तिकी मूर्ति है । तब तेरे देखनेकी दक्षिणा कैसी दूं ? तुझे पानेके लिये सतत कर्ममें निरत, सद्भावनामें शुद्ध, धरा हुआ (प्राप्त कर्म) न छोड़कर, छोड़ा हुआ न धरते हुए निश्चित सत्य-ज्ञानमें संपूर्ण विलीन होकर (मैं) रहा तो बिना भूले मुझसे दुगुना प्रेम करके मेरे पास आएगा तू **निःकलंकमल्लिकार्जुना** ।

टिप्पणी:—त्रिविधशक्ति=उत्पत्ति-स्थिति-लयशक्ति । इस वचनका यह अर्थ माना जाता है कि साधकके कुछ देने करनेसे सत्य-तत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता। उसके लिये निर्मल मन, निष्ठायुक्त कर्म, दुर्मार्गको छोड़कर सन्मार्गका ग्रहण, शुद्ध सत्यज्ञान यही साधन है ।

(४२) "उसमें कर्म-निष्ठा है, वह ज्ञान-संपन्न है" ऐसा कहनेकी भला क्या आवश्यकता है ? यह तो उसकी बोल-चालमेसे फूट पड़ेगा । बोल-चाल जिसकी शुद्ध नहीं होती उसमें वह नहीं है रे **अखंडेश्वरा** ।

विवेचन—अबतक सत्य, भक्ति, शुद्ध हृदय, श्रद्धा, संशयातीत ज्ञान, आदि जिन शरणोंमें है उनमें परमात्माका वास है यह कहा गया । अब, केवल उस चिन्मय सत्य-तत्त्वकी ही उपासना करो, उसे छोड़कर जो अनेक देवी देवताओंकी पूजा अर्चा करते हैं, वह सब परात्पर सत्य, अथवा परमात्मा नहीं है, यह कहनेवाले वचन देखें । वचनकारोंका यह स्पष्ट मत है कि वह सर्वव्यापी है किंतु विशेष रूपसे भक्तांतर्यामी है ।

वचन—(४३) शून्य, मूर्ति-रूपसे शरण हो कर खड़ा है । उसकी विद्या-बुद्धिसे ब्रह्मकी उत्पत्ति हुई । उसकी शांति, सहनशीलतासे विष्णुका प्रादुर्भाव हुआ । उसीके क्रोधसे रुद्र पैदा हुआ । इस प्रकार यह तीन पीठ बने; ऐसे शरणोंको जानकर मैं उनकी शरण जाता हूँ **कूडल संगमदेव** ।

टिप्पणी:—१ आदि सत्य वस्तुको ही यहाँ शरणके रूपमें दर्शाया है । उस मूल तत्त्वके सगुण रूप ब्रह्म-विष्णु-रुद्र बने ऐसा माना गया है । वचनकारोंका स्पष्ट कहना है कि सत्यको जाननेके लिये हमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशका भी अति-क्रमण करना चाहिये ।

(४४) पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र और आत्मा नामके अष्ट शरीरको शिवका अधिष्ठान माननेसे भला यह अष्ट शरीर ही कैसे शिव हो सकते हैं ? और यह शिवसे भिन्न कैसे प्रतीत होंगे ? यह अष्ट शरीर सोपाधिक है न कि सत्य-शरीर **निजगुरुस्वतंत्र सिद्धेश्वरलिंगकी** अष्ट शरीर मूर्ति औपचारिक है ।

टिप्पणी:—सोपाधिक=उपाधियुक्त । उपाधिका अर्थ है जो मूलमें न होकर बीचमें चिपकी है । उपचार=ऊपरका अलंकार, जैसे गहने, आभरण अथवा पोशाक ।

(४५) लाख खाकर जीनेवाले देवता, आगको देखते ही उसमें कूदनेवाले देवता, इन सबको क्या कहूं ? समय आने पर बिक जाने वाले, इनको देवता कहना कहाँ तक उचित होगा ? डरानेसे (मांत्रिककी ओरसे धमकी दी जाने पर भूत-प्रेतादि जिस मनुष्यको कष्ट देते हैं उसको छोड़कर चले जाते हैं !) जाकर छिपनेवाले इन सबको देवता कहना कहाँ तक उचित होगा ? सहज भाव, निजैक्य, स्थिर रूप, निर्विकार, निरंजन, **कूडल संगमदेव** एक मात्र देवता है रे !

(४६) ध्वस्त खंडहरोंमें, गाँवके रास्ते पर, तालाब, कुंवा, पीपल, बरगद पर, गाँवके बीच शहरोंके चौराहों पर, घर बना कर बैठे हुए, तालाबके भूत, वृक्षके भूत, ब्रह्म भूत, बाणति[1], कुमारी, मास्ती[2], जटका[3], हिडिदुंब[4], तिरिदुंब[5] बीरय्य[6], खेचर[6], गाविल[6], अन्तरबंतर[6], कालय्य[6], मालय्य[6], केतकेय, बेताल, भैरव आदि इन हजारों भूतोंके मटकोंको **कूडल संगमदेवकी** शरण[7] जानेका एक ही डंडा पर्याप्त नहीं होगा क्या रे ?

(४७) अदुंबर, वट, पीपल, तुलसी, आदि वृक्षोंको देखकरके "हरिहरि" कहते हुए नमस्कार करते हो, अरे बाबा ! तुम्हारा नमस्कार पानेवाले देवी देवता सब वृक्ष बन गये क्या ? तुम्हारे बर्तावमें अनाचार, है, वाणीमें शिव-द्रोह है, इन सबके इस गुट्टमेंसे दूर चला गया है रे हमारा **अंबिगर चौडय्य** ।

टिप्पणी:—वचनकारोंने वृक्षादिकी पूजा, भूत-प्रेतादिकी पूजा तथा अन्य अनेक प्रकारके रीति-रिवाजकी अवहेलना की है ।

---

१. प्रसूता, २. सती, ३. विदुर (?) ४. पकडकर खानेवाला, ५. भटकते हुए मांगखाने वाला ६. ग्रामदेवता, गांवोंमें हुए किसी वीरपुरुषके नाम मंदिर होते हैं । ७. एक डंडेसे जैसे सब मटके टूट जाते है वैसे शिवकी शरण जानेसे यह सब भाग जाते हैं !

मुक्ति ही मानव जीवनका उद्देश्य है

विवेचन—सत्य ही स्वभावसे सृष्टि बना, अथवा परमात्माने अपनी संकल्प शक्तिसे इस सृष्टिका सृजन किया। दोनों एक है। इस सृष्टिमें सेंद्रिय और निरिंद्रिय ऐसे दो प्रकार हैं। अग्नि, आकाश, वायु, जल, मिट्टी, लोहा आदि सब निरिंद्रिय हैं; क्योंकि उनकी कोई इंद्रिय नहीं है, और उनमें इंद्रियसे होनेवाली अनुभूति अथवा संवेदना भी नहीं है। झाड, झंखाड़, वृक्ष-लता, कृमि-कीट, पशु-पक्षी, नर-वानर आदि सब सेंद्रिय हैं। इन सबकी एक या उससे अधिक इंद्रियाँ होती हैं, तथा इंद्रिय जन्य अनुभूति अथवा संवेदना भी होती हैं। निरिंद्रिय वस्तुओंका चलन-वलन नहीं होता, गतिशीलता उनमें नहीं होती। चैतन्य तथा चैतन्य-जन्य अनुभूति नहीं होती। इसलिए उनमें अहंकार भी नहीं होता और अहंकार न होनेसे स्पष्ट व्यक्तित्व भी नहीं होता।

सेंद्रिय सृष्टिमें मनुष्य प्राणी ही सबसे अधिक विकसित होता है। उसका चैतन्य उच्च कोटिका है। वह विकासकी सर्वोच्च सीमाको पहुँचा है। इसलिये उसमें अनंत अनुभूति अथवा संवेदनशीलता है। उसके ज्ञानके साधन अन्य सभी प्राणियोंसे अधिक तीक्ष्ण है। उनके द्वारा मनुष्योंमें मैं, तू, भला-बुरा, सुख-दुःख आदि भावोंकी वृद्धि होती है साथ ही साथ विवेक शक्तिका भी असीम विकास होता है। और सब प्राणी बिना आगे-पीछेका विचार किये जो देखते हैं सो करते है किंतु मनुष्य ऐसा नहीं करता। वह भूत और भविष्यका विचार करके वर्तमानमें अपने हित साधनेकी दृष्टिसे कोई काम करता है। यही मनुष्य जातिकी विशेषता है।

इस प्रकारकी मनुष्य जातिमें जो अधिक उच्च है, अधिक विकसित हैं, वह इंद्रियजन्य क्षणिक सुखके पीछे नहीं पड़ते किंतु शाश्वत सुखकी खोज करते हैं, निरालंब अथवा स्वाश्रित सुखकी खोज करते है। उसको पानेकी साधना करते है। वह सोचते हैं कि जब तक शरीर है तब तक शरीर जन्य सुख-दुःख हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे। जन्म-मरण लगा रहेगा। इसलिये वे पुनः यह शरीर नहीं मिले, जन्म-मरणके चक्रमेंसे छूट जाय इस प्रयत्नमें लगते हैं। इस प्रयत्नमें वे इच्छाओंका त्याग करने लगते हैं। क्योंकि इन इच्छाओं अथवा कामनाओंसे कर्म, कर्मसे जन्म, जन्मसे मरण, सुख-दुःख आदि द्वंद्व परंपरा चलती जायगी। अर्थात् इसकी जड़ ही काटनी चाहिए। इसकी जड़ मनुष्यकी

इच्छाओंमें है, कामनाओंमें है। इन कामनाओंको ही नष्ट करना चाहिये। तभी हम मुक्त हो सकते हैं।

मुक्तिका अर्थ है नित्यानंद स्थिति। नित्य आनंदका अनुभव अर्थात् आनंदित शांत स्थिति। वह किसी प्रकारके बाहरी साधनोंपर अथवा बाह्य परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। निरालंब है, अर्थात् किसी बाह्य आलंबनसे रहित है। अपनेमेंसे अपनेमें सतत प्रवाहित होनेवाला निर्दोष निर्मल आनंद-स्रोत ही मुक्तिका शाश्वत सुख है। बाह्य विषय-सुखकी तुलनामें वह सुख निर्दोष है, नित्य है, निरालंब है, स्वतंत्र है तथा अनुपम होता है। मुक्तिमें भी दो प्रकार होते है। सदेह मुक्ति अथवा जीवन्मुक्ति, तथा विदेह मुक्ति अथवा जनन-मरण रहित मुक्ति। शरीर रहते हुए ऊपर वर्णनकी हुई स्थितिका अनुभव करना ही जीवन्मुक्ति है और शरीर त्यागके बाद पुनः जन्म धारण न करनेवाली स्थितिको विदेह मुक्ति अथवा जनन-मरण मुक्ति कहते हैं।

जीवन-मुक्ति महान है। बिना इसके विदेह मुक्ति असंभव है। जीवन-मुक्त मनुष्य मृत्युके बाद सहज ही विदेह मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसीलिये साधकको जीवन-मुक्तिकी साधना करनी चाहिये।

इस जीवन-मुक्तिका आनंद दो प्रकारका होता है। ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियोंको निश्चल करके, चित्तको एकाग्र करते हुए ध्यान अथवा भाव-सामर्थ्यसे उसे शांतकर साधक निरतिशय आनंद प्राप्त कर सकता है। वह उसी समय तककी मुक्तावस्था है। क्षणिक है। यह एक प्रकार है। दूसरा प्रकार यह है कि सभी सत्य-मय है, सभी परमात्म-रूप है, मैं कर्त्ता नहीं, केवल निमित्तमात्र हूँ, इस भावसे सदा-सर्वदा निष्काम-कर्मसमाधिमें, सतत आनंद प्राप्त करते रहना। इसी स्थितिमें शरीर कर्मगत होता है किंतु चित्त आत्मानद-रत रहता है। यही समरस आनंद है। विदेहमुक्तिका आनंद भी दो प्रकार का होता है। मृत्युके बाद पुनः जन्म न लेकरके चिदंशके व्यक्तित्वको न खोते हुए सदैव आनंदमग्न रहना एक प्रकार है ; यह द्वैत-भावकी विदेह मुक्ति है। और मृत्युके बाद अपना व्यक्तित्व पूर्ण रूपसे मिटाकर परमात्माके आनंदमें विलीन होते हुए अद्वैत भावसे परमात्माके आनंदमें मग्न होना। इसको अद्वैतभावकी मुक्ति कहते हैं।

उपरोक्त आनंदको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यकी सब संकुचित वृत्तियाँ नष्ट होनी चाहिएँ, तथा विश्वात्माका अनुभव-जन्य ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए वचनकारोंने ऐक्यकी भाषामें इसका वर्णन किया है। परंपरा भी यही रही है। मुक्तिमें सारूप्य मुक्ति अर्थात् संपूर्ण रूपसे परमात्मामें विलीन होकर परमात्म-रूप बननेकी मुक्ति सर्वश्रेष्ठ है। अनंत चित्सागरमेंसे अलग

पड़े हुए उसके अंशका अंतमें उसीमें समा जाना अनिवार्य है। वचनकारोंने यही कहा है।

वचन—(४८) आकाशमें दिखाई देनेवाले इंद्र-धनुषको छिपनेके लिए सिवा आकाशके दूसरा कौन-सा स्थान हो सकता है? हवामेसे खिलनेवाली आंधीका हवाके सिवा और किसीमें समा सकना संभव है क्या रे? आगमेंसे प्रस्फुटित होनेवाले स्फुलिंग सिवा आगके और किसमें समा सकेंगे भला? आदि-अनादिसे भी परे उस पर-वस्तुमेंसे उदित और रूपित होकर दीखनेवाले निजैक्यको, विलीन होनेके लिये उस पर-वस्तुके अलावा और कौनसा आश्रय मिल सकता है **अखंडेश्वरा**?

टिप्पणी:—पर-वस्तुसे उदित रूपित, निजैक्य=जीवात्मा। वस्तुतः वह निजैक्य है किंतु जीवरूपसे विश्वमें दिखाई देता है। उसे छिपनेके लिये जहांसे आया वहीं जाना होगा। उसको बिना परमात्माके दूसरा आश्रय स्थान नहीं है।

(४९) सोनेके अनंत आभूषण पिघलानेसे जैसे सोना ही बनेगा, पानीसे बना हुआ हिम पिघलनेसे जैसे पानी ही बनेगा, चिन्मय वस्तुसे उदित होकर चित्-स्वरूप बना शरण उस चिन्मय वस्तुमें ही विलीन होकर परम शिवयोगी बना रे **महालिंग गुरु सिद्धेश्वर प्रभु**।

टिप्पणी:—शरण=आत्मा। आत्मगत वचन है।

(५०) शून्य द्वारा शून्य बोया जाकर शून्यके ही फलनेकी तरह, शून्य शून्य रूपमें बढ़कर सर्वत्र शून्य बना। शून्य ही जीवन है, शून्यही भावना है, अंतिम रूपसे शून्य शून्यमें मिल गया है **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी:—सब शून्य ही है का अनुभव होनेपर जीव स्वयं शून्य हो जाता है यह इस वचनमें कहा है।

(५१) अमर्यादित अनंतमें भाषाको जहां कोई ओर-छोर ही नहीं मिलता वहां भला भावोंको शब्दोंमें डुबोनेकी आवश्यकता ही क्या है **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी:—इस वचनका ऐसा अर्थ किया जाता है कि जो अमर्याद अनंतमें तन्मय हुआ है वह भाव और भाषाके भी परे है।

(५२) आग लगनेपर कपूरके पर्वतका कोयला बनेगा क्या? हिमके शिवालयपर क्या धूपका शिखर रखा जा सकता है? **गुहेश्वर** लिंग जाननेपर पुनः स्मरण कैसे?

टिप्पणी:—लिंग=परमतत्वका बोधचिन्ह। मुक्तस्थितिमें स्मरण भी असंभव है। सब एक होनेपर भला कौन किसका स्मरण करेगा? साधक और साध्यकी अद्वैतावस्था दर्शाई है।

(५३) दश दिशा, पृथ्वी, आकाश, ऐसा कुछ भी नहीं जानता मैं। मैं

नहीं जानता तुम्हारा "लिंग मध्ये जगत्सर्वम्", मैंतो केवल लिंग-स्पर्शके आनंदमें शिव-शिव रट रहा हूँ। पानीमें पड़े ओलेकी तरह भिन्न भावके बिना शिव-शिव कह रहा हूँ **कूडलसंगमदेव**।

टिप्पणी:—"लिंग मध्ये जगत्सर्वम्"="सारा विश्व लिंगमें है" का भाव।

(५४) न मैं हूँ न तू है; न स्व है न पर है; न ज्ञान है न अज्ञान है, न अंदर है न बाहर **कूडल संगमदेव** शब्दका काम नहीं है।

टिप्पणी:—उस स्थितिमें सामान्य मनुष्योंमें पाये जाने वाले ज्ञान-अज्ञान आदि द्वंद्वभाव नहीं होते। वह स्थिति निर्द्वंद्व है।

(५५) तन नष्ट हुआ, मन नष्ट हुआ, स्मरण नष्ट हुआ, भाव नष्ट हुआ, ज्ञान नष्ट हुआ; इन पांचोंमें मैं स्वयं नष्ट हुआ। इस महानाशमें तू भी नष्ट हुआ। **कलिदेवदेव** नामका शब्दमात्र है "निःशब्द ब्रह्ममुच्यते!"

टिप्पणी:—उस स्थितिमें प्रत्येक प्रकारकी संवेदनशीलता नष्ट होनेके बाद, भगवानकी कल्पना भी नहीं रहती। चित्त मौन हो जाता है। वह मौन, निःशब्द ही परात्पर सत्य है।

(५६) शरीर लय हुआ था, मन लय हुआ था, भाव लय हुए थे, कामनायें लय हुई थीं केवल निज ही रहा था। मैं सीमित शून्यमें **कलिदेवदेवमें** विलीन होकर बिना जड़के वृक्षकी तरह रहा था।

(५७) सब प्रकारसे प्रेमीको अपना बनाकर जो मिलन हुआ उसका वर्णन कहने-सुननेके लिये शब्दही नहीं मिल पाये···

(५८) शब्द निःशब्द हुए थे **कूडल संगमदेवमें** विलीन होकर अल्लम प्रभुके चरणोंमें सब विलीन हो गया था।

विवेचन—ऊपरके वचनोंका विषय संकुचित व्यक्ति-भावका संपूर्ण विलय और विशाल विश्व-भाव, अथवा परमात्म भावमें एकत्व प्राप्तिका अनुभव है। वस्तुतः मैं, अथवा स्व, का भाव संपूर्णतया नष्ट होनेसे वह स्थिति अवर्णनीय ही होती है। वह परमानंदकी स्थिति होती है। वह स्थिति पूर्ण सत्य ज्ञानकी है। इसलिये उसके विषयमें उज्वल प्रकाश बोध होनेकी बात कही गयी है। रूपक से ही स्थितिका वर्णन करना संभव है। कहीं कहीं पति-पत्नीके संगसे उसकी तुलना करके वर्णन किया गया है।

(५९) अरे! चंद्रसे निकली चांदनी उसीमें विलीन होकर जैसे चंद्र ही हो जाती है, जैसे सूर्यकी किरण सूर्यमें ही विलीन होकर सूर्य ही हो जाती है, अग्निसे उत्पन्न होने वाली कांति अग्निमें विलीन होकर अग्नि ही हो जाती है, दीपकसे प्रकट होने वाला प्रकाश दीपकमें ही मिलकर दीपक ही बन जाता है, समुद्रके जलसे बननेवाली नदी समुद्रमें गिरकर समुद्र बन जाती है, उसी

प्रकार परशिव, निरवय शून्य मूर्तिका संग बसवण्णकी चिद्रूप रुचि तृप्तिमें शुद्ध-सिद्ध-प्रसिद्ध होकर, सदाकी भांति **गुहेश्वर लिंग** प्रभु नामके उभय नाम मिटा करके, सच्चिदानंद, नित्य परिपूर्ण अविरल, परशिव निरवय शून्य मूर्ति संग बसवण्णकी चिद्रूप रुचि तृप्तिका पादोदक प्रसाद होगा। बिना हुए रहेगा क्या चन्न बसवण्णा ?

टिप्पणी:—शुद्ध सिद्ध प्रसिद्ध प्रसाद=इन्द्रिय, विषय और उसके साधनोंके सामान्य स्वाभाविक गुण दुर्वर्त्तनोंसे युक्त होते हैं। यह सब दोष निकाल देनेसे उन साधनों द्वारा होनेवाला सेवन तथा भोग प्रसाद-सेवन अथवा यज्ञ-मय हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें वह प्रसाद शुद्ध, सिद्ध, प्रसिद्ध कहलाएगा। इस विषयमें और अधिक अध्ययन करनेकी इच्छा हो तो : "संग बसवेश्वरन वचन" इस पुस्तकको देखना चाहिये। इस वचनका आशय "मुक्ति ऐक्य रूपकी है और योग्य मार्गका अवलंब किया गया तो वह प्राप्त होकर रहेगी" ऐसा किया जाता है।

(६०) सब इंद्रियोंमें विकार उत्पन्न करनेवाले मनको खींच करके जो रहेगा वही सुख पायेगा। पंचेंद्रियोकी कामनाओंमें उसे डुबाकर जो रहेगा वह दुःख पायेगा। बहिर्मुख हुआ कि सारा माया प्रपंच है और अंतर्मुख हुआ कि महान ज्ञान है और जो मनको आत्मामें ही स्थित करेगा वही मुक्त होगा। मनोलय होनेसे **सोमेश्वर लिंगमें** अभिन्न होगा।

टिप्पणी:—आत्मामें ही चित्त निरोध तथा चित्तका लय करना परम सुखी, ज्ञानी, तथा मुक्त पुरुषका लक्षण है।

(६१) पश्चिम गिरिपर चित्सूर्यका उदय होता हुआ देखा। चारों ओरका अंधकार चारों ओरसे मिटता हुआ देखा, दसों दिशाओंमें प्रकाशके पुंजके-पुंज भरे हुए देखे, सिकुड़े हुए सारे कमल पुष्पोंको खिलकर कभी न मिटने वाली सुगंध महकाते देखा। इस प्रकारका यह कौशल देखकर चकित हुआ **अखंडेश्वरा**।

टिप्पणी:—पश्चिम गिरिका चित्सूर्य=चित्शक्तिका ज्ञान। सिकुड़े हुए कमल=योग ग्रन्थोंमें वर्णित मूलाधार चक्र आदि।

(६२) प्रकाशमें दीखनेवाला वह प्रकाश एक महाप्रकाश था। प्रसादमें प्राप्त प्रसादिके परिणामके परमानदको कैसे वर्णन करूँ ? कहाँ ढूंढूं उसकी उपमा ? परमाश्रय ही अपने आप **कूडलसंगमदेव** बना। चन्न बसवण्ण रूपी महा प्रसादि ! जो मेरे वाङ्मनसे अगोचर रहा उसकी उपमा मैं कहाँसे ला दूं ?

टिप्पणी—महाप्रकाश=दिव्यज्ञानका प्रकाश।

(६३) वाङ्मनसे अगोचर उस अप्रतिम लिंगसे मिलकर अचलानंदमें मग्न

अनासक्तको भाव ही नहीं। भाव न होनेसे ज्ञान भी नहीं। ज्ञान न होनेसे **सण्णबसवण्णप्रिय लिंग** भी नहीं, नहीं ठहरो !!

टिप्पणी:—यहाँ केवल ऐक्य स्थितिका वर्णन है।

(६४) अरे रे प्यारे !! तुमसे मिलनेके पहले कुछ भी नहीं दीखा; मिलनेके बाद और भी नहीं दीख पाया। मिलनेके सुखमें मैं, तुम, सब कुछ भूल गया **कपिलसिद्धमल्लिनाथैया**।

(६५) प्रियतमसे मिलनेके उत्साहमें यही नहीं समझ पाया कि मेरे सामने क्या है। प्रीतमसे मिलते समयभी अपने प्रीतमको तनिक भी नही जान सका। न अपनेको जान सका न उसको **उरिलिंगदेव**।

(६६) उसके मिलनका, उसमे डूब जानेका आनंद क्या कहूँ मेरी माँ ! वह न पूछना चाहिए, न कहना चाहिये, न सुनना चाहिये; तब क्या कहूँ, कैसे कहूँ मेरी माँ ! ऐसा हुआ मानो ज्वालामें कपूर मिला दिया। **महालिंगगजेश्वरके** मिलनकी बात नहीं करनी चाहिए।

टिप्पणी:—सती-पतिके संगैक्यको आत्मैक्यसे तुलना करके यह वचन कहा गया है। मिलनमें कोई द्वतभाव नहीं होता। वह स्थिति अवर्णनीय है।

(६७) वृत्ति रहित चित्तको देखकर, धन-मन देखकर, उसे शब्दोंके सांचे में ढालकर दिखाया जाय तो वह छोटा हो जाएगा। वह सब न होनेका ही निःसंग है **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी:—वह अनुभव शब्दोसे व्यक्त करना असंभव है। जब उसे शब्दोंमें व्यक्त करनेका प्रयास किया जाता है उसमें न्यूनता आ जाती है।

(६८) अंतरंग, बहिरंग, आत्मरंग, एक ही है देख ! आरुडका **कूडल-संगमदेव** स्वयं जानता है।

(६९) स्नेहके सुखको दर्शनके सुखने निगला था। उस दर्शनके सुखको मिलन सुखने निगल लिया, उस मिलन सुखको आलिंगन सुखने निगला तो आलिंगन सुखको संग सुखने निगला, उस संग सुखको समरस सुखने निगला तो समरस सुखको परवश सुखने निगला ! वह परवश सुख **कूडलसंगमदेव** ही जानता है।

टिप्पणी:—समरस सुख=विलय सुख।

(७०) निर्मूल हुआ, अहा ! निरालंब भी हुआ। निरालब होकर शांत भी हुआ। और पुष्पका फल दिखाकर शून्यसे मिला, शून्य निःशून्य हुआ था तब, शून्य निःशून्यमें विलीन होकर आत्मसुख प्राप्त किया है मैंने **संगय्यमें** निःशून्य होकर।

(७१) षड्चक्र-वलयमें "मैं" खेलता है, बहुरूप भ्रूमध्य मंडल, हृदय-कमल-

मध्यके अब्जस्वर मणिपूरकपर "मैं" खेलता है, अनेक रंग रूपमें जलनेवाली ज्वालाओंमें कपूर बनकर "मैं" खेलता है, बहुरूप एक हो करके **बसवण्ण प्रिय** होकर।

टिप्पणी—षड्चक्र=मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, और आज्ञा नामके, ज्ञान-तंतुओंके छः केन्द्र। उन्हें नाडिचक्र भी कहते है। अब्ज स्वर=अनाहत ध्वनि, वह ध्वनि शरीरमें अपने आप होती है। "मैं" का अर्थ जीवात्मा अथवा आत्मा। सब बातोंसे अलिप्त रह कर आत्मा शरीरमे सचार करती है यह इस वचनमें कहा गया है।

(७२) आप सुखी होने पर न चलनेकी आवश्यकता है न बोलने की तथा न पूजा-अर्चा करनेकी आवश्यकता है न खाने पीनेकी आवश्यकता है रे **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी—आत्म-तृप्ति होनेपर अथवा मनुष्यके एक बार आत्मकाम हो जानेपर सुख-प्राप्तिकी दौड़-धूप समाप्त हो जाती है। "आवश्यकता" रूपी भावका अतिक्रमण करके वह लीला-विहारी हो जाता है।

विवेचन—इस अध्यायके प्रारंभमें मुक्तिके प्रकारोंका विवेचन किया गया है। अब विदेह मुक्तिसे सम्बन्धित वचन आते हैं। उपनिषद् कालसे जन्ममरण रहित मुक्ति ही मानव-जीवनका आत्यंतिक ध्येय माना जाता रहा है। यह भारतीय विचारकोंकी परपरागत धारणा है। वचनकारोंने भी इसको स्वीकार किया है।

(७३) जनमने वाला मै नहीं, प्राप्त करने वाला भी मै नही, क्या कहता है? यह कैसे होता है? सत्यको जाननेके बाद भला कैसा जनम और कैसी प्राप्ति **गुहेश्वरा**।

(७४) सत्य ज्ञानके बाद चितन नही, मृत्यु विजयकी महानतामे, सत्य-दर्शनकी महामहिमामे, परात्परमे विलीन होनेके परिणाममें, शून्यमे विलीन होनेकी पूर्णतामे **गुहेश्वर** सहज रूपसे लिंगमे प्रवेश करके स्थिर हो गया।

(७५) मनके अतिम नोकके अग्रबिंदुके उसपार स्मृत-स्मरणसे जनम-मरणका चक्र रोक करके उदय होनेवाले ज्ञान-ज्योतिके करोडो सूर्योंके अंतिम छोरका अतिक्रमण कर, स्वानुभवोदयके ज्ञानशून्यतामे छिपे शून्यको क्या कहूँ **गुहेश्वरा**।

(७६) पुराने सचित कर्म मिट गये थे। अब तेरी कृपासे मेरा पुनः जन्म नही है, तू ही जानता है अपने बच्चेको **कूडलसंगमदेव**।

(७७) आगमें जलनेवाले कपूरकी राख होती है क्या रे? दूर शून्यमें दिखाई देनेवाले मृग-जलमें भी कहीं कीचड़ होता है? वायुमे विलीन सुगंधका

भी कभी निर्माल्य (क्षय) होता है क्या ? तुमने पास आकर मुझे गले लगाया तो भी क्या मुझे पुन: जन्म मरणका बंधन है ? **कूडलसंगमदेव** अपने चरणोमे ही मुझे स्थिर करलो रे !

विवेचन —पूर्ण ज्ञान होनेपर कर्म-बीजोंका नाश होता है, उससे पुनर्जन्म नहीं होता। जन्म-मरणका चक्र रुकता है। जन्म-मरण रहित होते ही विदेहमुक्ति कहलाती है। किंतु यह देह रहते हुए भी वैसा ज्ञान हो सकता है। वैसा पूर्ण ज्ञान होने पर, देहपात होनेतक मनुष्य जीवन-मुक्त कहलाता है। यह सबसे महान् स्थिति है। वह संसारके सब काम करता है किंतु वह कोई काम किसी आशा-से नहीं करता। उसको कर्म-फलकी आशा नही होती क्योंकि उसको जो कुछ प्राप्त करना था वह सब प्राप्त करके वह आप्त-काम बन जाता है। उसका तन-मन-प्राण सब आत्ममय बना रहता है, इसलिये वह सदा-सर्वदा पूर्ण तृप्त रहता है। उसके कर्म-बीज जले हुए रहते है। जैसे जले हुए बीजोकी फसल नही होती वैसे उनके कर्मबंधनकारक नही होते। वह निरपेक्ष होता है इस लिये निर्लिप्त भी। उसकी सब इंद्रियाँ कार्यरत रहती है किंतु उसका चित्त सदैव परमात्मामे स्थित रहता है। वह स्थिर-मति होता है। कोई भ्रम उसको नही छूता। मरनेके बाद मुक्ति मिलती है यह कल्पना भ्रामक है। जीवन्मुक्त होना ही मुख्य है। उसीको सहज समाधि कहते है। यदि यह बात सध गयी तो और बाते अपने आप हो जाती है। इसलिये जीवन मुक्ति, अथवा सहज-समाधि अथवा समरसपद यही जीवनका परमसाध्य है।

वचन -(७८) खंडित भाव मिटकर अखंड पर-ब्रह्ममे समरस भला क्रिया-कर्म, ध्यान-मौन, नित्य-नेम क्या रहा ? मूर्ति और प्रतीकोंकी पूजा कैसी ? और ज्ञानका व्यवहार कैसा ? यह सब विस्मरण अर्थात् अज्ञानके भिन्न-भिन्न परिमाणकी प्रतीतिके अलावा अविरल समरस सौख्यका लक्षण नही है रे ! यह जानकर, सब प्रकारके तुच्छ संकल्प, विपरीत भ्रांति छोड़कर और केवल ज्ञानको ही अपना ठौर समझकर देह रहनेपर भी विदेही बना हूँ **अखंडेश्वरा।**

टिप्पणी:—सहज समाधिमय समरस जीवनमें क्रिया कर्मका कोई स्थान नहीं है। यह क्रियाकर्म समरस जीवनके अभावका द्योतक है। यह सब व्यर्थ है। शुद्ध ज्ञान ही अपने आपको जाननेका साधन है।

(७९) किया हुआ कर्म न जाननेवाला भक्त, मिला हुआ मिलन न जानने-वाला भक्त, कर्म और मिलनके बंधन और अनुभूतिके परे जानेके बाद, निःसंग, निःसीम, निर्देहि निराभार नित्य-मुक्त-भक्त सत्यमें विलीन हो जाता है **महालिंग-गुरु सिद्धेश्वर प्रभु।**

(८०) शरीरके तुझसे आलिंगित होकर महालिंग होनेके बाद पुनः कहाँसे

आया वह शरीर ? मनके तुझसे आलिंगित होकर घन होनेके अनंतर पुनः कहाँसे आएगा वह मन ? प्राण तुझसे मिलकर महाप्राणके चरणोंमें समरस होनेपर भला वह प्राण कहाँसे आएगा ? इस प्रकार यह तीनों लिंगमें निर्लेप होकर मनकी आँखोंसे भी ओझल होकर रहेंगे यह बात **कूडल संगय** ही जानता है।

(८१) अनन्त साधनोंका अभ्यासकर गुरु अपने शिष्योंको सिखाना छोड़कर क्या स्वयं सीखने लग सकता है ? अखड परिपूर्ण ब्रह्मसे मिलकर शून्य बना हुआ शिवशरण अनेक सत्कार्य करने परभी वह लोकोपचार, लोक-शिक्षा तथा लोक-हितके लिये ही करेगा न कि उसका फल पानेके लिये। यही कारण है कि शिव-शरण कितने ही कर्म करनेपर भी घृतलिप्त जिव्हाकी तरह सदैव निर्लेप होकर रहता है **अखंडेश्वरा**।

टिप्पणी:—जीवन-मुक्त जो कर्म करता है वह सब लोक-हित और लोक-शिक्षाके लिये करता है। उसको किसी प्रकारके फलकी अपेक्षा नहीं होती। वह सम्पूर्णतया निष्काम कर्म करता है। निरपेक्ष रहता है इसलिये निर्लिप्त भी होता है।

(८२) बिना किसी संगका निजैक्य ससारमें रहकर भी बद्ध नहीं है। भटककर भी दोषी नहीं है, चाहिए, नहीं चाहिये, हाँ या ना इत्यादि भावसे परे होकर अग्नि-शिखासे आलिंगित कपूर-पर्वतकी तरह मिट करके रहना है वह **चन्न संगैयमें** लिंगैक्य।

(८३) अमिष्ट होने पर भी अमित मनके व्यवहार रहें ऐसा शिव-पथ मैं नहीं जानता; नहीं जानता; **गुहेश्वरको** जाननेके बाद लोक व्यवहारकी गति मैं नहीं जानता, नहीं जानता !

टिप्पणी:—जब चित्त अन्य विषयोंमें रहता है तब वह भगवानको भूलता है और जब समाधि स्थितिमें परमात्मैक्य होता है तब विश्वको भूल जाता है। यह विश्व ही परमात्मरूप है इसका अनुभव होकर व्यवहार करनेसे सहजसमाधि अर्थात् समरसैक्य सिद्ध होता है।

(८४) मरकर पैदा होते हुए ध्वस्त होनेवाले सब देव-लोकको जाते हैं यह भाषा सुनी नहीं जाती। मरनेके पहले अपने आपको जान लोगे तो परमात्मा प्रीति करेगा **गुहेश्वरा**।

(८५) मरनेके अनन्तर मुक्ति मिलेगी इस आशासे भगवानको पूजोगे तो भला वह कब क्या देगा ? मरनेके पहले उसके लिये व्याकुल रहो तो स्वतंत्र होकर, समरसैक्यको प्राप्त करोगे और उससे अभिन्न होकर रहोगे **गुहेश्वरा**।

(८६) टाटके कपड़ों और कंदमूलाहारके कुटिल तत्रके कपट-योगको बंद करो बाबा ! शरीर-समाधि, इंद्रिय साधनोंकी समाधि, और जीव-समाधि, यह योग नहीं है रे ! केवल सत्य-समाधि ही सहज समाधि है **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी:—सहज समाधिका अर्थ है सब प्रकारके प्राप्त कर्म करते हुए चित्तको परमात्मामें लीन रखना।

(८७) हमारे लिए मृत्यु नहीं है, मृत्यु क्या है यह हम जानते भी नहीं। जिसे मृत्यु कहा जाता है वह मृत्यु नहीं है। अंगोंमें उदय हुए लिंगैक्यको सिवा उस लिंगमें विलीन होनेके दूसरा स्थान ही कहाँ है? **कूडल संगमदेवकी** शरण जानेके बाद लिंगके (सत्यके) हृदयमें प्रवेश करनेके पहले शान्त होनेवालोंको मैंने नही देखा।

(८८) आचारोंमें डूबकर तू जीवन मुक्त है। अन्तरंगमें सब प्रकारके ज्ञान का भान होने पर भी तू जीवन-मुक्त है। समर्पित शान्तिमें विलीन होकर रहनेसे तू जीवन-मुक्त है। 'मैं मुक्त नहीं हूँ" ऐसी उपचारकी भाषा रहने दो। शून्य भ्रम दूर करके, संसारकी पोशाकको फाड़कर फेंकनेकी बात अपना **गुहेश्वर** जानता है। तू अपनी बात मुझसे छिपाएगा संग बसवण्णा।

टिप्पणी:—अल्लमप्रभु एक महान वचनकार थे। दूसरे एक वचनकार संगबसवण्णाने जब कहा, "मैं मुक्त नहीं हूँ" तब अल्लम प्रभुने ऊपरका वचन कहा।

विवेचन—मुक्ति मनुष्यकी-अथवा चित्तकी एक विशेष स्थिति है, कोई स्थान नहीं। स्वाश्रित, निरालंब, आनन्द-स्थिति, अथवा निर्मल निज-सुखानुभूति ही मुक्ति है। सचमुच ऐसी स्थिति रही तो और दूसरी मुक्ति ढूंढनेकी क्या आवश्यकता? ऐसे आनंदका अल्पांश भी मुक्तिके आनद-सा ही है। ध्यान-समाधि, भाव-समाधि, कर्म-समाधि, आदि समाधियाँ मनुष्यकी वृत्तियाँ हैं। वृत्ति क्षणिक होती है और स्थिति जीवनका स्वभाव। वृत्तियाँ उस स्थितिकी ओर इंगित करती है जो मुक्तिके आनंदका प्रतीक हैं। इस अध्यायमें आए हुए वचन मुक्तिके अनेक प्रकारका विवेचन करनेवाले हैं। जब एक बार मुक्त-स्थितिका परिचय देनेवाली वृत्तियाँ जागृत होती हैं, उनका अनुभव होने लगता है तब साधक उन वृत्तियों-को स्थिति रूप बनानेके लिये तीव्रतम साधना करने लगता है क्योंकि उस आनंदसे वह बड़ा प्रभावित हुआ रहता है। प्राप्त वृत्तिके क्षणिक आनंदको स्थायी बनालेनेकी तीव्र व्याकुलता उत्पन्न होती है, जिससे प्रेरित होकर साधक अपनी साधनाको तीव्रतम करनेका प्रयास करता है।

वचन—(८९) जहाँ देखूँ तू ही तू है मेरे स्वामी! जहाँ स्पर्श करता हूँ तू ही तू है मेरे नाथ! जहाँ भावना करता हूँ तू ही तू है रे! सर्वत्र तेरे ही प्रकाशसे आच्छादित हुआ है जिससे अब "मैं" और "तू" का भेद ही नहीं रहा **अखंडेश्वरा**।

(९०) सब कुछ त्याग करके चाहे जब कैलास जाऊँगा कहते हो! तो

क्या कैलास दैनिक पारिश्रमिक है ? न पीछेका भाव न आगेका विचार, अव-सर आते ही **शरणप्रिय अमलेश्वरलिंग** जहाँ है वहीं कैलास है ।

टिप्पणी:—किसी कर्मके फलस्वरूप मुक्ति नहीं मिलती। उसके लिये सतत साधनाकी आवश्यकता होती है ।

(६१) क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, मद, मत्सर, आदि षड्वर्गके बिना रह सकता है, नाऽहं, सोऽम्. कोऽहम इन भावोंसे रहित होकर रह सकता है, अष्ट विधान और षोडशोपचारके बिना रह सकता है, जिस तरह कपूर, अग्नि सयोगसे मिटकर अग्नि बन जाता है उसी प्रकार लिंगका स्मरण करते-करते अब वह अपने आप लिंगरूप ही बन गया है निज लिंगैक्यकी भावना करते ही **महालिंग गुरु सिद्धेश्वर प्रभु** ।

(६२) न अंतरंगमें कोई भाव दीखता है और न बहिरंगमें ! इन द्वंद्वोंको खोकर अपने आपमें सहज बन गया है देख ! न अंतरंग है न बहिरंग, केवल एक रंगमें देख **कूडल संगमदेव** अपने शरण आए हुएको ।

(६३) "मैं" "मैं" रूपी अहंकार खोकर स्वयं ज्ञानानंद होनेके बाद, अपनेसे अन्य कोई एक है, ऐसा न देखनेको है न सुननेको, न जाननेको भी कुछ है । अनादि, अविद्यामूल चराचर मायाजाल समाप्त हो गया था। अब और क्या कहना-करना रहता है निजैक्य-को ? विषय-विषयी नामके भाव लुप्त होकर द्वंद्व भावके मिटजानेसे **निज गुरु स्वतंत्र सिद्धेश्वर** ही अपने आप स्वतंत्र हो गया ।

टिप्पणी — यह कैवल्यकी अद्वैत स्थितिका वर्णन है । दूसरा कुछ भी न होनेसे विषय ज्ञान किसको कहते हैं यह कहनेके लिये भी कोई स्थान नहीं रहा है।

(६४) शरणोंके सात्विक वचन झूठ हैं क्या ? नहीं-नहीं वह सत्य हैं । सत्य हैं वह । अंतरंग ही देवलोक है और बहिरंग ही मृत्युलोक । इन दोनों लोकोंसे परे जब हम रहते हैं तब इन दोनों लोकोंमें आप ही रहें **गुहेश्वरा** ।

टिप्पणी:—एक बार बसवेश्वरके घर पर आये शैव सन्यासी प्रसाद-ग्रहण अर्थात् भोजन करनेके लिये बैठे थे । बसवेश्वर और अल्लम प्रभुको वहाँ आनेमें कुछ विलंब हुआ जिससे अन्य शैव संन्यासियोंको क्रोध आया । उन्होंने क्रोधसे कहा "इन्हें इह-पर दोनों नहीं मिलेगा !" तब अल्लमप्रभुने इसी वचनसे बसवेश्वरको शांत किया । यह आत्मस्थिति है, द्वंद्वातीत स्थिति है ।

विवेचन—अब स्वर्गसुख और मुक्तिसुखका विभाजन करके दिखानेवाले कुछ वचन देखें । स्वप्नानंदमें और निद्रानंदमें जितना अंतर है उतना ही अंतर स्वर्ग-सुखमें और मुक्ति-सुखमें है ऐसा कह सकते हैं । स्वर्ग-सुख एक प्रकारका सूक्ष्म विषय-सुख ही है, इससे अधिक कुछ भी नहीं । वह सत्कर्म करने पर प्राप्त होता है । किंतु मुक्ति-सुख केवल ज्ञान-निष्ठासे प्राप्त होता है । स्वर्ग-सुख

पुण्यका क्षय होनेके बाद समाप्त होता है इसलिये इसे शाश्वतसुख अथवा अक्षय सुख नहीं कहा जा सकता। तब भला उसे मनुष्यका आत्यंतिक ध्येय कैसे कहा जा सकता है ?

(९५) अन्नदान, सत्यवचन, पानीयदान आदि सत्कार्य करके मरनेसे स्वर्ग मिल सकता है शिवैक्य नहीं हो सकता। जिन्होंने गुहेश्वरको जान लिया है उन शरणोंको इन सब बातोंका कोई स्वारस्य नहीं है।

(९६) जलाशय, मंदिर, शिवालय, धर्मशाला, यह सब पिछले कीचड़के कदम है, कर्मकांड और योग यह सब पुनः संसारमें लानेके साधन है। अगले और पिछले सारे सम्बन्ध तोड़कर गुहेश्वर लिंगमें विलीन हो जाना चाहिये सिद्धरामय्या।

टिप्पणी:—ओड्डुरामय्याने अनेक जलाशय, मंदिर आदि बनवाकर अनंत पुण्य प्राप्त करनेका प्रयास किया था। ऊपरके वचनसे अल्लम प्रभुने उनको ज्ञानबोध कराया और इसके बाद वह सिद्धरामय्य कहलाया ऐसी जनश्रुति है।

(९७) मैं कायसमाधि नहीं चाहता, न जीवकी स्मरण-समाधि, न कैलास नामका संसार ही चाहता हूँ न पुण्य-पाप नामका कर्म। तू मुझे यहाँ-वहाँ न खींचकर केवल अपनेमें ही स्थिर करले निष्कलंक मल्लिकार्जुना।

(९८) इस सत्कार्यका यह फल है, इस फूलका वह फल है यह सब जीविका कमानेकी बातें हैं बाबा! यह सब पाप-पुण्य खानेवाले कार्मिक हैं। स्वर्ग और नरक खानेवाले खाऊ हैं। जीवन, वस्तु, प्राप्त-संपत्ति सब कुछ परमात्माके चरणोंमें अर्पण करनेवाला शिव-पुत्र है, अन्य सब जगन्मित्र मृडदेवसोड्डल।

टिप्पणी:—जगन्मित्र, संसारको अपना मानकर संसारके पाशमें बद्ध।

साक्षात्कार

विवेचन—पिछले अध्यायमें मुक्तिका वर्णन किया गया है। इस अध्यायमें वह मुक्ति अथवा मुक्तिका आनंद, अथवा शाश्वत सुख जिन साधनोंसे मिल सकता है उसका वर्णन करेंगे।

मनुष्यका जीवन सामान्यतया विषयेंद्रियोसे संबंधित सुख-दुःखसे व्याप्त रहता है। उसकी सुख-तृष्णा असीम रहती है इसलिये प्राप्त सुखसे दुःख ही अधिक प्रतीत होता है। तृष्णा भी एक प्रकारका दुःख ही है। क्योंकि उसके पैदा होते ही दुःखका प्रारम्भ होता है। इसलिये मनुष्य सोचने लगता है कि इस प्रकारके सुख-दुःखका अतिक्रमण करके केवल चिरतन, निर्दोष, निरालंब सुखका शोध करना चाहिये और वह इस प्रयासमें लगता है। इसी सुखको आत्म-सुख कहते है। वही जब नित्य होता है तब मोक्ष कहलाता है। वचनकारोने उसीको शिवैक्य, लिंगैक्य, निजैक्य आदि कहा है।

इस मुक्तिका निरन्तर आनंद अथवा इसका किंचित्-सा अंश भी मनुष्यका निर्विवाद प्राप्तव्य है। मनुष्य जब यही अपना एक मात्र ध्येय होनेका निश्चय कर लेता है तब उसे प्राप्त करनेका प्रयास करता है।

"मैं पापी हूँ" "मैं दुःखी हूँ" "मैं क्षुद्र हूँ" "मैं निर्बल हूँ" आदि भावनाएँ मनुष्यके दुःखके कारणीभूत हैं। इस भावको नष्ट करनेके लिये, "मैं शरीर हूँ" अथवा "मैं मन हूँ" "मैं बुद्धि हूँ" यह भाव नष्ट हो कर "मैं आत्मा हूँ" "मैं चैतन्य स्वरूप हूँ" इन भावोंकी प्रतीति होनी चाहिये। यह प्रतीति ही स्वरूप-ज्ञान कहलाता है। वही जब प्रत्यक्ष होती है तब उसे साक्षात्कार कहते हैं। अर्थात् मुक्ति ही आनन्द है, और आनंद कैसे प्राप्त होगा? इस प्रश्नका उत्तर है साक्षात्कारसे। इसीको वचनकारोंने अनुभाव, अनुभव-युक्त ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रतीति, आदि कहा है। अब देखें साक्षात्कार किसे कहते हैं?

साक्षात्कारका अर्थ है आत्यंतिक सत्यका प्रत्यक्ष ज्ञान। जैसे हम भौतिक पदार्थोंके सत्य-ज्ञानको प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं वैसे ही आत्यंतिक सत्यके प्रत्यक्ष ज्ञानको साक्षात्कार अथवा अनुभाव कहते हैं। हम जैसे आँख और कानसे रूप और शब्दका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वैसे ही शुद्ध, निर्मल, निरपेक्ष अन्तःकरणसे परात्पर सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं, और इसीको साक्षात्कार कहते हैं। जैसे सूर्य प्रत्यक्ष दीखता है, गरजनेवाले बादलोंकी गर्जना हमारे

कान प्रत्यक्ष सुनते हैं वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणको उस परम सत्यका प्रत्यक्ष बोध होता है। यह प्रतीति स्फुरणात्मक होती है, इसलिये वह केवल तर्क-प्रधान बुद्धिको अगम्य, और शब्दातीत रहती है। यह प्रतीति जिसके हृदयमें सदैवके लिये स्थिर हो जाती है वह पूर्ण साक्षात्कारी कहलाता है और वही पूर्णानंद साम्राज्यका स्वामी बन जाता है।

मनुष्यको साक्षात्कारसे अपना और परमात्माका संबंध क्या है इसका बोध हो जाता है। उसके अहंकार आदि संकुचित भाव नष्ट होजाते हैं। अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले सब प्रकारके सुख-दुःख नष्ट होते हैं और जहां कहीं आनन्द है उसका वह स्वामी बन जाता है।

साक्षात्कार दो प्रकारका हो सकता है। एक नित्य और दूसरा अनित्य। कभी-कभी आकाशमे क्षणभर चमकनेवाली विद्युत्की तरह "यही सत्य है" ऐसा जो क्षणिक अनुभव आता है वह अनित्य साक्षात्कार कहलाता है और वही विद्युत् सूर्य की तरह नित्य हो जाती है, निश्चल रूपसे रहती है तब नित्य साक्षात्कार कहलाता है। अनित्य साक्षात्कारसे मनमें छिपे हुए संशय सब नष्ट हो जाते हैं। 'यही सत्य है' ऐसा विश्वास दृढ़ हो जाता है। और साधक उस साक्षात्कारको नित्य करनेका प्रयास करने लगता है नित्य साक्षात्कारसे साधक कृतकृत्य हो जाता है। आनन्द-विभोर हो करके द्वंद्वातीत स्थितिमें रहने लगता है।

अब हम साक्षात्कारके विषयमें वचनकारोंके अनुभवपूर्ण वचनोंको देखें।

वचन—(९९) अनंतकाल तक गिरि-गुहादि स्थान पर जाकर तप करने वाला एक दिन गुरुकी चरण-सेवा करे तो क्या कम होगा? अनन्तकाल तक गुरुपूजा करने वाला यदि एक दिन लिंग-पूजा करे तो क्या नहीं चलेगा? और अनन्तकाल तक जंगम-तृप्ति करने वालेको क्या क्षण भर शिव-शरणोंका अनुभव पर्याप्त नहीं होगा **कूडल चन्न संगम देव**।

टिप्पणी:—इसमें साधन सोपान दिखाया है। वचनकारोंकी दृष्टिसे तप, गुरुपूजा, जंगमपूजा, और अनुभाव उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

(१००) अनुभाव रहित भक्ति ज्ञान नहीं देती, अनुभाव रहित संग समरस सुख नहीं पहुँचाता, अनुभाव रहित प्रसाद शांति नहीं दे सकता। अनुभावके बिना और कुछ नहीं जानना चाहिये। अपनेमें निहित होने पर क्या "शिव-शरणोंका संग ही क्यों?" ऐसा कहा जा सकता है क्या **कूडल संगम देवा**? तुम्हारा अनुभाव शब्दोंका मंथन कहा जा सकता है?

(१०१) मेरी तम-रूपी संसार-बंधनकी आशा टूट चुकी थी। खोज-

खोज कर दर्शन किया है, (तब) यह भ्रमजाल शून्य हुआ। नित्य निरंजन परंज्योतिका प्रकाश चमक गया। शुद्ध-सिद्ध-प्रसिद्ध शांत **मल्लिकार्जुन देवकी** करुणासे बची हूँ।

(१०२) दूध-भातकी मधुरता कह सकते हैं, ब्रह्म भोजका आनन्द कह सकते हैं, किन्तु उनके सुख-स्पर्शका स्वानुभव न कहना चाहिए न सुनना चाहिए। आकाशके स्पर्श संबंधके अनंतर भला कौन-सा उपचार और व्यवहार रहा? **कूडलचन्नसंगय** को जाननेके उपरांत जाननेके लिये और क्या रहा भला?

टिप्पणी:— आकाशका स्पर्श-सम्बन्ध=चिद्घनका अनुभव।

(१०३) ज्ञानकी तृप्ति ही अनुभावका आश्रय है। लिंगके अनुभावसे ही तुम्हे देखा था। तुम्हें देखकर अपनेको भूला प्रभो **कूडल चन्नसंगम देव**।

(१०४) "मैं मरा" ऐसा कभी लाश चीखती है? छिपाकर रखी हुई इच्छा कभी नष्ट होती है? जामुन लगाकर रखा हुआ दूध कभी पुनः मीठा बन सकता है? क्या यह बात कभी मानी जा सकती है **गुहेश्वरा**?

टिप्पणी:—अल्लम प्रभुने अक्कमहादेवीसे (बड़ी बहनको कन्नड़में अक्क कहते हैं तथा अपनेसे अधिक वयस्क स्त्रीको भी अक्क कहते हैं।) यह प्रश्न पूछे थे। अक्कमहादेवीने कहा, मुक्त पुरुष संसारमें विचरण करके भी अलिप्त रह सकता है।

(१०५) (अपनी) कांतिसे चौदह लोकोंको चमकाने वाला स्वरूप मैंने देखा। यह देखकर आँखोंका क्षाम (दुर्भिक्ष) आज समाप्त हुआ। सब पुरुषों-की स्त्री होकर राज करनेवाली गुरुदेवीको आज मैंने देखा। मैं जगदादि शक्तिमें विलीन होकर बोलनेवाले परमगुरु **चन्नमल्लिकार्जुन** का स्थान देखकर जी रही हूँ।

(१०६) विश्वसे अभिन्न मंटपके, आकाशसे अभिन्न छतका वैचित्र्य देखा ध्यान विश्रांतिमें सत्य, सत्य नामका एक दर्शन कर आकाशमें उदय होते, हुए **गुरु लिंगेश्वरको** अपने आप देखा।

(१०७) तुम्हारा दर्शन अनंत सुख है तो तुम्हारा मिलन परमसुख है। आठ करोड़ रोम कूपोंकी आंखें बनाकर देख रहा था **कूडल संगम देव**। तुम्हें देखकर मेरे मनमें आसक्ति पैदा हो गयी, मेरी आँखें अर्धोन्मीलित हो गई थीं।

(१०८) वह वस्तु हाथमें लगी जो नहीं देखी थी। अब आनन्द से उससे खेलता हूँ। आँखें भर-भरके देखता हूँ। अपने मनको खेंचकर भक्ति करता हूँ **कूडल संगय** तेरी।

टिप्पणी:—मनको खेंचकर=मनको इंद्रियासक्त होने न देकर।

(१०९) स्मरणकी संपत्ति थी वह, मेरे ज्ञानका समूह था वह, अरे! मेरा

पुण्य मेरी आंखोंके सामने आकर घर कर गया है, नित्यका प्रकाश है; मेरे ध्यानकी बहार है निष्कलंकमल्लिकार्जुना तेरे शरणोंके श्री-चरणोंमें शतशत प्रणाम करता रहा हूं।

(११०) पत्थरमें क्या आग जल सकती है ? बीजमें कभी वृक्ष बोल सकता है ? जो नहीं देखा है वह कैसे बांटा जा सकता है गुहेश्वरा तुम्हारा ठाव अनुभव-सुखी ही जान सकता है।

(१११) अनुभावसे लिंग पैदा हुआ था, उसी अनुभावसे पैदा हुआ था जंगम, उसी अनुभावसे प्रसाद पैदा हुआ था, जिस शरीरमें वह अनुभाव है वह सदैव सुखी है गुहेश्वरा।

टिप्पणी :—अनुभाव=सत्यका प्रत्यक्ष ज्ञान, साक्षात्कार-जंगम=शैव संन्यासी प्रसाद=ईश्वरको समर्पित वस्तु।

(११२) मनके नोकके छोरके उस पार स्मरण किये हुए स्मरणका रंग-रूप रहित चिन्ह देखकर पगला गया मां ! अन्तःकरणके अन्तरालमें प्रतिक्षण निजैक्य गुहेश्वरमें विलीन हो आनंदसे नाच उठा।

(११३) मैं एक कहता हूं तो आप दूसरा ही कहते हैं, आप एक कहते हैं तो मैं दूसरा ही कहता हूं; क्यों कि मेरी और आपकी पटरी नहीं बैठती, जब पटरी ही नहीं बैठती तब अनुभावकी बात क्या होगी ? और अनुभावकी बात न करनेवाले गुहेश्वर यहां नहीं है रे चन्नबसव।

(११४) वृक्षोंपर रहा तो क्या और भिक्षामे संतुष्ट रहा तो क्या ? पहने हुए कपड़े उतारकर दिगंबर हुआ तो क्या और काल-रहित हुआ तो क्या ? वैसे ही कर्म-रहित होकर निवृत्त हुआ तो क्या ? कूड़लचन्नके अनुभाव-रहित मनुष्य कितना ही काल जिया तो क्या और कुछ भी किया तो क्या सब व्यर्थ है।

(११५) अरे ! अनुभाव अनुभाव कहते हो, अनुभाव तो भूमिके अंदर छिपी संपत्तिकी तरह है रे ! अनुभाव तो बच्चोंका देखा स्वप्नसा है। अनुभाव क्या कोई कल्पना-तरंग है ? अनुभाव क्या बाजारका मसला है ? अनुभाव रास्तेपर पडा हुआ कूडा है क्या? अरे ! क्या है ? कहो न भाई ! हाथी तुम्हारी झोंपड़ीके छज्जपर आनेवाला है ? जहां बैठे वहां गोष्ठी, जहा गए वहां प्रवचन और दीक्षा-दान, जहां खड़े रहे वहां सत्संग और अनुभाव, ऐसे इन कुत्ते और सूअरोंको क्या कहूं मैं कूडलसंगम देव।

(११६) अनुभावकी बातें करनेवाले भाइयो ! कहां वह अनुभाव और कहां तुम, हटो मेरे भाइयो ! अनुभाव तो आत्म-विद्या है, मैं क्या हूं यह दिखाने वाली वस्तु है, अनुभाव अपने अंतःकरणमें होता है, अनुभावको न जानकर शास्त्रमें रटे हुए शब्द जालोंको फैलाकर जो नहीं देखा है उसका लेन-देन करने-

वाले मेरे भाइयो ! कहां तुम और कहां स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरका अनुभाव । हटो भाई हटो यहांसे !

विवेचन—ऊपरके. वचनोंमें अनुभाव अर्थात् साक्षात्कारके अलग-अलग पहलुओंका सुन्दर विवेचन किया है । उसकी व्याख्याकी है जैसे—"अनुभावका अर्थ आत्म-विद्या 'मैं क्या हूं" यह दिखानेका प्रयत्न-आदि । जप-तप, पूजा, नमस्कार आदिसे अनुभाव श्रेष्ठ है । वही भक्तिका आधार है । ज्ञानका आश्रय है । सबका मूल है । क्योंकि बिना साक्षात्कारके यह सब व्यर्थ है । अनुभावी लोग उस विषयमें परस्पर चर्चा करके आनंदित हो सकते हैं । किंतु जहां गए वहां उसकी चर्चा करना व्यर्थ है । ऐसा नहीं करना चाहिए । साक्षात्कार प्रकाश रूप है । वह अपने अन्तःकरणका प्रकाश है, संचित पुण्य-फलका प्रतीक है, वह अपनी अंतर्ज्योति.है । शब्दोंमें उसका वर्णन करना असभव है आदि सब बातें ऊपरके वचनोंमें स्पष्ट कही है ।

साक्षात्कारीकी स्थिति

विवेचन—पिछले अध्यायमें कहा गया कि सज्जनोंकी निर्मल मनोभूमिमें, सत्य-ग्राहक विशुद्ध अंतःकरणमें आत्यंतिक सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस अध्यायमे हम देखेंगे कि ऐसे अनुभव प्राप्त अनुभावियोंकी स्थिति कैसी रहती है। साक्षात्कार किये हुए अनुभावी कैसे होते है। सत्य-प्रकाश रूप होता है, अवर्णनीय होता है, आनंददायक होता है। सत्यका साक्षात्कार होनेसे साक्षात्कारीका अथवा अनुभावीका अहकार मिट जाता है। उसका "मैं एक व्यक्ति हू" यह भाव नष्ट हो जाता है, "मैं विश्वात्माका ही एक अंश हूं" यह भाव जागृत होता है। उसके सब संशय नष्ट हो जाते हैं। वह स्थिरमति होता है, अपनेको परमात्माका यंत्र मानकर, अथवा किसी कामका निमित्तमात्र बनकर, दैवी स्फूर्तिसे, परमात्माका संकल्प जानकर कर्म करता है। प्रत्येक मनुष्यका प्राप्तव्य यही है। यही मानवी जीवनकी सर्वोच्च स्थिति है। स्थिर और चिर साक्षात्कार मुक्तिका लक्षण है। उसी स्थितिमें मनुष्यको शाश्वत सुख प्राप्त होता है। तभी साक्षात्कारीको अपने जीवनमें परमात्माके अनन्त विभुत्व, अनंत गुणत्व तथा अनत शक्तित्वकी प्रतीति होती है अथवा अनुभावी प्रत्येक क्षणमें उसीमे लीन रहता है। तब वह सच्चिदानंद, नित्य परिपूर्ण परमात्माकी प्रेरणासे बरतता है। जब किसी व्यक्तिका अहंभाव पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, तब वह द्वंद्वातीत अथवा त्रिगुणातीत अवस्थाका अनुभव करता है।

अत्यंत कोमल दुध-मुंहा बच्चा अथवा नदी, नाले, गरजनेवाले बादल, चमकनेवाली विद्युत् बहनेवाली हवा आदि प्राकृतिक शक्तियां जिस सहजभावसे बरतती हैं, अथवा स्फुरण प्राप्त कवि जैसे निरंहकार होकर, लीलाभावसे काव्य लिखता है; वैसे ही, साक्षात्कारी अपनेको परमात्माका यंत्र और परमात्माको यंत्रचालक मानकर बरतता है। ऐसे ही अनुभावीको सिद्ध कहते हैं। वही साक्षात्कारी, अनुभावी, सिद्ध, मुक्त, अथवा सत्यसे समरस प्राप्त, निजैक्य कहलाता है।

वह बाह्य इंद्रियोंसे कोई काम क्यों न करें उसका अंतरंग परमात्मामें लीन रहता है। इसलिए उसका जीवन यज्ञमय-सा रहता है अर्थात् वह जो बोलता है, सुनता है, खाता है, करता है, वह सब परमात्माकी ही प्रेरणासे। उसीकी प्रेरणासे उसका जीवन चलता है। बाह्य सुख-दुःखसे उसका अंतःकरण अलिप्त रहता है। पाप-पुण्य उसके पास नहीं आते।

मुक्त और साक्षात्कारीका क्या संबंध है ? यह भी एक प्रश्न आता है। यदि हम साक्षात्कारको फूल समझें तो मुक्तिको फल समझ सकते हैं। साक्षात्कार मुक्तिकी पहली सीढ़ी है। मुक्ति साक्षात्कारका परिणाम है। साक्षात्कारी परमात्मामें सदैव लीन रहता है अर्थात् उसमें समरस रहता है। अब देखें इस विषयमें वचनकारोंने क्या कहा है।

वचन—(११७) "तू" और "मैं" यह उभयासक्ति मिट जाने पर, सब आप ही आप होनेके अनंतर, त्रिकूट नामक महा पर्वतके अंतिम शिखर पर चढ़कर देखा जाय तो विशाल आकाश देखा जा सकता है। उस महाकाशमें विलीन हो जानेके लिये, पहले इस त्रिकूटमें एक कदली वृक्ष है, उस कदली वृक्षके गाभेके अंतरतममें घुसकर देखनेसे, चमककर प्रकाशनेवाली एक ज्योति दीखने लगेगी। वहां चल मेरी मां ! गुहेश्वर लिंगमें तुझे परमपद अपने आप मिलेगा देख।

टिप्पणी :—अल्लम प्रभुने अक्क महादेवीको यह वचन कहा था। "आकाश" इस अर्थमें मूलमें "बयलु" शब्द है। बयलुका अर्थ है आकाश, शून्य। गाभा=गर्भ, अंतरतम भाग।

(११८) सुनो रे सुनो सब लोग ! उदर रहित, वाचा रहित, बिना ओर-छोरके प्रीतमसे मिलकर आनंदोन्मत्त बनी हूं मैं ! यह भाषा व्यर्थ नहीं है। अन्यका चिन्तन नहीं करूंगी और अन्य सुखकी आशा भी नहीं करूंगी। पहले छह था तीन हुआ, तीनका दो और दोका एक होकर खड़ी हूं मैं। बसवण्ण आदि शरणोंकी शरणार्थी हूं। शून्यसे कृतकृत्य हुई हूं। मुझे यह नहीं भूलना चाहिए कि मैं तुम्हारी शिशु हूं, इसलिये "तू चन्न मल्लिकार्जुनसे मिलकर समरस हो जा !" ऐसा आशीर्वाद दो।

टिप्पणी :—पहले छह का तीन हुआ, पहले छह अंगस्थल थे, वह तीन हुए, त्यागांग, भोगांग, योगांग, अनंतर लिंग और अंग ये दो रहे और अंतमें लिंगांग समरसैक्य हुआ। लिंग और अंगके विषयमें इसी पुस्तकके "परिचय" खंडका "सांप्रदायिक" अध्याय तथा "वचनामृत" खंडका अठारहवां अध्याय देखनेकी कृपा करें।

(११९) स्फटिक घटमें जलनेवाली ज्योति जैसे अंतर-बाह्य एक रूपसे जलती है वैसे मेरा अंतर-बाह्य एक ही एक है ऐसा आद्यंत दीख रहा है। पर शिवत्त्वही शरण है देख, दूसरा स्वरूप नहीं है रे महालिंग गुरू सिद्धेश्वरप्रभु।

(१२०) बिना स्थलका चलना, निःसीम बोलना और संभाषण सुख, वैसा ही अनंत विश्वास, स्वानुभव सुख, असीम महिमा और नित्य नूतन अनंत विचार कूडल संगमदेव तेरे शरणोंको ही प्राप्त है।

टिप्पणी :—इस वचनमें पर्यायसे शरण और परमात्मामें ऐकात्म्य दिखाया है।

(१२१) लिंगपूजाका फल ही क्या यदि समरति, समकला, और समप्रीति नहीं है ? लिंगपूजाका क्या फल है **कूडलसंगमदेव** नदीमें नदी न मिली तब तक ?

(१२२) समरसमें जो स्नेह है वह मत्स्य, कूर्म, विहंगकी भांति स्नेहके दर्शन-में ही तृप्त है, स्नेहके स्मरणमें ही तृप्त है । ओलोंकी मूर्ति पानीमें डूबनेका-सा हो गया है हमारा **गुहेश्वर** लिंगैक्य ।

(१२३) ध्यानसूतक, मौनसूतक, जपसूतक, अनुष्ठानसूतक, **गुहेश्वरको** जाननेके बाद सब सूतक यथा स्वेच्छासे मिट गये थे ।

(१२४) स्मर स्मर कहनेसे क्या स्मरा जाय रे ! मेरा शरीर ही कैलास बन गया है, तन ही लिंग, मन ही शैया बन जानेके अनंतर स्मरण करनेके लिये कहांका भगवान और उसे देखनेके लिये कहांका भक्त, **गुहेश्वर** लिंगमय हो गया है सब ।

(१२५) कपूरका पर्वत जलनेके बाद भी कहीं राख रही है ? हिम शिवा-लय पर कभी धूपका कलश रखा जाता है ? जलते हुए कोयलोंके पर्वत पर छोड़े गये लाक्षाके (लाख) तीर फिरसे चुने जा सकते हैं ? **गुहेश्वरलिंग** जाननेके बाद भी उसको ढूंढनेका रहता है क्या रे सिद्धरामय्या ?

टिप्पणी :—वचनकारोंका स्पष्ट मत है कि साक्षात्कारी अथवा अनुभावी जब सहज समाधिमें लीन रहने लगता है तब उसको किसी प्रकारकी साधनाकी आवश्यकता नहीं होती । क्यों कि तब वह परमात्मासे सतत समरस स्थितिमे रहता है । उस स्थितिमें ध्यान, स्मरण आदि भी सूतक (अमंगल) सा लगता है ।

विवेचन—पूर्ण साक्षात्कारी भी परमात्माकी भांति द्वंद्वातीत, निरपेक्ष और निर्लिप्त रहता है । सतत और सर्वत्र उसीको देखता है, उसीको सूंघता है, उसीका अनुभव करता है । उसीमें स्थित रहता है । वह भला, बुरा, पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म, कुछ भी नहीं कर सकता । जो कुछ कार्य उससे होता है वह सब परात्पर परमात्माके संकल्पानुसार होता है । इसलिये उसका काम स्वाभाविक, सहज सुंदर तथा लोकहितके अनुकूल ही होता है ।

वचन—(१२६) जब मनमें घन वेद्य हुआ तब कहांका पाप और कहांका पुण्य ? कहांका सुख और कहांका दुःख ? न काल, न कर्म, न जनन न मरण **गुहेश्वरा** यह तेरे शरणकी महान महिमाका परिणाम है ।

(१२७) जो कर्माधीन होता है वह कर्मी और जो लिंगाधीन होता है

वह भक्त होता है। देह प्रारब्ध कहनेवाला वह अद्वैति, और इस विविधमें किसी एकको न कहनेवालेको क्या कहेगा **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी :—अद्वैतियोंका यह मत है कि देह जो मिली है वह प्रारब्धवश मिली है और ज्ञान भी प्रारब्ध कर्मभोगसे होगा।

(१२८) अज्ञानके भुलावेसे इस संसारमे आया था। सब कुछ जान जानेके अनतर भला अब व्यग्र क्यों होने लगा? हृदय-कमलके मध्यमें सत्य स्थापित होनेके पश्चात् तो पाप-पुण्यसे परे हो गया। चतुर्दश भुवनोंमें पूर्णरूपसे शुद्ध निष्पाप ज्योतिरूप प्रकाशने वाले शून्यको देखकर जी उठा देख **बसवण्णप्रिय-कुडलसंगय**।

(१२९) बरसनेवाली वर्षा यह ऊसर और यह खेत ऐसा देखती है क्या? और जलनेवाली आगको यह सीधा और यह टेढ़ा-मेढ़ा होनेका भेदभाव होता है क्या? **गुहेश्वर** लिंग को भलाबुरा नही होता **संगबसवण्णा**।

टिप्पणी :—१२८ और १२९ के वचन भगवानके विषयमें है ऐसा लगता है किंतु सदर्भानुमार देखा जाय तो वह सिद्धावस्था प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लिये है।

(१३०) लिंग कहो या लिंगैक्य, संग कहो या निःसंग, हुआ कहो या नहीं हुआ, और तू कहो या मै! **चन्नमल्लिकार्जुनलिंग**में घनलिंगैक्य होनेके अनंतर कुछ भी न कहकर मौन रह जाना पड़ता है।

(१३१) स्वयं लिंगके अनुभव होनेके पश्चात् क्या देव लोक है और क्या मनुष्य लोक? उसमें अंतर ही क्या रहा तब? **कूडलसंगमदेव** सब कुछ तू होने के अनंतर भला आलस्य रहेगा कहां?

(१३२) आचार, अनाचार, ससीम और असीम, गमन और निर्गमन, धर्म-कर्म, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, भवमोह, इह-पर, ऐसा कुछ भी उभय-संशय अब नहीं रहा रे! कुछ भी न रहनेका परम अनुभाव निरवय ही शरण लिंग समरस है **गुरुशिव सिद्धेश्वर प्रभु**।

(१३३) गुण निर्गुण नहीं है वह लिंगैक्य साकार निराकार नहीं है, वह लिंगैक्य शून्य निःशून्य नहीं है, वह लिंगैक्य काम निःष्काम नहीं है, वह लिंगैक्य द्वैत-अद्वैत नहीं है, इह प्रकार दीखनेवाला दर्शन सब स्वयं अपने आप होते हुए, इस पर दोनोंका अतिक्रमण कर परिपूर्ण शून्य होकर अपना प्रतीक भी खोये हुये निरवय लिंगैक्य बने हुएको किस उपमासे समझाया जाएगा **अखंडेश्वरा**।

(१३४) अहंकार भूलकर, देहगुणोंका तिरस्कार कर, इह पर दोनों अपने-आप होनेका भान होने पर ही "सोहम्" भाव स्थिर हुआ। सहज उदय स्थिति-

में महालिंग प्रकाश स्थायी होनेसे गुहेश्वरा तेरा शरण उपमातीत है।

(१३५) मरकर जनमनेवाला नहीं, संदेह नामका अमंगल भी नहीं लगा। न साकार-निराकार है, न कायवंचक ही है और न जीववंचक ही, सदैव सहज रहता हूं देख ; संशय रहित, महामहिम कूडलसंगमदेवकी शरण गया हुआ शिव-शरण उपमातीत होता है।

(१३६) जैसे आकाशमें छिपा सूर्य, पृथ्वीमें छिपी संपत्ति, म्यानमें छिपी तलवार, फलमें छिपा रस, वैसे ही शरणके शरीरमें छिपी परम पावन मूर्ति परात्पर सत्य वह स्वयं अपने आप बन गया है रे महालिंग गुरु शिवसिद्धेश्वर-प्रभु।

(१३७) फल खा लेनेके पश्चात् पेड़की किसको पड़ी है ? स्त्रीको त्याग देनेके अनंतर वह किसीके साथ भी रही तो क्या जाता है ? खेती छोड़ देनेके अनंतर भला उसमें कोई बोआई-कटाई करे तो क्या है ? चन्नमल्लिकार्जुनको जान लेनेके अनतर इस शरीरको आगमें जलाया तो क्या, पानीमें बहाया तो क्या और कुत्तोने नोच खाया तो क्या ?

(१३८) यह शरीर मुर्झाकर काला पड़ा तो क्या और खिलकर चमक उठा तो क्या ? अंतरग शुद्ध होकर चन्नमल्लिकार्जुन लिंगैक्य होनेके अनंतर यह शरीर कैसा भी रहा तो क्या ?

टिप्पणी :—वचनकारोंकी दृष्टिस यह शरीर केवल परमार्थका साधन मात्र है। सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् उसका कोई मूल्य नही है। ऊपरके दो वचनोमें यह बात बताई गयी है।

(१३९) परतत्वमें तद्गत होनेके अनंतर दूसरी बाते जानने न जाननेकी भ्रांति क्यों ? ज्ञानमें तादात्म्य होकर अज्ञान नष्ट होने पर 'मैं कौन हूँ' यह विचार कैसे ? गुहेश्वरमें विलीन होकर भेदभाव मिटनेके अनंतर भला संगकी व्याकुलता कैसी ?

(१४०) आगमें झुलसे कुलथीकी भांति हुआ हूँ रे ! जले हुए सूतकी गांठ बांधनेका प्रयास भला कैसा ? गुहेश्वरा तुम्हारी स्थितिका यह ढंग है रे !

टिप्पणी :—पूर्णैक्यके अनंतर पुनः भगवानसे मिलनेकी व्याकुलता नहीं रहती। ऊपरके वचनोंमें यह बात कही है।

(१४१) हाथमें दीपक पकड़कर भला अंधकारको क्यों खोजूं ? पारसमणि हाथमें रखकर भला रोटीके लिये परिश्रम और हाय-हाय क्यों करूं ? जिसकी क्षुधा निवृत्ति हुई है वह पाथेयका बोझ क्यों ढोय ? नित्य अनित्य जानकर भी भक्तोंके लिये मृत्युलोक और कैलासकी बात करना उचित नही है। अपने प्राप्तव्यको निश्चय जानकर उस निश्चय पर दृढ़ रूपसे अड़े रहे तो

उस महाशून्यके प्रकाशमें अपने आपको देखलो **इम्मडिप्रिय निष्कलंकमल्लिकार्जुनमें ।**

(१४२) कायानुभावी लोग शरीरमें मुक्त हैं, जीवानुभावी जीवनमें मुक्त हैं, पवनानुभावी पवनमें मुक्त हैं, इन सबको लिंगानुभावियोंके समान कैसे कहूं ? शिवलिंग-प्रकाशमें जो सदैव डूबे हुए हैं वही हमारे शिवशरण है **कूडल-संगमदेव ।**

विवेचन—मुक्ति ही मनुष्यका आत्यंतिक साध्य है । मुक्त होनेके अनंतर मुक्तिके भक्तोंको स्वर्गादिकी कल्पना नहीं रहती । मुक्त पुरुष सतत ब्रह्मानंदमें लीन रहता है । मनुष्यमें अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय-कोश, और आनंदमयकोश ऐसे पंचकोश रहते हैं । जिसने अन्नमयकोशका अतिक्रमण किया उसको कायानुभावी, जिसने प्राणमयकोशका अतिक्रमण किया उसको जीवानुभावी अर्थात् प्राणानुभावी आदि कहा है । किंतु वह पूर्णज्ञानी नहीं है । लिंगानुभावी पूर्णज्ञानी होता है, क्योंकि वह सतत सर्वत्र परमात्माका अनुभव करता है । और मनुष्यको सतत सर्वत्र परमात्म तत्वका अनुभव करनेकेलिये अपने अग गुणोंका अर्थात् शरीर गुणोंका संपूर्ण रूपसे अतिक्रमण करके लिंग गुणोंका अर्थात् आत्म गुणोंका विकास करना आवश्यक है ।

वचन—(१४३) आरुणोदयके साथ अंधकार दूर होकर जैसे सर्वत्र प्रकाश फैलता है वैसे ही सम्यक् ज्ञानोदय होते ही अज्ञान बीज और मल संस्कार धुल जाते हैं । "मैं ही परमात्मा हूँ" का बोध हो जाता है । वह जाननेका भान भी नष्ट होकर परशिवसे जो समभावी होता है वही मुक्त है रे बाबा ! **निजगुरु स्वतन्त्र-सिद्धलिंगेश्वरा ।**

(१४४) शरीरमें रहकर शरीरको जीता, मनमें रहकर मनको जीता, विषयोंमें रहकर विषयोंको जीता, असंग छोड़कर इस संसारको जीता उसने । **कूडलसंगमदेवके** हृदयमें प्रवेशकर परम पद प्राप्त महादेवी अक्कके चरण-कमलोंमें शत-शत प्रणाम करता हूं !

(१४५) योग शिवयोग कहते हैं, पर योगका रहस्य कौन जानता है ? हृदय कमलमें वास करनेवालेका प्रकाश देखनेके पहले क्या योग कहा जाता है ? बावन अक्षर देख-देखकर छः अन्तस्थके ऊपर मणिमाड रह सका तो वह योग है । सोहम् नामके स्थानमें सूक्ष्म ध्वनि मिटकर मन नष्ट हो जानेके कारण **गुहेश्वर** लिंगमें तू स्वतन्त्र और निर्भय है यह दीख पड़ेगा सिद्ध रामैया ।

टिप्पणी :—षडचक्र और बावन वर्णोंका अतिक्रमण करके सहस्रदल कमलमें स्थित होनेके अनंतर साधकने सच्चा योग साध्य किया ऐसा कह सकते हैं ।

यहां "मरिगमाड" का अर्थ सहस्रदल कमल अथवा सातवां अंतस्थ ऐसा कह सकते हैं। यह वचन शास्त्रमें आनेवाला वचनकारोंका अपना परिभाषिक शब्द होनेसे वही रखा है।

विवेचन—साक्षात्कारीकी स्थिति जीवन-मुक्तकी स्थिति है। वह कोई स्थान अथवा जगह नहीं है। कोई लोक भी नहीं। वह चित्तकी स्थिर रूपसे रहनेवाली एक स्थिति है। उस स्थितिमें मनुष्य सदैव अनासक्त, निर्लिप्त, अलिप्त रहता है, सतत कर्म करनेपर भी उसको कर्मका दोष नही चिपकता। क्योंकि वह भगवत्प्रेरणासे सब काम करता रहता है।

वचन— (१४६) सापके दाँत तोड़कर उससे खेलना आए तो सांपका साथ बड़ा अच्छा है। शरीरके सगका विवेचन कर सके तो शरीरका सग भी अच्छा है। मां जैसी राक्षसी भी बनती है वैसे शरीरके विकार विनाशकारी बनते है। **चन्नमल्लिकार्जुनय्याने** जिसे आलिगन दिया है उसको सशरीरी नही कहो।

टिप्पणी :—शरीरके तथा उसकी इंद्रियोंके तंत्रसे, उनके आधीन होकर चला तो मनुष्यका सर्वनाश निश्चित है, उसीमें अविकारी रहे तो मनुष्य मुक्त होता है। शरीर खराब नहीं किंतु उसके विकारोंके आधीन होना खराब है।

(१४७) पानीमें डूबा हुआ मत्स्य जैसे पानीको अपनी नाकमें नहीं जाने देता वैसाही शिवशरण ससारमें रहकर भी उससे अलिप्त रहता है; अपने शरणोको यह बुद्धि और मत्स्यको वह बुद्धि तूने ही दी है न मेरे **कपिल सिद्ध मल्लिनाथैया**।

(१४८) कुंडलिग कीटककी भांति शरीरमे मिट्टी न लगने देते हुए रहा है तू बसवण्ण! जलमें डूबे कमल पत्रकी तरह डूबकर भी निर्लिप्त रहा है तू बस-वण्ण! जलसे बना हुआ मोती जैसे पुनः जल नहीं बनता वैसा रहा है तू बसवण्ण। **गुहेश्वर** लिगकी आज्ञासे अंगगुणोंमें मस्त ऐश्वर्याधिकारमें रहने-वालोंके मनको क्या कर सकते हैं संग बसवण्ण?

टिप्पणी :—कुंडलिगकीटक=एक कीड़ा जो सदैव मिट्टीमें रहता है किंतु उसके बदनको मिट्टी नहीं लगती।

(१४९) आंखोंसे देखना चाहूं तो रूप नहीं, हाथसे पकड़ना चाहूं तो शरीर नहीं. चलाना चाहूं तो गतिमान नहीं, बोलनेके लिए वाचाल नहीं, निंदा करूं तो द्वेषी भी नहीं, प्रशंसा करने वालोंका स्नेही भी नहीं; **गुहेश्वरकी** स्थिति शब्दोंकी मालामें गूंथी जा सकती है क्या हे सिद्ध रामैया! तू ऐसा कैसे बना?

(१५०) शरण न इह (लोकका) है न पर (लोकका) न अपना है न

पराया, वह कामी सा लगनेपर भी कामी नहीं होता, साधना न करनेपरभी असाधक नहीं होता, वह निर्दोष है, निष्पाप है, सिद्धसोमनाथ लिंगेय तुम्हारा शरण कार्यरत रहकर भी कर्मचक्रमें भ्रमित नही होता।

(१५१) यदि आकाश ठोस हो जाए, तो स्वर्ग मृत्यु पाताल कहां रहेंगे ? बादलका सारा पानी निर्मल मुक्ता-मणि बन जाय तो इन सप्त सागरमें पानी कहांसे आए ? मानव सब शिवज्ञानी हो जाए तो यह विश्व कैसे चलेगा ? इसीलिए कूड़लसंगमदेवके घर लाखोंमें एक भक्त और करोड़ोंमें एक शिवशरण साक्षात्कारी होता है।

टिप्पणी :—शिवज्ञानी=पूर्णज्ञानी।

(१५२)—स्वस्थान, सुस्थान, सुमन सिंहासनपर नित्य निष्पाप निरंजनका प्रकाश है। शिवयोगानुभव एकार्थ होकर गुहेश्वरा तुम्हारा शरण अनुपम सुखी बनकर रह गया।

टिप्पणी :—स्वस्थान, सुस्थान, सिंहासन=ब्रह्मरंध्र अथवा सहस्रार चक्र। शिवयोग=परमात्म योग।

(१५३) भरा हुआ नहीं छलकता, विश्वस्थ कभी संशय नहीं करता, अभिन्न प्रेमी कभी खिसक नहीं जाता, अच्छी तरह जाना हुआ कभी भूल नहीं जाता; चन्नमल्लिकार्जुनैया तुझसे अभिन्न हुए शरणको सदा सुखहा सुख है देख।

अज्ञान

विवेचन—मुक्ति चित्तकी स्थिति है और साक्षात्कार अंतःकरणका दिव्य अनुभव, यह बात ऊपरके अध्यायमे कही गयी है। यदि यही बात है तो वह महान् अनुभव सबको क्यों नहीं मिलता ? इस महान् अनुभवकी प्राप्तिमें कौनसी रुकावट है ? उस रुकावटके लक्षण कौनसे हैं ? उस रुकावटसे उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयां किस प्रकारकी हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? इन सब प्रश्नोंका विचार करना आवश्यक है।

मुक्ति मानवी चित्तकी नित्य, निरालब, आनंदमय स्थिति है। मनुष्यके मनमे जो अनित्य, परावलंबी, विषय सुखकी आशा बनी रहती है वह इस नित्य, निरालंब सुखकी विरोधिनी होती है इसलिए यह स्थिति सबको नहीं मिलती और इसी कारण दुःखकी उत्पत्ति भी होती है। कभी-कभी मिलनेवाले अल्प सुखके कारण अतृप्ति बढ़ती है, असंतोष पैदा होता है। इस अतृप्ति, तज्जन्य असंतोष आदिका अंधकार दूर होने तक चित्तमें मुक्तिका प्रकाश नहीं पड़ता। इस प्रकार निरालंब, निर्दोष, नित्य शाश्वत सुख अथवा मुक्त स्थितिका विरोधीभाव मनुष्यके मनमें ही होता है। आत्म सुख नामके शाश्वत सुखकी एक स्थिति है और उसे प्राप्त किया जा सकता है, यह भूल करके, मनुष्य उसका प्रयास न करता हुआ अनित्य विषय सुखके पीछे पडता है। इससे, रेशमका कीड़ा जैसे अपने ही जालमें स्वयं फ़ंसकर मर जाता है, तथा उसीमें बंध करके तड़पता कलपता रहता है वैसे ही मनुष्य अपनी ही कामनाओंमें बंधकरके तड़पता रहता है। यदि वह अपनी इन कामनाओंका त्याग करके नित्य आत्म-सुखका शोध करेगा, उसके लिये प्रयत्न करेगा तो मुक्त होगा। अर्थात् मनुष्यको शाश्वत सुखकी प्रतीति नही होती इसलिए वह अशाश्वत अर्थात् क्षणिक सुखके पीछे पड़कर दुःखी होता है। तब प्रश्न उठता है ऐसा क्यों ? वचनकार इसका उत्तर देते हैं "अज्ञानके कारण।" उसीको अविद्या, माया, मिथ्याज्ञान, अज्ञान, पूर्णज्ञानका अभाव आदि कहते हैं।

आत्यंतिक सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव ही साक्षात्कार है। साक्षात्कारसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। सबको उस सत्यका अनुभव नही होता, अर्थात् सबको शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि सभी उस सत्यका अनुभव करनेवाले साधक नहीं होते। अधिकतर लोग भौतिक विश्वके विषय सुखकी ही अपेक्षा करते हैं। इसके परे क्या है ? इसके मूलमें क्या है ? इस

जिज्ञासासे उसको जाननेका प्रयास करनेवाले लोग बहुत कम होते हैं। आत्यंतिक सत्यके अनुभवके लिये, क्षणिक सुखकी अभिलाषा अथवा विषय सुखसे इंद्रियोंको होने वाला सुख अर्थात् केवल भौतिक सत्यका अनुभव विरोधी भाव है। इंद्रियानुभवको ही सत्य-नित्य मानकर हम जब तक जीवन यापन करेंगे तब तक हमें आत्यंतिक सत्यका अनुभव नहीं होगा। अर्थात् भौतिक विषय सुखके पीछे पड़ना अथवा उसके लिये मन हारना अज्ञान है। यह अज्ञान-का द्योतक है। अज्ञानका परिणाम है। वही माया है। वही मोह है, अविद्या है, ज्ञान शून्यता है !

यह अज्ञान, अहंकार, काम, क्रोध, देहात्मबुद्धि, इंद्रिय-सुख-लोलुपता, आसक्ति, आदि अनेक रूपसे मनुष्यके सामने आता है। यही मनुष्यके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात्कार अथवा मुक्ति सुखके विरोधी भाव है। संसार तुच्छ है, माया है, मिथ्या है, इस भावनासे संसारको त्याग कर गेरुवे कपड़े पहनकर, संन्यासी बनकर भागनेसे कुछ नहीं बनता। किंतु संसारमें रह कर ही इन सबको जीतना होता है। इसीसे मनुष्य मुक्त होता है इसीमें उसको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है।

इस अज्ञानने मनुष्यको क्यों और कैसे घेर लिया ? यह अत्यंत महत्त्वका प्रश्न है। यहां इस प्रश्नका पूर्ण उत्तर न देकर उस ओर संकेत मात्र किया जाएगा।

जो अनंत है उसके सांत अथवा संकुचित होनेके पहले सृष्टिकी रचना होना असंभव है, अथवा जो अनंत है वही मर्यादित होकर नाम रूपादिको धारण करके सृष्टि कहलाता है, जैसे जल तत्त्वको नदी नाला आदि बननेके लिये मर्यादाके अंदर बद्ध होना पड़ता है। मनुष्य विश्वके मूलमें स्थित अनंत गुण, अनंतशक्ति, और अनत ज्ञानका एक अंश रूप बननेके पहले जीव नहीं कहलाता। इसलिए वह संकुचित शक्ति, संकुचितज्ञान, अर्थात् मर्यादित शक्ति और सीमित ज्ञानवाला होता है। अर्थात् वह अपने जीवन क्रमकी दृष्टिसे, अपनी देह तथा अपने जीवनसे संबंधित विश्व विषयको ही जानता है। उसका ज्ञान सीमित होता है। यह सीमित अथवा संकुचित ज्ञान ही अज्ञान है। क्योंकि वह विश्वके संपूर्ण तत्त्वका ज्ञान नहीं जानता। किंतु मनुष्य और विश्वकी मूल भूत शक्तिका तत्त्वतः सबंध है। मूलतः और तत्त्वत. वह एक ही है, अतएव यह सब जानकर मूलशक्ति अथवा तत्वके साथ समरस होनेकी क्षमता मनुष्यमें है। यदि वह ऐसा प्रयत्न करेगा तो ज्ञानी, अर्थात् पूर्णज्ञानी बनकर मूल तत्वकी भांति मुक्त भी होगा। तब तक वह बद्ध है, केवल अंशाविर्भावकी भांति सांत हैं, संकुचित हैं, मर्यादित है, इसलिये दुःखी है

अब हम देखें वचनकारोंने इसके विषयमें अपने वचनोंमें क्या कहा है। उन्होंने कहा है यह अज्ञान माया, मोहरूप होता है।

वचन—(१५४) पानी जमकर जैसे हिम बन जाता है वैसे शून्य ही स्वयंभू हुआ। उस स्वयंभू लिंगसे मूर्ति बनी, उस मूर्तिसे विश्वकी उत्पत्ति हुई, उसी विश्वोत्पत्तिसे संसार बना, उस संसारसे अज्ञान पैदा हुआ; वह अज्ञान रूपी महामाया, विश्वके आवरणमें मैं "जानता हूँ मैंने जाना" कहने वाले अर्धज्ञानी मूर्खोंको अंधकारमें लपेटकर कामनाओंके जालमें फ़ंसाते हुए निगल रही है **गुहेश्वरा।**

टिप्पणी :—शून्य = किसी भी इंद्रियको गोचर न होनेवाली निर्गुण वस्तु, उपनिषद्में अथवा ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें कहा हुआ "ऋत"

(१५५) सूखे पत्ते चबाकर तपश्चर्या करनेसे भी नहीं छूटती है वह माया। हवा खाकर गुफा में जा बैठने पर भी पीछा नहीं छोड़ती है वह माया। शरीर का व्यापार मनमें लाकर व्याकुल कर देती है वह माया। ऐसी ही अनेक प्रकारसे हिंसा करके मारती है वह माया। इस प्रकार सारा जगत इसके पाशमें तड़प रहा है **निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वरा** अपनेसे अभिन्नोंको इस माया-जालमें से बचाकर ले जाना ही तेरा धर्म है।

(१५६) मैं एक सोचता हूँ तो वह दूसरा ही सोचती है, मैं इस ओर खींचता हूं तो वह उस ओर खीचती है। उसने मुझे मुग्ध करके सताया था, दग्ध करके सताया था। **कूडलसंगमदेवसे** मिलते समय तो मुझसे आगे जाकर दोनोंके बीचमें खड़ी रहती थी वह माया।

(१५७) वेद-वेदान्त और शास्त्र-सिद्धान्त कहीं जाकर देखनेपर सर्वत्र यही एक भेद है। जाना तो दोषसे बाहर, मलसे बाहर, भूला तो उसके अन्दर और जहां ज्ञान अज्ञान, स्मरण विस्मरण दोनों मिटा कि **सदाशिवमूर्ति लिंगका** प्रकाश हुआ।

विवेचन—विश्वोत्पत्तिके साथ मायाकी भी उत्पत्ति हुई। वह सबको सताती है। केवल जप-तप करनेसे वह नहीं छोड़ती। मनुष्यकी इच्छाके विरुद्ध पापमें उतारकर उसको गिराती है। उसके मुक्ति मार्गमें रुकावट होकर खड़ी रहती है। साक्षात्कारके मार्गमें कांटे बिछाती है। वह विस्मरण आदिके रूपमें आकर सताती है, ऐसा प्रकट करनेके बाद उसका अहंकार-रूप दर्शाया है। कहा है अहकार भी अज्ञानका रूप है।

वचन—(१५८) मैं तू रूपी अहंकार आया कि कपट-कला और कुटिल कुतंत्रकी हवा चली और उस तीव्र हवामें ज्ञान-ज्योति बुझी। यह ज्ञान-ज्योति बुझते ही "मैं जानता हूं अथवा मैंने जाना है" कहनेवाले सब अर्धज्ञानी तमसां-

धकारमे पड़करके राह भूलकर सीमोल्लंघन करके ध्वस्त हुए गुहेश्वरा।

(१५९) 'मैं" के अहकारमे जो भोगा वही मुझे खाता है। निंदा स्तुतिमें मुर्झाया या खिला कि मायाके जालमें फंसा और गुहेश्वर दूर हो गया।

टिप्पणी — अहकार के साथ ही साथ अन्य अनेक प्रकारके तमका आवरण पड़ता है यह कहकर आशाका रूप दिखाया गया है।

(१६०) आंखोके सामने आई कामनाओको मारकर, मनके सामने आई आशाको खाकर उसे जान आतुरवैरी मारेश्वरा।

(१६१) धनको माया कहते हैं, धरित्रीको माया कहते है, दाराको माया कहते है; धन माया नहीं है, धारित्री माया नहीं है, दारा माया नही है; मनके सामने खड़ी कामना ही माया है रे गुहेश्वरा।

(१६२) आशाके शूल पर वेश नामकी लाश बिठाऊं तो ऊपर बैठे हुए पुरखे गल गये; आशाको आंखोके सामने रखकर उसके चारों ओर मंडराने वाले पुरखोको देखकर गुहेश्वरलिंगको जुगुप्सा हो गयी देख संगनबसवण्णा।

टिप्पणी :—बिना पिंड तिलोदकके पितरोंकी गति नहीं होती इसलिये वह संतानकी ओर देखते हैं; (पितरोके उद्धारके लिये सतानोत्पादन करना अनिवार्य धर्म माना जाता है) यहां इस भावनाका विरोध है।

(१६३) काल सर्पको एक ही मंत्रसे रोक सकते है, एक ही मंत्रसे उड़ते हुए पंछीको रोक सकते है, एक ही मंत्रसे मुंह फैलाकर आनेवाले सिंहको रोक सकते है, एक ही मंत्रसे मृत्यु नामकी महाराक्षसीको रोक सकते हैं किंतु जिसे लोभरूपी भूतने पछाड़ा है उसे किसी मंत्रसे नहीं बचा सकते। उस लोभका उपचार है गरीबी ! किंतु क्या करें ? कहें तो नहीं सुनते, समझायें तो नहीं मानते, न शास्त्रको देखते हैं, न भक्तिको अपनाते हैं ऐसे मूर्ख अंधोके प्रारब्धमें कर्म-समुद्रमें डूब मरना ही बदा है ऐसा सत्य कहा है शिवशरणोंने अंबिगर चौडैय।

टिप्पणी :— मायाका मूल है आशा, लोभ, कामना, वासना, इच्छा, तृष्णा यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस आशासे मनुष्यका मायाजाल बढ़ता हैं। जैसे-जैसे वह बढ़ता है मनुष्य उसमें लिपटता जाता है।

(१६४) औरोंकी वस्तुओंकी वासनाका ज्वर चढ़ आनेसे तड़पता रहा मैं। धन धरणी और दाराकी आशासे व्याकुल हो कर प्रलाप कर रहा था मैं, यह व्याकुलता शांत करके अपनी करुणाका अमृत पिलाते हुए इस ज्वरका उपशम कर बसवप्रियकूडलसंगमदेव।

(१६५) कांचन नामकी कुतियाके पीछे पड़कर मैं तुम्हें भूल गया था; कांचन सेवाके लिये समय रहता था किंतु तुम्हारी पूजाके लिए समय नहीं मिलता

था मुझे। कुतियाके पीछे मरनेवाला कुत्ता अमृतका स्वाद कैसे जानेगा मेरे कूडलसंगमदेव।

(१६६) युवतियोंकी चरण सेवा करते हुए ब्रह्मकी बातें करनेसे ब्रह्मकी बातें ही रुक जाएंगी अंबिगर चौडया।

(१६६अ) युवतियोंकी चरणसेवा लेते हुए ब्रह्मकी बातें करनेसे ब्रह्मकी बातें ही रुक जाएंगी अंबिगर चौडया।

टिप्पणी :—मूल वचनसे ये दोनों अर्थ निकलते थे इसलिये एक ही वचन के दो रूप दिये हैं।

(१६७) बड़े-बड़े लोगोंको नरम करता है वह धन, संत महंतोंको धर दबाती है वह दारा, और मैं-मैं कहनेवालोंको झुकाती है वह धरा, धनकी खान देखनेपर कहां रहता है वह बड़प्पन? कामिनियोंकी कामनाओंमें ही रमते रहते हैं वह संत महंत, मिट्टीकी सुगंध आते ही वह कहां स्थिर रहते है? धन, धरणी और दारा रूपी धूल आंखोमें झोंककर वह तुम्हारे स्मरण संकल्पका अवसर ही नहीं आने देती है सोड्डलागरलगलधरा।

टिप्पणी :—तृष्णा अधिकतर तीन रूपसे मनुष्य पर अपना आवरण डालती है। वह तीन रूप हैं स्त्री, धन और भूमि। ऊपरके वचनोंमें उसीका वर्णन किया है।

(१६८) यह संसार एक बवंडरका दीपक है और श्री-हाटकी चीज! उसके भुलावेमें आकर ध्वस्त मत हो बाबा! उस श्री को भूल कर पूजा करो हमारे कूडलसंगमदेवकी।

(१६९) संसार नामके महा अरण्यमें राह भूलकर तड़प रहा हूं देख। न दिन है न रात, इस संसारके जंजालमें तड़प रहा हूं। निजगुरु स्वतंत्र सिद्ध लिंगेश्वरा न जाने कितने लोग इस संसार नामके महा अरण्यमें फंसकर राह न देखते हुए, तुझे न जानते हुए तड़प-तड़प कर मर गये।

टिप्पणी :—इस वचनके अनुवादमें राह शब्द आया है। मूल वचनमें "होलबु" शब्द आया है। 'होलबु' इस शब्दके तीन अर्थ होते हैं। राह, रहस्य और पद्धति।

(१७०) संसार सागरसे उदित होनेवाला सुख ही दुःख है, यह न जानकर जहां उसी सुखके भुलावेमें भव दुःखके क्रूर जन्म-मरणके चक्रमें आये वहां मैं और मेरा कहकर खूब इठलाये, जो अपना नहीं था उसको भ्रमसे अपना कहा, इस प्रकार भयंकर भव-चक्रमें आबद्ध अज्ञानी जीव भला तुम्हें कैसे जानेंगे मेरे प्रिय ईमंडिनिष्कलंकमल्लिकार्जुना वह सब।

(१७१) पंचेंद्रिय नामके पांच फनवाले महान संसार सर्पके काटनेसे पंच

विषय नामका विष चढ़ा, और सब अचेत होकर पड़े हैं। सबको काटकर पुनः उनको ही कसकर उन्हींसे खेलनेवाले इस सांपका मुंह कैसे बांधा जा सकता है यह न जाननेसे सब उसीमें मरते हैं न **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरका स्मरण न कर।**

विवेचन—संसारमें पंचेंद्रिय द्वारा सुख होगा ही नहीं ऐसा कोई नही कहता। वचनकारभी ऐसा नही कहते, किंतु वे कहते है पंचेंद्रियों द्वारा अनुभव आनेवाला सुख क्षणिक है, उसमें दुःखके बीज हैं, और वह शाश्वत सुखके विरोधी हैं। इसीलिये वे कहते हैं इस क्षणिक सुखके भुलावे में ना आओ। वह सुख क्षणिक है, दुःख मिश्रित है, परावलंबी और परतंत्र है। तुम शाश्वत सुख-के अधिकारी हो, उसके लिये प्रयास करो।

वचन—(१७२) संसारमें सुख नहीं है, संसार सुखमय नहीं है, 'इह'' में और 'पर'' में भी सुख नही है; क्योंकि वह स्थिर नही है। ग्रह-पाश, क्षेत्र-भ्रम, पुनः-पुनः आते है। वह विचार छोड़ दो बाबा! छोड़ दो!! पैदा होकर मर जानेवालोंको देखकर भी क्यों पड़ता है इस संसार पाशमें? अरे बाबा! तेरी यह देह स्थिर नहीं है, वह नाशवान है, तू कहांसे आया यह जानकर वहीं जानेका प्रयास कर, वही रास्ता पकड़, वह रास्ता **स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरमें** विलीन हो जाना है।

(१७३) कहां संसारका सुख और कहां वह निजैक्य सुख? कहां घोर अंधकार और कहां प्रकाश? मेरे अंतरंगमें कभी दीखता है और कभी छिपता है; यह कैसा जादू है? मृदु मधुर खीर खा लेनेके बाद भला नीम पीना किसको अच्छा लगेगा? अपने आत्म-सुखकी मिठास घोल देनेके अनंतर संसार सुख खिलाना चाहो तो कैसा होगा? मेरे साथ ऐसा खेल क्यों खेला जा रहा है रे? मुझे नहीं चाहिये, नहीं चाहिये यह सब। तू मुझे जानकर, मेरा पालन कर, तुझे मेरी सौगंध है **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धेश्वरा।**

(१७४) रोगीको भी कभी दूध मधुर लगता है क्या? उल्लूको कभी धूप अच्छी लगती है क्या? चोरोंको भी कभी चांदनी अच्छी लगती है? भव सागरमें समरस हुए लोग भला निर्भावका भाव कैसे समझेंगे **चिक्कैयप्रिय-सिद्धलिंगैय?** नहीं; नहीं समझेंगे।

(७५) विश्वसा विशाल माया जाल पकड़कर कालरूपी जालक जाल फैला रहा है देख, उस जालसे बचनेवाला एक भी प्राणी मैने नही देखा, मैं-मै कहने वाले कई लोगोंको, ज्ञानी-विज्ञानी तत्वज्ञानियोंको उसने अपने जालके फंदेमें जकड़ा; कालके जालमें आबद्ध होकर, उसके फंदेमें वेष्टित होकर सारा संसार सिसक रहा है **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वर** अपनोंकी रक्षा करता है उस जालसे।

(१७६) संसाररूपी महारोग सबको त्रस्त कर मानो निर्जीव करके छोड़ता है, आगे दिखाई देनेवाले सत्पथ पर कदम बढ़ानेकी शक्ति ही न रखकर अधम बनाकर छोड़ता है। शिवजी ! मैं तुझसे विनय करता हूं, तू ही श्री गुरु-रूपी वैद्य बन, कृपा-प्रसाद रूपी औषधी दे, पंचाक्षरीका पथ्य बताकर संसार रूपी व्याधिसे बचा रे मेरे स्वामी ! यही तुम्हारा धर्म है निजगुरु स्वतंत्र सिद्ध-लिंगेश्वरा।

टिप्पणी—मायाका विस्तार उतना ही है जितना विश्वका है। उसमें विश्वके सभी प्राणी फंसते हैं। फंसकर निःसत्व बनते हैं। केवल भगवानकी कृपासे ही मनुष्यका उद्धार संभव है।

मुक्तिकी इच्छा

विवेचन—प्रत्येक मनुष्यमें मुक्ति, अर्थात् शाश्वत सुख, अथवा परमानदकी इच्छा होना स्वाभाविक है। वह मानवमात्रका मनोधर्म है। मुक्ति प्राप्त करनेमें मुख्यतः अज्ञान अथवा माया या अविद्याकी रुकावट है। मनुष्यमें मुक्तिकी इच्छा स्वाभाविक है किंतु अज्ञान उस इच्छाको दबाकर उस स्थानमें विषयासक्तिको प्रबल करता है। उस अज्ञानके रूप अनेक हैं।। उन्हें अहंकार, तृष्णा, कामना, विषयेच्छा, आसक्ति, आदि नामसे पुकारते हैं। जब तक यह सब है तब तक मुक्तिका मिलना असंभव है। मनुष्य बार-बार यह अनुभव करता है कि इस क्षणिक सुखसे परे कोई शाश्वत सुख है। वही सच्चा सुख है। मनुष्यमें उस शाश्वत सुखकी जिज्ञासा होना, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होना स्वाभाविक है। इस स्वाभात्रिक तीव्र इच्छाको ही मुमुक्षुत्व कहते हैं। मुमुक्षुत्वका अर्थ मोक्षकी तीव्र इच्छा है। जैसे-जैसे मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा तीव्र होती जाती है वह मुमुक्षु होता जाता है।

विषय-सुख, अथवा इंद्रिय-जन्य सुखके विषयमें तिरस्कार, उपेक्षा अथवा हेय भावना तथा शाश्वत सुखके विषयमें आदर और तीव्र उत्सुकता यह मुमुक्षुत्वके लक्षण माने जाते हैं।

मुक्तिकी इच्छाका अर्थ मरनेके अनंतर, देहपतनके पश्चात् सुख प्राप्त करनेकी लालसा नहीं है किंतु इसी देहमें अथवा यह शरीर रहते हुए, इसी जन्ममें परमानंद प्राप्त करनेकी इच्छा है। इसको जीवन्मुक्ति कहते हैं। विदेहमुक्ति इसका परिणाम है। मुक्ति एक आनंद-सिंहासन है और उस पर चढ़नेके लिये आनंद सोपान है ऐसा माना जाय तो विषयानंद उसकी सबसे निचली सीढ़ी है। विषयानंद परमानंदकी एक छाया है। पहली सीढ़ी पर ही रह कर जैसे सिंहासन पर पहुंचना असंभव है वैसे ही विषयानंदमें ही निमग्न रह कर मुक्तिके परमानंदका अनुभव करना असंभव है। मनुष्य पहलेपहल विषयानंदकी ओर आकर्षित होता है, तत्पश्चात् विषयानंदसे मुक्तिके परमानंद-की ओर! जब मनुष्यको विषयानंदके छायारूपका अनुभव आने लगता है, उसकी क्षणिकताका ज्ञान और भान होने लगता है तब वह उच्च प्रकारके शाश्वत सुखको प्राप्त करनेका प्रयास करने लगता है। और यह स्वाभाविक भी है। जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि विषय-सुखसे संगीत आदि कला द्वारा, प्राप्त होनेवाला आनंद सूक्ष्म और उच्च है, उससे भी सुंदर

कल्पना आदिसे होनेवाला आनंद अधिक उच्च तो सत्कार्य-जन्य आनंद उससे उच्चकोटिका, अधिक समय तक टिकनेवाला और सूक्ष्म रूपसे जीवनको सुरभित करनेवाला होता है तब वह उससे भी उच्च कोटिके आनंदकी खोज करने लगता है। उसको विषयानंदमें कुछ तथ्य न होनेका अनुभव होने लगता है, उसकी ओर उपेक्षा होने लगती है। वा विषयानद हेय होनेका भान होने लगता है, वह उसका त्याग करके श्रेष्ठ प्रकारके आनंदकी खोज करने लगता है, मनुष्य धीरे-धीरे उच्चसे उच्चतर और उच्चतम शाश्वत निरालंब निर्दोष आनंद सिंहासनकी ओर अग्रसर होने लगता है। विषय सुखानंदसे कलानंद, कलानदसे सुंदर कल्पना, विचार आदिका आनंद, कल्पनानंदसे सदाचार, सत्कार्यका आनंद, सदाचारके आनंदसे त्यागका आनंद त्यागानंदसे परमात्मासे संयोग प्राप्त करनेका योगानंद, और योगानंदसे, परमात्मामें समरस हो जानेका अद्वैतानंद; यह है आनंद सोपान। इसमें समरसैक्य आनंद सबमें श्रेष्ठ है यह कहनेकी कोई आवश्यकता है नहीं।

ऊपर वर्णित आनंद सोपानमें विषयानंद सबसे निचली श्रेणी है और मुक्तिका आनंद जिसे ब्रह्मानंदभी कहते है अंतिम सर्वश्रेष्ठ आनंद है। मुक्तिके इस परमानंदकी तीव्र इच्छा मुमुक्षुत्व कहलाती है।

वचन—(१७७) गरीबीकी चिंता है भूख, खाना मिला तो कपड़ेकी चिंता, कपड़े मिले तो रहनेके घरकी चिंता, घर मिलने पर पत्नीकी चिंता, पत्नी आई कि बच्चोंकी चिंता, बच्चे हुए कि उनके जीवनकी चिन्ता, जीवन खराब होनेकी चिंता, और आखिर मृत्युकी चिंता। इस प्रकार चिंता सोपान चढ़ने वालोंको देखा। किंतु शिव-चिंता करनेवाले किसीको मैंने नहीं देखा कहता है वह **अंबिगरचौडैया** शिवशरण।

(१७८) देहको ही अपना उद्देश्य मानकर मिटजानेवालोंको मैने देखा, अपने अज्ञानसे नष्ट हो जानेवालोंको मैने देखा; कामको उद्देश्य मानकर ध्वस्त होने वालोंको मैने देखा किंतु केवल तुझको ही अपना उद्देश्य बना लेनेवालोंको मैंने नहीं देखा गुहेश्वरा।

(१७९) जहां संकटमें फंसते हैं वहां "हे शिवजी!" कहते हैं लोग, तब तुम्हारा स्मरण करते हैं और सिरपर आई बला टलते ही तुम्हारी ओर देखते भी नहीं हैं ये **रामनाथ**।

टिप्पणी :—ऊपरके तीन वचनोंमें सामान्य मनुष्य-स्वभावका वर्णन किया गया है।

(१८०) संसार-विषय-रस रूपी कालकूट हलाहल विष खानेवाला कोई बचा है क्या ? फिर भी सब उस संसार-विषय-रसमें पचते हैं । उस विषकी हवा लग जानेसे ही मैं तड़प रहा हूं स्वामी ! अपना कृपा-प्रसाद रूपी निर्विष देकर मेरी रक्षा करो **निजगुरु स्वतंत्रसिद्धलिंगेश्वरा** ।

(१८१) क्षणिका जीवन स्थिर नहीं है । मृग छायाकी भांति क्षणभर चमककर छिपनेवाले इस संसारमें क्या देखकर पागल हो रहा है रे तू ! विश्वास न कर इसपर । जिन्होंने इसपर विश्वास किया वह सब बौराकर नष्ट हो गये । केवल महान् भ्रम है यह, मूर्खोंका राज है । इसमें कुछ भलाई नहीं है ऐसा निश्चित जानकर **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगश्वरके** चरण पकड़े हैं ।

(१८२) विषयोंका नाम भी मेरे सामने लाकर ना खोल बाबा ! हरियाली देखकर उस ओर भागनेके अलावा पशु दूसरा क्या जाने ? विषय रहित करके जी भर भक्तिरस पिलाकर सुबुद्धि रूपी अमृत दे मेरी रक्षा कर **कूडलसंगमदेव** ।

(१८३) अरेरे ! सांपके फनके नीचे बसे मेंढककी सी स्थिति हो गयी है मेरी ! संसार सब बेकार गया न ! सब कुछ करनेवाले कर्त्ता **कूडल संगमदेवा** इन सबसे बचाकर मेरी रक्षा करो ।

(१८४) जहां कहीं भी जाता हूं यह उपाधि नहीं चूकती, इस उपाधिका उपाय करके निरुपाधिमें स्थित कर मेरे स्वामी ! सब प्रकारकी कामनाओंसे मुक्त करके अपना सत्पथ दिखा । सहज सम्यकत्व देकर रक्षा कर रे ! **सौराष्ट्र सोमेश्वरा** ।

टिप्पणी :—उपरोक्त चार वचनोंमें विषय-बंधनसे मुक्त करो, क्योंकि यह विषकी तरह मारक है ऐसी भगवानसे प्रार्थना है । यही भावना दृढ़ होकर परम सुखकी उत्सुकताको बढ़ाती है ।

(१८५) कब इस संसारकी प्यास बुझेगी ? कब मेरे मनमें उस शक्तिकी प्रतीति होगी ? कब ? कब **कूडल संगमदेव** ! और कब परम संतोषमें रखोगे मुझे ?

(१८६) प्राण रहे तब तक क्रोधका मूल है और काया रहे तब तक कामका मूल है; संसारका मोह रहे तब तक कामनाओंका मूल है; कामनाका खंडन करके मोक्षकी मधुरता दिखाते हुए मेरी रक्षा कर **कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुना** ।

(१८७) सुख पाकर हर्ष हुआ कि उसमेंसे एक नया दुःख निकल आता है, इस दुःखका अन्त नहीं है । संसारमें मिलनेवाले सब सुख ऐसेही अल्प है, क्षणिक हैं, पुनः महान् दुःख देनेवाले हैं । इनमेंसे निकलकर तुमसे कभी अलग न

हो सकूं इस भांति तुममें कब विलीन हो जाऊंगा **कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुना ।**

टिप्पणी :—इन तीन वचनोमें दिखाई देनेवाली व्याकुलता जैसे-जैसे बढ़ती जाएगी परम सुखकी संभावना भी बढ़ती जाएगी ।

(१८८) अपने झुंडसे अलग पडकर पकड़ा गया हुआ हाथी जैसे अपने झुडका स्मरण करता है वैसे स्मरण करती हूं मैं ! बंधनमें पड़ा हुआ सुग्गा जैसे अपने अन्य बंधुओंका स्मरण करता है वैसे स्मरण करती हूं मैं ! प्यारे ! यहां आकर अपना ठाव दिखा मेरे **चन्नमल्लिकार्जुना ।**

(१८९) विश्वासका मन तुझमें, निश्वासका मन तुझमें, प्रेमका मन तुझमें, लालन-पालन और आकुल-व्याकुल मन तुझमें, चिताओंसे जलने-गलनेवाला मन तुझमें और मेरी पंचेंद्रियां भी आगसे आलिंगित कपूरकी भांति अपनेमें मिलाले मेरे **चन्नमल्लिकार्जुना ।**

(१९०) किल-बिलाकर बोलनेवाले विहगवृंद क्या तुमने देखा है उसको ? व्याकुल-विह्वल स्वरसे कूकनेवाली कोयल क्या तुमने कभी देखा है उसको ? झूम-झूमकर और चूम-चूमकर मडरानेवाले भ्रमर ! तुमने देखा है ? मानस सरोवरमे किलोलें करने वाले हंसो ! क्या तुमने देखा है ? गिरिगुहाओंमें जा घुसकर खोजनेवाले शिकारी ! तुमने देखा है ? कहां है वह **चन्नमल्लिकार्जुन** कहो न !

(१९१) सारा वन तू है, वनमें रहनेवाले वृक्षलताएं तू है, उसमें खेलनेवाले खग-मृग-कृमि-कीटक सब तू है **चन्नमल्लिकार्जुना** सर्वव्यापी होकर तू अपना दर्शन दे ।

(१९२) मनका पलंग बनाकर चित्तका अलंकार करूंगी मैं तू आ उस पर ! मेरा शिवलिंग तू आ उस पर । मेरे भक्त-वत्सल तू आ । मेरे भक्त दैहिक देव ! आओ न ! मेरे अंतरंगमें आओ बहिरंगमे आओ, सर्वांगको व्याप लो मैं तुझे ही बुला रही हूं **उरिलमुलेश्वरा ।**

टिप्पणी :—इन पांच वचनोंमें भक्तकी व्याकुलताकी झलक है । वियोगिनी के विह्वल हृदयकी भांति मुमुक्षुका हृदय भी अपनी ध्येय-मूर्तिके लिए तड़पता है । उस स्थितिमें साधक मुझे शुद्ध करो, मेरी रक्षा करो, मुझे शांति दो ऐसी प्रार्थना करता है ।

(१९३) वनमें गयी हुई गाय अपने बछड़ेके वियोगमें व्याकुल होकर गोठेमें आते ही प्यारसे उसको दूध न पिलाएगी तो वह बछड़ा क्या करेगा ? कहां जाएगा ? मैं कर्म देह धारण करके इस भव-सागरमें डूब रहा हूं और इस अज्ञान-जन्य भव बंधनोंको खोल करके मेरी रक्षा करनेकी चिन्ता यदि तुझे नहीं है तो मैं भला क्या कर सकता हूं **अखंडेश्वरा ।**

(१६४) शरीर-जन्य विकारोंसे अज्ञानके अंधकारमें फंसकर अकुलाकर तड़पता हुआ गल रहा हूं मेरे स्वामी ! मानसिक विकारोंके अज्ञान बवंडरमें फंसकर धूलमें मिलकर रंग ही उड़ गया है मेरा। मेरे नाथ इस तन-मनके विकारोंका विनाश करके अपनी भक्तिमें अनुरक्त रखकर मेरी रक्षा करो अखंडेश्वरा।

(१६५) मै कहांसे आया ? मुझे कैसे मिला यह शरीर ? आगेकी मेरी गति क्या है ? आदि नित्यानित्य विचार जब तक पैदा नहीं होगे तब तक यह व्याकुलता नहीं मिटेगी निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरा। तुम्हारे ही दिये गये भवांतरमें आता हुआ देख मुझे दुःख होता है।

टिप्पणी—इस अध्यायमें मोक्षेच्छाका विचार किया गया आगे उसके साधन-मार्गोंका विचार किया जाएगा ।

साधना-मार्ग: सर्वार्पण

विवेचन—पिछले अध्यायमें कहा गया कि मनुष्यको मुक्तिकी इच्छा होती है, और यह मुक्तिकी इच्छा जैसे-जैसे तीव्र होती जाती है वैसे-वैसे वह परमात्माके विषयमें व्याकुल रहने लगता है। उसको विषय सुखकी ओरसे जुगुप्सा होने लगती है। जीवके लिए शिव-वियोग असह्य हो जाता है। वह भगवानको ढूंढने लगता है। उसको पानेकी साधना करने लगता है। अब इस अध्यायमें उस साधनाके विषयमें विचार करना है।

नित्य, निर्दोष सुख प्राप्त करना ही प्राणी मात्रका अंतिम ध्येय है। जीवन-का यही एक उद्देश्य है। उसे प्राप्त करनेकी आशा सबमें होती है। किंतु अज्ञान, अथवा मोह, अथवा मायाके कारण यह आशा अथवा ध्येय-निष्ठा मंद पड़ती है, और उसी मूलभूत आनंदके छायारूप विषय-सुखमें मनुष्य डूब जाता है। बच्चेकी भांति छायाको ही सत्य मानकर उसको पकड़नेका प्रयास करता है, उसीसे डरकर चीखता है। अनुभवसे जब उसकी अस्तित्व हीनताका पता लगता है तब इस विषय-सुखकी सार-हीनताका बोध होने लगता है। मुक्तिकी भूख जगती है। उस आनंदको पानेकी व्याकुलता बढ़ती है, तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसे कैसे प्राप्त करें। उसके साधन कौनसे हैं ?

साक्षात्कार अथवा अनुभाव ही मुक्ति सोपानकी अंतिम सीढ़ी है। वचन-कारोंने बार-बार इस तथ्यको समझाया है। साक्षात्कारसे मुक्ति करतला-मलकवत् हाथमें आ जाती है। आध्यात्मिक सत्यके प्रत्यक्ष दर्शनको साक्षात्कार कहते हैं। इसके ज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है। अनुभवयुक्त आत्म-ज्ञान ही साक्षात्कार है। काया, वाचा, मन, प्राण, तथा भावमें सत्यात्माका भान होना ही साक्षात्कार है। यही अनुभाव है। किंतु वह साक्षात्कार कैसे होगा ?

नदीका प्रवाह और उसमेंसे अलग किया गया पानीका एक बिंदु जैसे तत्वत: एक हैं, दोनों पानी ही हैं वैसे ही आत्मा और परमात्मा मूलत: एक ही है। किंतु जीवात्मा परमात्माका अंश मात्र है ! परमात्मा अनंत-गुण, अनंत-शक्ति, सच्चिदानंद, नित्य पूर्ण है तो आत्मा अल्पगुण, अल्पशक्ति और अहं-कारके कारण दु:ख-भोगी है। जीवात्मामें दिखाई देनेवाले अथवा निर्मित होने वाले सब दोष उपाधिरूप है। यह अहंकार संपूर्णत: नष्ट हो करके "मैं शरीर नहीं हूँ" "मैं यह मन या बुद्धि नहीं हूँ, इन सबसे परे जो आत्मा है वही मैं हूँ"

इसके भान तथा ज्ञानके सातत्यसे, इस ज्ञानमें स्थित, स्थिर होना ही साक्षात्कार है।

इस प्रकारकी प्रतीति होनेके लिए वचनकारोंने एक दिव्य मार्ग दिखाया है। उसको पूर्णार्पण अथवा सर्वार्पण मार्ग कहा गया है। इसीको वचनकार समन्वय योग अथवा शरण मार्ग कहते हैं।

साधकको अपना सब कुछ शक्ति-युक्ति-भक्ति, तन, मन, प्राण, भाव, इंद्रिय, कर्म आदि सर्वस्व अनन्यभावसे, निरपेक्षभावसे भगवानके चरणोंमें अर्पण कर देना चाहिए। श्वासोच्छ्वासके सहज कर्मसे लेकर प्रयत्नपूर्वक किये जाने वाले प्रत्येक महान् कर्म तक, सबके सब, परमात्मार्पण भावसे करना ही इस मार्गका मूल मंत्र है। साधकका प्रत्येक कर्म परमात्माको अर्पण करना ही सर्वार्पण मार्ग कहलाता है। इसमें साधकके स्वभावानुसार, भक्ति, ज्ञान, कर्म ध्यान आदिका समन्वय होता है जिससे साधककी ओरसे किसी एक विशिष्ट मार्गसे चिपके रहनेकी आवश्यकता नही होती। इसलिए यह समन्वय-मार्ग कहलाता है। इस ढंगसे साधना करनेसे पहले साधकको संपूर्ण रूपसे परमात्मा की शरण जाना होता है। इसलिए इसे शरणमार्ग कहते है।

सर्वार्पण भावसे जब साधक अपनी साधना प्रारंभ करता है तब उसकी सभा शक्तियाँ जैसे क्रियाशक्ति, भावशक्ति आदि उसको क्षणशः परमात्माकी ओर ले जाती हैं। धीरे-धीरे उसका अहंकार जलने लगता है। उसके दोष जलने लगते हैं। उसका जीवन शुद्धातिशुद्ध होता जाता हैं; और साक्षात्कार होता है। आत्यंतिक सत्यका प्रत्यक्ष बोध होता है।

इस मार्गमें साधकोंमें समय-समय पर जिन-जिन शक्तियोंका विकास होगा उनके अनुसार साधक प्रधानतः भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग आदि का आचरण करता हुआ दिखाई देगा। किंतु तत्वतः यह समन्वय-योग है। शरण-मार्ग है। परमात्मार्पण-योग है।

अबतक वचनकारोंकी साधना-प्रणालीका विवेचन किया जिसकी आधारशिला सर्वार्पण है। अब इस मार्गके विषयमें जो वचन है उसका विचार करें इस अध्यायमें केवल सर्वार्पणका ही विचार किया गया है। समन्वय मार्गमें आने वाले कर्म, ज्ञान, ध्यान, भक्ति आदिके विषयमें आगे पृथक् अध्यायमें लिखा गया है।

वचन—(१९६) आत्म-परमात्म योग जाननेसे पहले, ज्योतिमें स्थित आत्म-ज्योति को जानना चाहिए, शब्दमें स्थित परमात्माको जाननेके पहले आत्म-परमात्म योग नहीं जानना चाहिए। आत्म-परमात्म योग जाननेके पहले स्मरण-विस्म-

रण नष्ट नहीं होगा। और यह नष्ट होनेसे पहले माया जाल नहीं टूटेगा। माया जाल टूटनेसे पहले अहंकार नष्ट नहीं होगा। अहंकार नष्ट होते ही **निज गुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वरमें** उसी जीवका जीवपरमैक्य नहीं होगा।

टिप्पणी :—"अहम्" को "परम्" में उंडेल देना ही सर्वार्पण है। सर्वार्पण अहम्को नष्ट करनेका सर्वोत्तम मार्ग है।

(१९७) शरीरके गुणोंको अर्पण करने पर मन मुग्ध होना चाहिए, मनके गुणोंको अर्पण करनेसे इंद्रियोंकी शुद्धि होनी चाहिए, तन-मन इंद्रियोंकी शुद्धि होकर उनको शांति समाधान प्राप्त होनेके पहले अर्थात् लिंग नैवेद्यके रूपमें उसके लिंगाभिमुख रखने योग्य होनेसे पहले उसे **गुहेश्वर लिंगमें** विलीन नहीं होना चाहिए मेरी माँ।

(१९८) शरीरके लिए शरीर रूप होकर तू शरीरका आसरा बना है, तू मनोरूप होकर मनको स्मरण शक्ति देकर उसका आधार बना है, प्राणरूप होकर प्राणाधार बना है तू, मेरे तन, मन, प्राणमें व्याप्त होकर सब साधनोंको अपना साधन बना लिया है तूने। इस कारण मेरे प्राण तुझमें छिपे है **निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वरा।**

टिप्पणी : – तन मन प्राणादि सब परमात्माके दिए हुए हैं। वह सब उसीको समर्पण करना मुक्तिकी साधना है।

(१९९) शरीरके तुमसे आलिंगित होकर महाशरीर बननेपर फिर कहांका शरीर ? तुमसे आलिंगित होकर मनके महा मन बननेके बाद फ़िर भला कहांका मन ? भावके तुमसे आलिंगित होकर निर्भाव होने पर भला फिर कहांके भाव ? इस प्रकार त्रिविध निर्लेप होकर लिंगमें अदृश्य होने पर **कूडलचन्नसंगेय** अपने आपको जानता है।

(२००) प्राणोंके होने पर भी प्राण नहीं हैं क्योंकि वह लिंगार्पण हो चुके हैं। मनके होने पर भी मन नहीं है वह तो लिंगमें विलीन हो चुका है। जीवके होने पर भी जीव नहीं है वह तो सजीव बना हुआ है। इंद्रियोंके होने पर भी इंद्रियाँ नहीं हैं क्योंकि लिंगेन्द्रियाँ बन चुकी है। इस प्रकार सब कुछ होने पर भी कुछ भी नहीं होनेका अनुभव है अर्थात् **सौराष्ट्र सोमेश्वरा** सत्य शरण भोजन करके भी भूखे हैं, अंग-संगसे भी ब्रह्मचारी है।

(२०१) मन ही अपना न रहनेसे न स्मरण कर सकता हूँ न निश्चय ही कर सकता हूँ। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदिका अतिक्रमण करके **अभिनव मल्लिका-र्जुनमें** परम सुखी हूँ।

(२०२) प्रीतमके रूपसे मेरी आँखें भर गयी हैं, उनके शब्दोंसे मेरे कान भर गये हैं, उनकी सुगन्धसे मेरी नाक भर गयी हैं, उनके चुंबनके माधुर्यसे होंठ

मधुर हो गये हैं, और उनके आलिंगनसे सारा शरीर खिल गया है अंतरंग-बहिरंगमें प्रीतमसे मिल करके सुखी हुआ हूँ **उरिलिंगदेव**।

टिप्पणी :—भगवानको अपना प्रीतम मानकरके अपना सब कुछ उसको समर्पण करनेसे साधकके अंगांगमें भगवानका अधिष्ठान हो जाता है ऐसा वचन-कारोंका अनुभव कहता है।

(२०३) मनके महाद्वार पर तू सदैव दक्षतासे खड़ा है न मेरे स्वामी ! वहाँ आई हुई वस्तुओंका पूर्वाश्रय काटकरके तू ही उनको स्वीकार करता है न ? तेरा स्पर्श हो सकता है न, या तेरा स्पर्श नहीं हो सकता इसका तेरे मनका तू ही साक्षी है **कूडल संगमदेव**।

टिप्पणी :—सर्वार्पण करनेवाला साधक जो कुछ करता है परमात्माके स्मरणसे ही करता है। परमात्माको साक्षी रखकरके करता है तथा जो कुछ पाता है परमात्माका प्रसाद मानकरके पाता है। इसलिए किसी वस्तुका पूर्वाश्रय अर्थात् वस्तुका दोष, जो बद्धावस्थाका कारण है, नहीं रहता।

(२०४) पागलकेसे काम करते हैं। रहस्य न जानकर किया हुआ कर्म बंधनकी वृद्धि और शांति-समाधानका विनाश करता है। **कूडल चन्नसंगैय** तुम्हारे शरणोंका सतत सहज कर्म लिंगक्यका साधन है।

(२०५) शरीर लिंगार्पण हुआ तो कर्म नहीं है। जीव लिंगार्पित हुआ तो जन्म नहीं है। भाव लिंगार्पित हुआ तो भ्रम नहीं और ज्ञान लिंगार्पित हुआ तो उस प्रसाद-ग्रहणकी प्रतीति भी नहीं। माया-प्रपंचादिका निषेध करके वह सब तुम्हें अर्पण करनेसे "मैं ही शरण हूँ।" जैसे अनेक वस्तुओंको एक जीव करके सांचेमें ढालते हैं जैसे पानी जम करके ओले बनते हैं, दीपक तेल पीता है, मोती पानी पीता है, प्रकाश शून्यको निगल जाता है, वैसे **महाघन सद्गुरु सोमनाथ** तुम्हारे शरण (अपना) नाम मिटे हुए लिंगैक्य हैं।

(२०६) कानोंसे सुने हुए शब्दोंका सुख, आंखोंसे देखे हुए रूपका सुख, चर्मसे छुए हुए स्पर्शका सुख तुझे समर्पण करके अनुभव करनेवाला **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरका** प्रसादि है।

(२०७) वृक्ष-लता-पेड़-पौदोंको लगाकरके उन्हे पालपोसकर भी काटकर, पकाकर खानेके दोषका भला कौन-सा प्रायश्चित्त है ? यह चराचर सब, एक इंद्रियसे प्रारंभ करके पांच इंद्रिय तककी जीव-राशि ही है न ? इसलिए **कूडल संगमदेवके** शरण इस सबको लिंगार्पित करके प्रसाद सेवनकर जीते हैं।

विवेचन—प्रत्येक देहधारीको, चाहे वह साधक हो या सिद्ध जीवन बिताना अनिवार्य है। उसके लिए श्वासोच्छ्वास, खाना, पीना, सूंघना आदि क्रियायें करना भी अनिवार्य है। भोजनमें संपूर्णतः निरामिश होने पर भी वनस्पतिकी

हिंसा भी तो हिंसा ही है। मनुष्य ज्ञात और अज्ञात भावसे न जाने कितनी हिंसा करता है। इन हिंसादि दोषोंसे, भोजनादि आवश्यक भोगोंसे, साधकको किस प्रकार मुक्त होना चाहिए? वचनकारोंने ऊपरके दो वचनोंमें इसका उत्तर दिया है। बद्धत्व किसी कर्ममें नहीं है। किसी कर्ममें पाप अथवा दोष नहीं है किंतु वह कर्म जिस भावसे किया जाता है उसमे है। इसलिए साधकको सर्वार्पण भावसे ही सब कर्म करने चाहिए। परमात्मार्पण भावसे भोगा हुआ भोग प्रसाद कहलाता है। प्रसाद-ग्रहण मुक्तिका साधन है। परमात्मार्पण भावसे प्रत्येक कर्म करनेसे जीवन यापन करनेके लिए किये जानेवाले कर्म और लिए गए भोगके दोषोंसे साधक अलिप्त रहता है।

वचन—(२०८) पंचेंद्रियोंके गुणोंसे अकुला गया। मनके विकारोंसे भ्रमित हुआ। धनके विकारोंसे धृति नष्ट हुई। शरीरके विकारोंसे गतिहीन हुआ। तब तेरी शरण आया **कूडल संगमदेव**।

(२०९) मेरा योग-क्षेम तेरा है। मेरी लाभ-हानि तेरी है। मेरा मान-अपमान तेरा है। मैं वृक्ष पर लगे फलकी भांति हूँ **कूडलसंगमदेव**।

(२१०) प्रकाशद्वार, गंधद्वार, शब्दद्वार, ऐसे छः द्वारोंके मिलनेके स्थानपर नाद-बिंदु-कला नामके सिंहासन पर विराजमान होकर शब्द-रूप-रस-गधादि सेवन करनेवाला बिना तेरे और कौन है स्वामी? जिह्वाकी नोक पर बैठ करके षड्रसान्नका स्वाद लेनेवाला तेरे अतिरिक्त और कौन है प्रभु! मनरूपी महाद्वारपर खड़े रहकर शांति समाधान पानेवाला तेरे सिवा और कौन हो सकता है? सर्वेंद्रियोंको सर्व-मुखसे भोगप्रसाद देनेकी कृपा करनेवाली कृपामूर्ति **निजगुरुस्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरके** अतिरिक्त और कौन है मेरे नाथ!

(२११) शरीर तेरा कहने पर मेरा दूसरा शरीर कहा? मन तुझे अर्पण करने पर मेरा मन कहां रहा? धन-सर्वस्व तेरे चरणोंमें अर्पित होनेपर मेरा धन क्या रहा? इस प्रकार तन-मन-धन तेरा कहनेपर दूसरा विचार ही कहां है **कूडलसंगमदेव**।

(२१२) तन देकर वह शून्य हो गया। मन देकर वह शून्य हो गया। धन देकर वह शून्य हो गया। यह तीनों **कूडलसंगममें** अर्पण करनेसे **बसवण्णको** शून्यसमाधि प्राप्त हो गयी।

टिप्पणी :—शून्य समाधि=निर्विकल्प समाधि।

विवेचन—तन मन धनसे संतप्त साधक उपरत होकर परमात्माकी शरण जाता है। अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें अर्पित करके शरणागति स्वीकार करता है। मेरा सबकुछ भला, बुरा, पाप, पुण्य, हित, अहित तेरा है, मैं भी

तेरा हूं "तू जैसा रखेगा वैसा रहूंगा" ऐसी प्रार्थना करता हुआ अपने अंतः-करणके भाव-पीटपर उसे बिठा करके 'अहम्"को "परम्"में डुबो देता है। तब अहम्के स्थानपर सोहम् नाद गूजने लगता है। परमात्मासे ऐक्यका अनु-भव हो जाता है।

वचन—(२१३) प्रभु ! सब इंद्रियोंको तुझपर चढ़ाकरके जबतक पूजा नहीं की तब-तक ढेरों पत्र-पुष्प-फलादिसे पूजा करके क्या लाभ ? तुझे अपने अंतःकरणमें बिठाकर मनको तेरा लीलाक्षेत्र न बनाकर माला फेरकर तेरा नाम जपनेसे क्या होगा ? जबतक अपनेको समर्पित नहीं किया तब तक सकल सुख-साधनोंके समर्पणसे क्या लाभ ? शरीर गुणोंसे तेरी पूजा करनेवाले सब लोग तेरा स्पर्श न पाकर तुमसे दूर हो गये। यह जानकरके तेरी अविरल पूजा करते हुए तुझमें डूब गया है **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरा।**

(२१४) अन्य सब विचारोंको भूलकरके तुम्हारे विचारोमें ही डूबनेपर तुममें प्राण स्थिर हुए। प्राणको आधार मिलजानेसे दस वायुओंका सांचा टूट गया। अंगलिंगके किरणोंको निगल गया, और अंतःकरणमें करतलामलककी भांति तुझे ही देख रहा हूँ। (तुझे अपनेसे) बाहर न जानकर तू ही गति यह जानते हुए तुझमें ही डूब गया **कूडलसंगमदेव।**

(२१५) संकल्प सिद्ध होनेसे मनरूपी संकल्प रहा ही नहीं। सारे विचार तुममें डूब गए सो संकल्प जन्य संबधोंको भूल गया। अंतःकरणमें तेरे ही विचारसे भरजानेसे आंखें तेरे अतिरिक्त और कुछ देख ही नहीं सकती हैं **कपिलसिद्धमल्लिनाथैया।**

(२१६) इंद्रियादि साधनोंके नष्ट होकर नवचक्रके अलग होनेपर और क्या रहा ? न स्वर्ग है न नरक। फिर रहा क्या ? **गुहेश्वरलिंगमें** प्रवेशकर सुखी होनेपर और क्या रहा !

टिप्पणी :— सर्वार्पण करनेवाला पत्र-पुष्पादिकी पूजासे संतुष्ट नहीं होता। वह भगवानमें लीन होकर पूजा करता है। तभी वह धन्यभाव प्राप्त कर सकता है। अपनेको कृतार्थ मान सकता है। 'नवचक्र" का अर्थ मूलाधारचक्र आदि नाड़ीचक्र हैं। इन नाड़ीचक्रोंके विषयमें कुछ लोगोंका मंतव्य है वह छः हैं तो कुछका नौ। उन सबके छिन्न होनेपर कुंडलिनी शक्ति संपूर्णरूपसे जागृत होती है और सत्यका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

(२१७) देहरूपी मंदिरमें भाव-सिंहासन स्थापित करके प्राणोंके स्वामीकी पूजा करना जाननेवाले देवताको ही देव कहूँगा **अखंडेश्वरा।**

(२१८) धनी लोग मंदिर बनवाते हैं मैं क्या करूं स्वामी ? मैं अकिंचन हूँ। मेरे पैरही खम्भे हैं। शरीर ही मंदिर है। मस्तकही उसका स्वर्णकलश है।

कूडलसंगमदेव देख, सुन स्थावरको कालिख लगती है जंगमको वह नहीं लगती।

(२१९) मेरे चरण ही नींवके पत्थर हैं, पैर ही खम्भे हैं, बाहु नागवेदी और अस्थियां शहतीर हैं, होंठ किवाड़ और मुख उस मंदिरका महाद्वार है। गुरु-करुणा लिंग बनी और मेरा अंग उसका पीठ। मेरा हृदयकमल उसकी पूजाका सुमन है, कान कीर्तिमुख, मेरी वाणी उसकी पूजाकी घंटी है और मस्तक स्वर्णकलश, मेरी आंखें कभी न बुझनेवाले नंदादीप हैं और चर्म ही निर्मल वस्त्र। मेरा स्मरण ही तेरा नैवेद्य है गुरुपुरवमल्लैय यह सब तेरा होकर।

टिप्पणी:—परमात्मार्पण किए हुए भक्तके हृदय-मंडपमें परमात्माका अधिष्ठान होता है। उसका पंचभौतिक शरीर ही पवित्र मंदिर बन जाता है। इस प्रकारके मंदिरको बांधनेके लिए धन-संपत्तिकी आवश्यकता नहीं होती। उसके लिए भावसंपत्ति चाहिए। नश्वर स्थावर मंदिरसे यह अच्छा है। इस बातको ऊपरके वचनोंमें कहा है।

(२२०) अपने मनको तुझमें डुबोकरके न निकाल सकनेका आश्चर्य देखा। न इह जानता हूँ न पर। परमानंदमें डूबा हुआ हूँ। उस "पर" का स्मरण ही स्मरण है। परम सुखमें सुखी हूं हे अप्रतिमकूडल चन्नसंगैया मेरे आश्चर्यका रहस्य तू ही जानता है।

(२२१) अंगलिंगमें शांत, मनज्ञानमें शांत, भाव-अभावमें शांत, कामनाएं, शांतिमें डूबकर शांत कर सकनेवाला ही सच्चा शरण है गुहेश्वरा।

(२२२) अरे! तेरे शरण परमसुखी हैं रे! तेरे शरण काय-रूपी कर्मका अतिक्रमण किए हुए निष्कर्मी हैं। तेरे शरण मनमें निर्लेप ज्ञानी हैं कूडल-संगमदेव तेरे शरणोंकी महिमा न गा सकनेसे उन्हें केवल 'नमोनमः नमोनमः कहकर शतशत प्रणाम करता रहता है प्रभो!

(२२३) तेरे शरणोंकी स्थिति जाननेवाला इस त्रिभुवनमें कोई नहीं है देख। अघटित घटना करनेवाले महामहिम हैं वे। निजैक्यमें निर्लेपभाव हैं वे, उनकी महिमा अखंड है कूडलसंगमदेवा मैं कैसे जान सकता हूँ तेरे शरणोंकी महिमा?

(२२४) तुम्हारे शरणोंने भूमिपर पैर रखे तो भूमि पावन है, तुम्हारे शरणोंके रहनेका स्थानही कैलास, तुम्हारे शरणोंके रहनेका स्थान ही तुम्हारा मंदिर है चन्नमल्लिकार्जुना तुम्हारे शरण बसवण्णके रहनेका स्थान अवि-मुक्ति-क्षेत्र है। मैं उस बसवण्णके चरणोंमें शत-शत प्रणाम करती हूं!

टिप्पणी:—बसवण्ण=श्री बसवेश्वर। अविमुक्ति=एक शैव तीर्थका नाम है।

साधना-मार्ग—ज्ञानयोग

विचवेन—साधक सर्वार्पण भावसे अपना सर्वस्व परमात्माके चरणोंमें अर्पण करके साधनाका प्रारम्भ करता है। वह अपनी भावशक्ति, क्रियाशक्ति, चिंतनशक्ति तथा बुद्धिशक्तिको सम्पूर्ण रूपसे भगवानके सम्मुख रखता है। किन्तु साधकके स्वभाव और उसकी परिस्थितिके अनुसार, भिन्न-भिन्न साधकोंमें इन शक्तियों-का परिमाण और प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसमें न्यूनाधिक होता है। वचनकारोंका कहना कि सिद्धिके लिये इन चारों शक्तियोंका समन्वय आवश्यक है। किन्तु इन शक्तियोंके लक्षण क्या हैं? इनका कार्य क्या है? इन सबका परस्पर सम्बन्ध क्या है? इन सब बातोंका विचार करना आवश्यक है। इसका विवेचन -विश्लेषण करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि सर्वार्पण इसकी आधार शिला है।

साक्षात्कारके लिए ज्ञान, भक्ति, कर्म, तथा स्थिर ध्यान की आवश्यकता है। साथ ही साथ संशयातीत आत्मज्ञान चाहिए, चित्तकी एकाग्रता चाहिए। वचनकारोंका कहना है श्रद्धायुक्त सत्यज्ञान, परमात्माकी अनन्य भक्ति, ईश्वरे-काग्र चित्त, भगवदर्पण किया निष्काम सत्कर्म, इनसे ध्येय सिद्धि होगी। यहाँ ज्ञानका अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान है। मैं कौन हूँ? कहाँसे आया और कहाँ जाना है? यह संसार कहांसे और कैसे हुआ? इसके मूलमें क्या है? इसके मूलमें जो सत्य तत्त्व है उसका, मेरा तथा इस विश्वका सम्बन्ध क्या है? इन सब प्रश्नों-का यथार्थ उत्तर ही ज्ञान है। वही आत्म-ज्ञान कहलाता है। वह ज्ञान शुद्ध बुद्धिको अर्थात् जिज्ञासापूर्ण निःस्वार्थ बुद्धिको ज्ञात हो सकता है। इस ज्ञानमें निस्सन्देहरूपसे चित्त स्थिर रहा तो जीवनमें समता, सौम्यता, समाधान, शांति और परम सुखकी प्राप्ति होती है। वही आत्म-सुख है। वही शाश्वत सुख है। वही मुक्ति सुख है। वह प्राणिमात्रका आत्यंतिक ध्येय है।

केवल ज्ञान, भक्ति, कर्म, अथवा ध्यानसे मुक्ति प्राप्त होना असंभव है। मुक्तिके लिए इन चारों शक्तियोंकी आवश्यकता है। वचनकारोंने इसके लिए समन्वयात्मक पूर्ण योगका मार्ग सुझाया है। अर्थात् वचनकारोंने हठयोग, राज-योग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग न कर "शिवयोग" अथवा "परमात्मयोग" अथवा 'शिवैक्य" अथवा "लिंगैक्य" अथवा "निजैक्य" आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। वचन-साहित्यमें बिना ज्ञानकी क्रिया, अथवा बिना क्रियाके ज्ञान, क्रिया-रहित भक्ति, अथवा भक्ति-रहित

क्रिया, ज्ञान-रहित भक्ति अथवा भक्ति-रहित ज्ञान आदि ऐसे किसी एकका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। उनके कथनानुसार, इन चारोंके समन्वयसे ही मुक्ति संभव है। नहीं तो मुक्ति असम्भव है।

ज्ञानके विषयमें वचनकार क्या कहते हैं यह देखें।

वचन—(२२५) न भूमि तुम्हारी है न हेम तुम्हारा, न कामिनी ही तुम्हारी है। वह विश्वको दिया हुआ नियम है। तुम्हारा अपना कुछ है तो वह केवल ज्ञानरत्न ही है। उस दिव्य रत्नको संभालकर, उससे अलंकृत होकर, हमारे गुहेश्वरलिंगमें स्थिर रहो तो तुम जैसा महान धनवान दूसरा कोई है रे मेरे मन ?

(२२६) छोटा हो तो क्या बड़ा हो तो क्या ? ज्ञानके लिये छोटा बड़ा है क्या ? आदि-अनादिसे रहित इस अनन्त कोटि ब्रह्मांड गुहेश्वरलिंगकी दया हुई तो तू ही एक-मात्र महाज्ञानी है ऐसा प्रतीत होगा देख चन्न बसवण्ण।

टिप्पणी :—चन्नबसव वचनकारोंमें सबसे छोटे थे।

(२२७) शरीरमें निर्मम, मनमें निरहंकार, प्राणमें निर्भय, चित्तमें निरपेक्ष, विषयोंमें उदासीन, भावोंमें दिगम्बर, ज्ञानमें स्थिर होने पर सौराष्ट सोमेश्वर लिंग ऐसा कुछ दूसरा रहा ही नहीं।

(२२८) सूर्योदयके बाद क्या अंधकार रहेगा ? पारसमणि पा जाने पर क्या दारिद्र्य रहेगा ? शिवज्ञान संपन्न ज्योतिर्मय लिंगको कैसा अंग, निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वर ही स्वयं बनने पर ?

टिप्पणी :—ऊपरके वचनोंमें ज्ञानका महत्त्व कहा गया है। वही मनुष्यकी सबसे बड़ी संपत्ति है। उससे हीन गुण सब राख हो जाते हैं। सत्य-ज्ञानको आत्मज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आत्मामें आत्माको ही होता है।

(२२९) सधाया हुआ हाथी हाथीको पकड़ेगा अन्य जानवरोंको नहीं। निराकार निराकारको ही पकड़ेगा और किसीको नहीं, अरूपके रूपको पकड़ूंगा कपिलसिद्धमल्लिकार्जुना।

(२३०) अपनेमें अपनेको जानकरके देखा तो और कुछ नहीं है। ज्ञान अपनेमें ही समाया हुआ है। अन्य भावोंका स्मरण न करके अपनेमें आप रह सकें तो अपनेमें आप ही गुहेश्वरलिंग है।

(२३१) अपनेमें स्थित ज्ञान भला औरोंमें कैसे दिखाई देगा ? अपनेमें आप रहनेकी भाँति है। अपनेमें ही पैदा होकर अपने आप विकसित होने वाले ज्ञानका माहात्म्य क्या कहूँ रामनाथा ?

(२३२) अपनेमें आपको प्रत्यक्षानुभवसे प्रतीत करके देखते हुए उस जाने

हुए ज्ञानमें लिंगकी सत्यता देख, देखा हुआ ज्ञान ही "मैं हूँ" ऐसा बोध होगा। दृश्य और द्रष्टाकी अद्वैत स्थितिका भान होना ही तुम्हारा ज्ञान निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वरा।

(२३३) सब कुछ जानकरके क्या लाभ है रे? अपने आपको जानना छोड़कर? अपनेमें जब अपना ज्ञान है तब दूसरोंके पास जाकर उनसे पूछनेसे क्या मिलेगा? चन्नमल्लिकार्जुना तू ही ज्ञान होकर आगे आकर दिखाई देता है, तुझसे ही सब जान लेती हूं प्रभु!

(२३४) बोधका अर्थ क्या कान फूंककर मंत्र देनेका बोध है? नहीं! नहीं!! बोधका अर्थ तन-मनका साक्षी तू ही परम-गति परम-वस्तु है यह जानना ही सच्चा बोध है रे कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन।

(२३५) अपने आपको जाने हुए को वह ज्ञान ही गुरु है। ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होता है। अज्ञान नष्ट होकर द्रष्टा-दृश्य भेद नष्ट होना ही गुरुत्व है। सब कुछ आप बननेपर भला छूकर जाननेको और क्या रहा? आत्म स्थितिमें मनुष्यके लिए निर्णय निष्पत्ति ही गुरु है। इस भांति अपने आप गुरु होनेपर भी अजगण्णकी भांति गुरु होना चाहिए।

टिप्पणी :—"मैं कौन हूं" यह जाननेका ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है। उसे छोड़करके और सबको जानना व्यर्थ है। अपने आपको जानकर गुरु तो हुआ किन्तु "मैं कौन हूँ?" इस प्रश्नका उत्तर लीजिए।

(२३६) देह मैं नहीं, जीव मैं नहीं, यह शिवने प्रतीत किया था। जीव-शिवमें कोई भेद नहीं है। जहां पानी है वहां, जैसे आकाशमें रवि, तारिका, मेघादि होते हैं, वैसे पूर्ण वस्तु चिदाकाशमें शिव, जीव, माया, प्रकृति आदि होते हैं कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुना।

(२३७) एक ही वस्तु अवस्थात्रयमें किंचित् ज्ञानसे जीव कहलाया। उस जीवको उसके कर्तृत्व-भोक्तृत्वके आधीन होकर यह देह "मैं" कहने लगी। मैं कहनेकी वासनामें कालत्रयके आधीन यह देह अस्वतन्त्र-पराधीन होकर रही यह देख रे कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुना।

टिप्पणी :—अवस्थात्रय=जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति।

(१३८) जाना तो "सत्यं-ज्ञानमनंतं ब्रह्म" ऐसा श्रुति कहती है। यदि भूला तो साक्षात् सच्चिदानंद भाव है ऐसा कैवल्योपनिषद कहता है। ज्ञान वस्तु-स्वरूप है और अज्ञान माया-स्वरूप अर्थात् मैं निर्वलय निरवय स्वरूप हुआ देख कपिलसिद्धमल्लिकार्जुन।

(२३९) तेरी देह देखी तो पंच-भौतिक है, तुझे देखा तो जीवांशिक है, तेरा मन देखा तो वह कुबेरका है, तेरा मन देखा तो वह वायुसे मिला है, और सोच

करके देखा तो ब्रह्मका है। "मैं कहता हूँ" कहनेवाली शक्ति ही चैतन्य है। "मैंने जाना" कहता है वह ज्ञान। "मैं" कहते ही वह ज्ञान आगे रखकर देखता है। दीखनेवाली आनंद मूर्ति "मैं" कहते ही वह साक्षी रूप होकर देखता है। साक्षीको जानकर न जाने हुए शून्यकासा हुआ हमारा **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुन** पिता।

(२४०) काममें रहा तो कर्मकांडी, सब कर्मोंको ईश्वरार्पण किया तो भक्तिकांडी, सब कर्मोंका साक्षी रहा तो ज्ञानकांडी, इस कांडत्रयसे जो अखंड है उसे दिखादो **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुन**।

टिप्पणी :—वचनकारोंका कहना है देह, जीव, बुद्धि, धन, इन सबसे परे अखंड आत्मवस्तु है, उसको जानना ही पूर्ण ज्ञान हैं। "मैं सर्वसाक्षी हूँ" इसका अनुभव ही अंतिम ज्ञान है। वह जानकर भी शून्याकार है अर्थात् जानते हुए न जानने जैसा है। इसका अर्थ "अवर्णनीय" है। इसलिए वह कांडत्रयसे परे है।

(२४१) आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा-रूपी षड्चक्रमें दलवर्ण, अक्षर, अधिदेवता शक्ति, भक्ति, सादाख्योके देवता हैं; कहते हैं ऐसा नहीं; वाचातीत, मनातीत, वर्णातीत, अक्षरातीत पर-शिवतत्त्व आप ही ऐसा जाना तो अपने आप शून्य है देख **अप्रमाणकूडलसंगमदेव**।

(२४२) अक्षरोंका अभ्यास करनेसे भला भवपाशसे कैसे मुक्त होंगे? स्वरूप कौनसा है, निरूप-अरूप कौनसा है यह जानकर उत्पत्ति स्थितिलयादिके परे जाकर देख **गुहेश्वरा**।

(२४३) पत्थरका परमात्मा परमात्मा नहीं; मिट्टीका परमात्मा परमात्मा नहीं, वृक्ष परमात्मा परमात्मा नहीं, ये पंच लोहसे बनाये जाने वाली मूर्ति-परमात्मा परमात्मा नहीं, सेतुबंध, रामेश्वर, गोकर्ण, काशी, केदारादि अष्ठाषष्ठ पुण्य-तीर्थोंमें बसे परमात्मा परमात्मा नहीं, किंतु अपने आपको जानकरके देखा तो आप ही परमात्मा है **अप्रमाणकूडलसंगमदेव**।

(२४४) अपनेमें आपको जानकर, अपने अज्ञान, आशा-आकांक्षाओंके पाश, अनाचार, असत्य वचनोंको त्यागकर, अपने दुर्गुणोंको धोकर, सत्यमें स्थित रहें तो हम स्वयं मायातीत हैं, हम ही सगुण-निर्गुणके आधारभूत चैतन्य हैं **अप्रमाणकूडलसंगमदेव**।

टिप्पणी :—वचनकारोंने बारबार कहा है कि परमात्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप हैं। यदि कहीं वह प्रत्यक्ष हो सकते हैं तो वह अपने ही हृदयमें प्रत्यक्ष हो सकते हैं। ऊपरके दो वचन इन्हीं वचनोंमेंसे हैं।

(२४५) कहते हैं शरीर छोड़कर कैलास जाते हैं, यह ठीक नहीं है।

धर्नालगकी ओरसे हमें मिले साधन क्रमको न जानकर यहां कर्म किया तो भला वहां अकर्म कैसे होगा वह ? जैसे स्वर्णकलशका अंदर बाहर नहीं होता वैसे मृत्युलोक और कैलास-लोक ऐसा भी भेद नहीं है। जहां आत्मनिश्चय हुआ वहीं कैलास है, जहां सत् तत्वको जाना वहीं कैलास है, यह समरस भक्तकी मुक्ति है यह मेरे प्रिय इम्मडिनिष्कलंक मल्लिकार्जुन का दिया ज्ञान है।

टिप्पणी :—इस वचनमें यह स्पष्ट कहा गया है "आत्मज्ञान ही मुक्ति" है। इस वचनमें मुक्ति कोई स्थान नहीं किंतु चित्तकी एक स्थिति है यह अत्यंत स्पष्ट रूपसे कहा है।

(२४६) अपनेको असत्य और दूसरोंको सत्य कहकर दिखलाने वाले मूर्खकी बात पर कौन और कैसे विश्वास करेगा ? अपनेमें छिपी महानताको न जानकर आकाशमें परब्रह्मको ढूंढनेकी माथा-पच्ची करके "पा लिया" कहने वाले मूर्खों को क्या कहा जाय अंबिगरचौडय्या।

टिप्पणी:—अपनेमें आत्मानुभवकी साधना न करके पर-तत्वका ज्ञान प्राप्त करनेका अन्य प्रयास करना व्यर्थ है। आत्माको, आत्मासे, आत्मामें ही देखा जा सकता है, अन्यत्र नहीं।

(२४७) यदि अग्निमें ज्वाला और उष्णता नहीं तो भला वह तृण काष्ठादिको कैसे जलाए ? यदि आत्मामें ज्ञान न रहा तो कर्ममें स्थित बंध-मोक्ष कैसे मिटेंगे ? इन द्वंद्वोंको जानकर मन इनका अतिक्रमण कर गया है बाचेश्वरा।

टिप्पणी:—मन द्वंद्वोंका अतिक्रमण कर गया=परतत्वको पहुंच गया। द्वंद्वातीत हो गया।

(२४८) अपने अपनेको जाननेसे पहले कुछ भी पढ़ा तो क्या ? कुछ सुना तो क्या और कुछ कहा तो क्या ? जैसे सोनेका मुलम्मा चढ़ाया हुआ तांबा; वह भला अंदरसे कसानेके पहले कैसा रहेगा ? सुंदर शब्द जाल फैलाकर प्रवचन करने वाले सब मायाके जंजालमें अंधोंकी भांति भटक गये हैं निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वरा, तुम्हें न जाननेवाले अंधे हैं।

(२४९) अरे ! सूखी गैया कभी दुधार हो सकती है क्या ? सूखे ठूंठमें कभी कोंपल फूट सकती है क्या ? अंधेको दर्पण दिखाया तो भला वह अपना मुखावलोकन कर सकेगा ? गूंगेको संगीत सिखाया गया तो क्या वह गा सकेगा ? ऐरे-गैरेको शिव-तत्वका उपदेश दिया, शिव-दीक्षा दी तो क्या वह शिव-पथ पर चल सकेगा ? शिव-ज्ञान-संपन्नको ही शिव-सत्पथ संभव है, तेरे आत्मीयोंके अतिरिक्त अन्योंको निरवय शून्यमेंसे जानेवाले शिव-सत्पथपर चलना संभव कैसे होगा ? अविवेकियोंको शिवैक्य संभव है क्या संगमबसवण्ण ?

(२५०) केतकी-तंतुओंके जालसे भला हाथी पकड़ा जा सकता है ? सूखी पत्तियोंसे क्या दावानल बुझाया जा सकता है ? बर्फकी सेना सूर्यको घेर सकती है क्या ? अपने को जाननेके बाद भी पाप-पुण्य-लिप्त हो सकता है क्या निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वरा।

विवेचन—आत्मज्ञानीको कर्मोंका बंध-मोक्ष, पाप-पुण्यका लेप, स्मरण-विस्मरण, ज्ञान-विज्ञानका दोष नहीं लगता। वैसे ही आत्मज्ञान, केवल ग्रंथावलोकन अथवा ग्रन्थाध्ययनसे नहीं होगा। उसके लिए दीर्घ, तीव्र साधनाकी आवश्यकता है। उसका ज्ञान प्राप्त हुआ कि मनुष्य निर्भय होगा, द्वन्द्वातीत, निःसंशय तथा स्थिरमति होगा। वह आत्यंतिक सुखका अधिकारी होगा। यह उस ज्ञानकी महिमा है।

वचन—(२५१) पिछले संसार सागरका अतिक्रमण किया, और अगले मुक्ति-पथ पर ज्ञानके नवांकुर फूटे। अब नहीं डरूँगा, नहीं डरूँगा। मेरे मनोमूर्ति चंद्रेश्वरय्यकी करुणा हुई और मैंने उस महामाया पर विजय प्राप्त की।

(२५२) मनुष्यको प्रसन्नकर लिया तो उससे अनेक प्रकारके लाभ और पदवृद्धिकी आशा है और परमात्माको प्रसन्न कर लिया तो इह-परमें परम सुख है। यही परतत्वका अस्तित्व ! अमरेश्वर लिंगमें विलीन हुआ तो यही शाश्वत सुख है।

टिप्पणी :—इस प्रकार अभय और शाश्वत सुख जिस ज्ञानसे प्राप्त होगा उसके लक्षण क्या हैं ?

(२५३) देह भाव मिटनेके पहले जीव-भाव नहीं आएगा, जीव-भाव मिटनेके पहले भक्ति-भाव उदित नहीं होगा, भक्ति-भाव उदित होनेसे पहले ज्ञान नहीं होगा, ज्ञान होनेसे पहले अपना प्रतीक नष्ट नहीं होगा, प्रतीक रहते हुए मायाका आवरण नहीं हटेगा, जीवके वसनरूप काय-भावको उतारनेका रहस्य जाननेके बाद गुहेश्वरलिंगका ज्ञान होना साध्य है सिद्धरामय्य।

(२५४) जिससे सर्वप्रपंचकी निवृत्ति होगी वही ब्रह्मज्ञान है। जिससे केवल निश्चय होगा वही ब्रह्मज्ञान है। जिससे कूडलसंगमदेवके अतिरिक्त और किसीका भान नहीं होगा वही ब्रह्मज्ञान जानो।

(२५५) अरे मन ! तू जब अपना सत्य स्वरूप जान लेगा तब तुझे सत्य कहूँगा, वह केवल एक ज्योति है, वह वर्णनातीत है, उसको खोजते समय जहाँ तुझे पूर्ण निश्चय होगा वही पूर्णत्वकी आधार-शिला है। तेरे सत्यका जहाँ निश्चय हुआ, जहाँसे आगे जाना असंभव हुआ, जहाँ तू निर्गत हुआ वही सम्यक् ज्ञानका दर्शन है। उस दर्शनके अखंड प्रकाशमें हमारे गुहेश्वरके चरण खोज

करके उसीमें निश्चिन्त होकर स्थिर हो जा मेरे मन !

(२५६) अरे मन ! जहाँ अचिंत्य, अखंड प्रकाश दिखाई देगा वही तेरा सत्य है। अरे मन ! जहाँ "तू' का बंधन नहीं, जहाँ सर्वत्र "मैं" हीं दिखाई देता है वहीं तेरा सत्य है। अरे मन ! जहाँ तू अपना सत्व देख सकता है वही ब्रह्मज्ञान है। वही मुक्ति है, वही हमारे गुहेश्वरलिंगको जाननेकी सहज भक्तिका रहस्य है। अरे मन ! तू यह निश्चय जान, न भूल ! न भूल !!

साधना मार्ग—भक्तियोग

विवेचन—सबका एकमात्र ध्येय मुक्ति है। साक्षात्कारसे वह प्राप्त होती है। साक्षात्कार कहें या आत्मज्ञान दोनों एक हैं। केवल नामका ही अंतर है। किसी प्रकारकी साधना क्यों न करें, जबतक आत्मज्ञान नहीं होता, साक्षात्कार नहीं होता तबतक मुक्ति मिलना असंभव है। वह आत्मज्ञान शुद्ध बुद्धिसे प्राप्त किया जा सकता है। किंतु वचनकारोंका कहना है कि भक्ति अन्य साधना पद्धतियोंसे अधिक सुलभ है। वचनकारोंने भी सब साधना मार्गोंमें भक्तिको प्राथमिकता दी है जैसे आगमकारोंने किया है।

जैसे ज्ञान बुद्धि-शक्ति का कार्य है वैसे भक्ति भाव-शक्तिका कार्य है। मनुष्य जैसे-जैसे अपने भावोंको शुद्ध करता जाता है, उन शुद्ध भावोंको अनन्य भाव से शिवार्पण करता जाता है अथवा परमात्मार्पण करता जाता है वैसे आत्मज्ञान शुद्ध और दृढ़ होता जाता है। उस आत्मज्ञानके प्रकाशमें अंतरंग प्रकाशता है। उज्वल बनता है, यह वचनकारोंका अनुभव-सिद्ध कहना है। हमारा प्रेम विविध विषयोंमें प्रवाहित होकर बंट जाता हैं, उस प्रेमको परमात्मामें केन्द्रित करके निरहेतुक, निरपेक्ष भावसे, उसमें तन्मय होना ही भक्ति है। अपने हृदय-सिंहासनपर विराजमान "मैं" रूपी "अहम्" को उतारकर परमको बिठानाही भक्तिका पहला काम है। वह आत्मनिवेदन अर्थात् भक्तिकी परमावधिसे संभव हो सकता है।

ज्ञानमार्गके साधकको परात्पर सत्यवस्तुमें व्यक्तित्वकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं होती, किंतु भक्ति-मार्गमें भक्तको परमात्माको व्यक्तित्व देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए भक्ति मार्गमें परमात्माको भक्तकी मां, उसका पिता, बंधु, मित्र, स्वामी, प्रीतम आदिकी भूमिकामें काम करना पड़ता है। यही भक्ति-मार्गकी महिमा है।

वचन—(२५७) वेद वाचनकी बात है तो शास्त्र बाजारकी गप, पुराण गुंडोंकी गोष्ठी? और तर्क तर्कटोंका वाग्जाल। किंतु भक्ति भोजन-का-सा प्रत्यक्ष लाभ है और गुहेश्वर तो सर्वोत्तम धन है।

(२५८) मैं अद्वैतकी बातें करके अंहकारी बना, और ब्रह्मकी बातें करके भ्रमिष्ठ। शून्यकी बातें करते हुए सुख-दुःखका भोगी बना, और गुहेश्वरा अपने शरण-संग बसवण्णाको सत्सानिध्यसे सद्भक्त बना ले रे!

(२५९) हाथी बड़ा है तो उसके अंकुशको छोटा कहा जा सकता है क्या ? पर्वत बड़ा है तो वज्रको छोटा कहा जा सकता है क्या ? वैसेही अज्ञान अनंत है इसलिए तेरे नामको छोटा कहा जा सकता है क्या **कूडल संगमदेव** तुम्हारी कृपाकी महानता तेरे सिवा और कौन जानेगा स्वामी !

(२६०) पुण्यकालमें शत्रु मित्र बन सकते हैं, पुण्यकालमें छुई हुई मिट्टी सोना बन जाती है, पुण्यकालमें सर्पकी पुष्पमाला बन सकती है, पुण्यकालमें परकीय स्वकीय बन सकते हैं। भक्तिसे ऐसे पुण्यका उदय होता है, भक्ति विकृत हुई कि पुण्य भी सड़ ही जाएगा, ऐसी भक्तिका पुण्य मिलनेसे चन्नबसवण्ण जीत गया **कूडलसंगमदेव** ।

(२६१) तेरे दर्शनमें अनंत सुख है तो तेरा मिलन परम सुख है। आठ करोड़ रोम-कूप सब आखें बन करके देखते थे, **कूड़लसंगमदेव** ! तुम्हें देखकर प्रियाराधनासे आंखें उनींदीसी हो गई।

विवेचन—वेद, शास्त्र, पुराण, तर्क आदिकी अपेक्षा भक्ति प्रत्यक्ष फलदायी हैं। अद्वैत, ब्रह्म-शून्य आदिके वाणी-विलाससे साक्षात्कार नहीं होता। भक्ति से भक्ति बढ़ते जानेसे अपने आप अद्वैतानुभव आएगा। अज्ञान कितना ही अथाह क्यों न हो, छोटेसे दीपकसे अंधकार नष्ट होनेकी भांति परमात्माके सतत नाम-स्मरणसे वह नष्ट होगा ही। भक्ति परमपावन जीवनका पुण्यमय मार्ग है। वचन-कारोंका कहना है उससे अनंत सुख प्राप्त होगा। परमात्मा भी भक्ति-प्रिय है।

वचन—(२६२) रहस्य पाकरभी लंबासा रास्ता खोजो नहीं, अकारण खपो (अपने आपको मिटाओ) नहीं, एक बार उसकी शरण जाकर देखो, वह प्रसन्न हुआ कि क्षणभरमें मुक्ति मिलेगी, सिद्धि मिलेगी, **कूड़लसंगमदेव** "भक्ति लंपट" है।

टिप्पणी:—भक्तिलंपट; यह वचनकारोंका शब्द-प्रयोग हैं। लंपट शब्द ठीक वैसाही है जैसा फिदा या आसक्त। वचनकारोंने स्थान-स्थान पर भगवान को भक्त और भक्तिपर आसक्त बताया है।

(२६३) अपनेमें खोजकर पानेका विषय बाहर खोजनेपर कैसे मिलेगा ? मेरा भगवान जहां है वहां आओ ऐसा अपने मनको बार-बार समझाता हूँ मेरे **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुना** ।

(२६४) तू न वेद-प्रिय न शास्त्र-प्रिय, ऐसे ही तू नाद-प्रिय भी नहीं है न तू स्तोत्र-प्रिय है न क्रिया-प्रिय, तू युक्ति-प्रिय भी नहीं, तू इन सबसे असाध्य है; और भक्तिप्रिय है; इसलिए तेरी शरण आया, मेरी रक्षा कर **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुना** ।

विवेचन—कोई भी एक लंबा रास्ता पकड़कर भगवानको खोजते हुए भटकने से अच्छा है उत्कट प्रेमसे, संपूर्ण रुपसे उनकी शरण जाना, क्योंकि परमात्मा भक्तिप्रिय है। जो प्रेमसे भगवानको खोजने जाता है उसे ही खोजता हुआ भगवान उनके पास आता है। क्योंकि वह भक्ति-लंपट है। भक्तों पर आसक्त है। अर्थात् हमें उसकी शरण जाना चाहिए। वह शरणोंके पास आएगा ही। निर्मल भक्ति-भाव देखकर वह प्रसन्न होता है इसलिए भक्ति-मार्ग सर्वोत्तम है।

प्रतीकोंके विषयमें वचनकारोंका निम्न मत स्पष्ट है।

वचन—(२६५) सृष्टिसे उत्पन्न शिलाखंड, शिल्पकारसे उत्पन्न मूर्ति मंत्रका अंग कैसी हुई ? इन तीनोंसे उत्पन्न पुत्रको 'लिंग' कहकर प्रणाम करना व्रत-हीनता है **गुहेश्वरा** !

टिप्पणीः—सच्चा लिंग शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। शिला-लिंग प्रतीक मात्र है। इस प्रतीकको ही परमात्मा कहनेवालोंको प्रभुदेवने उपरोक्त शब्दोंसे फटकारा है।

(२६६) पत्थरको भगवान कहकर पूजते हैं, कैसी मूर्खता है यह ? यह तो कल पैदा होने वाले बच्चेको आज दूध पिलाने जैसा है **गुहेश्वरा**।

टिप्पणीः—पत्थर भगवान नहीं है। सर्वत्र चैतन्यकी प्रतीति होकर, भक्तको जब साक्षात्कार होगा तब पुत्र-जन्मसा आनंद होगा। अर्थात् पत्थर केवल प्रतीक है, भगवान नहीं है।

(२६७) आगको भगवान मानकर उसमें हवन करनेवाले अग्नि-होत्री ब्राह्मणोंके घरमें जब आग लगती है तो वह चीखते-चिल्लाते हुए मुहल्ले भरके लोगोंको जमाकर उसपर पानी और धूल डालते हुए नाचते हैं। **कूडलसंगमदेवा** वंदन करना छोड़कर निंदा करते हैं न उस अग्नि भगवानकी।

(२६८) मारी[1] की पूजा करने वाले श्मशानमें जाकर बकरा काटनेवाले क्रूर-कर्मियोंको भला कैसे शिव-भक्त कहा जाए ? ऐसे घरमें खाने वाले घोर नरकमें उतरेंगे **रामनाथा**।

(२६९) गंगा जलमें स्नान करके भला कीचड़में क्यों पड़ें ? घरमें पड़ा हुआ चंदन छोड़कर भला दुर्गन्ध क्यों बदनमें मलें ? घरमें काम-धेनु दुह रही है उसे छोड़कर कुतियाके दूधके लिए भटकें ? मन चाहा अमृत जब तेरे सामने

---

१. मृत्यु देवताका एक बीभत्स रुप। कर्नाटकमें इसे मारियम्मा कहते हैं और बकरे भैंसा मारते हैं।

पड़ा है उसे छोड़कर चावलकी सड़ी मॉड मांगते हुए घूमनेवाले भ्रमित मूर्ख मानव ! तू सुन परमपद देनेवाला **चन्न सोड्डलॉलिग** है; ऐसा दूसरा देवता तुझे कहाँ मिलेगा ?

(२७०) मुझे एक लिंग, तुझे एक लिंग और घरमें एक लिंग हुआ। सारी भक्ति पानीमें डूब गई। तनका लिंग मनको स्पर्श करेगा क्या **गुहेश्वरा** ?

(२७१) एक जन्म तुझे पत्थरका भगवान बनाकर पूजा की। और जंगम जोगी, शैव-भिक्षुक बनकर पैदा हुआ। एक जन्ममें लकड़ीका भगवान बनाकर तेरी पूजा की और बढ़ई बनकर पैदा हुआ।......इन सबको 'तू' कहकर पूजा की और बार-बार इस संसारमें आया। इस प्रकारका जड़रुप तू नहीं है। तू स्थिर है, शुद्ध है, निःशून्य है, निराकार है, ऐसा जानकर, जो अपने हाथमें बंधा हुआ है, उसकी प्रतीतिकर सब कुलोंके बाहर जाकर, कुलहीन कहलाता हुआ मैं किस जन्ममें गया यह मैं स्वयं नहीं जानता **काडिनोलगाद शंकर प्रिय चन्न कबंब लिंग निर्माण प्रभु**।

(२७२) जब देह ही देवालय है तब भला दूसरे-तीसरे देवालयकी क्या आवश्यकता है ? जब प्राण ही लिंग है तब दूसरे-तीसरे लिंग की क्या आवश्यकता है ? न कहा है न सुना है कि तू पत्थर हुआ तो **गुहेश्वरा** मैं क्या हूँ ?

(२७३) पेटमें आग है और पेट नहीं जलता इसका रहस्य भला कौन जानता है ? और उस आगके पानीमें न बुझनेका रहस्य ? शिवजी ! तूने प्राण और प्रकृतिमें जो रहस्य छिपा रखा है वह जड़ लोग कैसे जानेंगे **रामनाथा**।

विवेचन—प्रतीक केवल प्रतीक ही है उसका कोई खास महत्त्व नहीं है। उस प्रतीकको ही भगवान मानना मूर्खता है। पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, आग, आदि भगवान नहीं है। भगवान चैतन्य-स्वरूप है। वह निराकार है। यह मंदिर वह मंदिर, मेरा भगवन तेरा भगवान इनसे झगड़े ही बढ़ते हैं। सच्ची भक्ति और सच्चे अध्यात्मका विकास नहीं होता है। हमारी देह ही मन्दिर है। आत्मा ही परमात्मा है। उसे हमें शुद्ध रखना है। निर्दोष और निष्पाप रहना है। तब सर्वत्र वह परमात्मा क्या है ऐसा बोध होगा। इसलिये विशुद्ध भक्ति आवश्यक है।

वचन—(२७४) भक्ति मुक्तिकी कौन जानता है ? कोई जानता है यह मैं नहीं जानता। अपनेको भूलकर खोलकर सामने रखनेवाला ही भक्त है। ऐसे शिव-भक्तसे ही शिव प्रसन्न होता है। बातोंमें भक्ति भरी हुई और कृतिमें वह नहीं, तो वह हीनता है। उससे शिवके प्रसन्न होनेकी बात असत्य है। अपनेको भूलकर, क्रोधादिको बुझाकर, प्रणाम करता हूँ **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धेश्वर लिंगको**।

(२७५) अहंकारसे की जानेवाली भक्ति संपत्तिका संहार है। आचरण-

रहित वचन ज्ञानकी हानि करनेवाला है। कुछ भी देनेके पहले त्यागी कहलाना केश रहित शृंगार हैं। दृढ़ता रहित भक्ति मानो बिना पेंदीके घड़ेमें भरा पानी है। मारय्य प्रिय श्रमलेश्वर लिंगका स्पर्श ही भक्ति है।

(२७६) नैष्ठिक विश्वास न हो तो कितना ही पढ़ा तो क्या और कितना ही सुना तो क्या और कितना ही जप-तप किया तो क्या ? यह सब व्यर्थ है, बिना लक्ष्यके लक्ष्य-वेधसा है। अर्थात् दृढ़-निष्ठा, भावपूर्ण श्रद्धा निर्माण करनेवाली पूजा ही हमारे अखंडेश्वरकी प्रसन्नता है।

(२७७) प्रसन्नतासे ही उसे प्रसन्नकर लेना चाहिए, बिना प्रसन्नताके असंभव है। अनेक वृक्षोंपर उड़नेकी मर्कट-चेष्टा मत कर मेरे मन ! छूकर देख, दबाकर देख, हिलाकर देख, छूकर दबा-हिलाकर देख, फिर भी जब तेरी निष्ठा निश्चल रहती है तब वह अपनेको दे डालेगा महालिंगकल्लेश्वरा।

(२७८) जागृति-स्वप्न-सुषुप्तिमें और कुछ सोचा हो तो तेरी सौगंध है। यह झूठ हुआ तो तेरी सौगंध। कूडल संगम देवा तेरे अतिरिक्त और किसीका स्मरण किया तो तेरी सौगंध।

टिप्पणी:—सौगंध यह शब्द मूल वचनके 'तले दंड' इस शब्दके अर्थमें लिया है। "तले दंड" का ठीक अर्थ "शिरच्छेद" है।

(२७९) भगवान एक है और नाम अनन्त ! परम-पतिव्रताके लिए पति एक है, औरकी ओर झांका तो नाक कान काटेगा वह ! अनेक देवी-देवताओंकी जूठन खानेवालोंको क्या कहूँ कूड़लसंगमदेवा ?

(२८०) मालाके मनके गिनकर अपने जीवनके क्षण नष्ट न कर। पत्थर पूज-पूजकर अपने जीवनको ध्वस्त न कर। क्षणभर अपनेको जाननेका प्रयास कर, सत्यका स्मरण कर, क्षण-क्षण किंचित्सा न हो। अपनेको, सत्यको जाननेका प्रयास कर, आगमें जो उष्णता है वह पानीमें मिलेगी गुहेश्वरा।

टिप्पणी:—भक्तिका अर्थ केवल माला, जप, भजन, पत्र-पुष्पसे पूजन आदि नहीं है। भक्तिका अर्थ अनन्यभावसे परमात्माके शरण जाना है, अपनेको अर्थात् परमात्माको जानना भक्ति है। यह वचनकारोंका स्पष्ट कहना है।

(२८१) वनकी कोयल घरमें आएगी तो क्या वनको भूल जाएगी ? अरण्यका हाथी घरमें बांधा तो क्या वह अरण्यको भूल जाएगा ? कूडल संगम देवके लिए मर्त्य-लोकमें आएँगे तो क्या अपने आदिमध्यान्तका स्मरण करना छोड़ देंगे ?

(२८२) भक्तोंको फल-पदादि देनेकी बात कहते हो, किन्तु वे उन्हें नहीं लेंगे। ये तुमपर, तुम्हारे रूपपर, अपना तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर कर देते

हैं। अरे वंचक शिवजी ! हम निर्वंचक हैं। हम तुमसे क्या मांगते हैं ? तुम्हारा दिया हुआ हम कुछ नहीं लेते, बिना कुछ दिए ही जा कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन।

टिप्पणी:—उपरोक्त वचनमें भक्ति की निष्कामना दिखाई है। वचनकारोंने निरपेक्ष भक्ति ही श्रेष्ठ मानी है।

(२८३) गगन ही गुंडी है, आकाश ही पूजा जल, चन्द्र-सूर्य दो सुमन, ब्रह्म धूप और विष्णु दीप, रुद्र नैवेद्यका अन्न है देख गुहेश्वरा यही लिंग की पूजा है।

टिप्पणी:—गुंडी=विशेष प्रकारका पूजा पात्र।

विवेचन—परमात्माके प्रेममें अपने आपको भूलना ही भक्तिका रहस्य है। वैसी भक्ति स्थिर होनी चाहिये। दृढ़ भक्तिको निष्ठा कहते हैं। प्रभु-प्रेमका अर्थ अपना सर्वस्व देकर परमात्माको पानेका है। यदि हम भगवानसे प्रेम करेंगे तो वह भी हमसे प्रेम करने लगेगा। वह प्रेम करनेके पहले भक्तकी परीक्षा लेगा। भक्तकी अनन्यता और दृढ़ता देखेगा। एक-पत्नी-व्रतस्थ पुरुषकी भाँति भक्तकी आँखें भगवान पर ही स्थिर होनी चाहिएँ। निश्चल भावसे क्षण भर भी परमात्माका स्मरण करें तो वह फल-प्रद है। किन्तु भक्त निरपेक्ष होता है। वह फलकी अपेक्षा नहीं करता। वह तो केवल प्रेम करना जानता है। उसके उपलक्षमें क्या मिलता है इसका विचार भी उसको नहीं छूता। क्योंकि वह निरपेक्ष है, भक्ति करना भक्तका सहज स्वभाव है। वह अत्यन्त विश्वाससे विश्वव्यापी परमात्मा की भक्ति करता है। इस प्रेममें अपनेको भूल जाता है और परमात्माकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। इसको साक्षात्कार कहा है। साक्षात्कार से भक्त मुक्त होकर कृतकृत्य होता है।

वचन—(२८४) आगम पुरुषो तुम्हारा आगम माया होगया रे ! ओ विद्या पुरुषो ! तुम्हारी विद्या अविद्या हो गई। ओ वेद पुरुषो ! जहाँ तुम्हारा वेद राह भूला वहां तुम भी "वेद ही भगवान" कह कर नष्ट होगये। अरे शास्त्रज्ञो ! जहाँ तुम्हारा शास्त्र पापके महा-प्रवाहमें प्रवाहित हुआ वहाँ "भक्त दैहिक देव" है यह न जानकर डूब गए तुम ! प्रथम 'यत्र शिव तत्र महेश्वर' कहा गया था। तेरी शरण आया हुआ भक्त "नित्य सत्य सन्निहित है"

टिप्पणी:—वचनकारों का कहना है परमात्माको ग्रन्थमें नहीं किन्तु प्रत्यक्ष परम भक्तोंमें देखना चाहिए।

(२८५) भक्तकाय ही शिव-काय है। शिव-काय ही भक्तकाय है। शिव और भक्त अलग नहीं। वह एक ही हैं रे ! क्योंकि "भक्त दैहिक देव" "शिव देहीभक्त" यह श्रुति वचन है। भक्त और भगवान एक है। एक जीव एक

आए है। जो सच्चे भक्त हैं वह तो ऐसी द्वैतकी बात नहीं कहेंगे। **निजगुरु स्वतन्त्रसिद्धलिंगेश्वरा।**

(२८६) अरे! गायको न पाकर खोजनेवाले बछड़ेकी भांति हूँ मैं। अरे! तुम मेरे मनको प्रसन्न बनानेकी करुणा करो न करुणा कर! तुम मेरे मनको सहारा देकर करुणा करो। इस प्रकार तुम मेरा कल्याण करो **कूडल संगम देव।**

(२८७) यदि तेरी कृपा होगी तो मूसल भी महुलाएगा। यदि तेरी कृपा होगी तो सूखी गाय भी दुधार होगी। यदि तू प्रसन्न होगा तो विष भी अमृत बनेगा। यदि तेरी कृपा होगी तो सकल पदार्थ सामने आकर खुल जाएँगे सहज-साध्य होंगे **कूडल संगम देव।**

(२८८) जैसे शेरके मुंहमें मृगशावक फंसा है, साँपके मुँहमें मेंढक फंसा है वैसे ही सारा लोक तेरी माया के जालमें फंसा है; यह देखकर भयसे तेरी शरण आया हूँ। अब प्रेमसे मेरी रक्षा करनेकी करुणा करो **कूडल संगमदेव।**

(२८९) मेरे सिर और तुम्हारे चरणोंमें अन्तर ही नहीं रहा सिरसे वह चरण पोंछ-पोंछकर वह अन्तर समाप्त हो गया है। मेरे शरीरका कपट और मनके विकार सब तुम्हारे पादांगुष्ठकी रगड़से नष्ट हो गये है। **कूडल संगमदेव** तुम्हारे श्री चरणोंके प्रकाशसे मेरे शरीरका अंधकार नष्ट हो गया है देख।

(२९०) मनोपूर्वक स्मरण करनेसे यह शरीर तुम्हारा हुआ। शरीर स्पर्श करके आलिंगित करनेसे, मन लगाकर संग करनेसे, स्त्री-संगके लिए स्थान ही नहीं रहा। जनम-मरणका बंधन टूट गया। यह सब तेरी चरणसेवाके प्रतापसे है **रामनाथा।**

(२९१) तेरे स्मरणमें उदय है और विस्मरणमें अस्त। तेरा स्मरण ही मेरा जीवन है, तेरा स्मरण ही मेरा प्राण है, मेरे हृदयमें अपने चरणोंका निशान लगा दो मेरे स्वामी। मेरी वाणी पर षडाक्षरी लिख दो **कूडल संगमदेव।**

(२९२) पूजाका समय नियत नहीं है बाबा! प्रातः कालमें ही पूजा करनी चाहिए, सायंकालमें ही पूजा करनी चाहिए ऐसा नहीं है। दिन-रातका अति-क्रमण करके पूजा करनी चाहिए। ऐसी पूजा करनेवालेका मुझे दर्शन करा दो **गुहेश्वरा।**

(२९३) न वार जानता हूँ न दिन, कुछ भी नहीं जानता। न रात जानता हूँ न दिन, कुछ भी नहीं जानता तुम्हारी पूजामें अपनेको भी भूल गया हूँ **कूडलसंगमदेव।**

(२९४) शिव-कथा सुन-सुन करके संतुष्ट हुआ, शिव-कीर्तन करता हुआ प्रसन्न हुआ, बिना थके शिव-स्मरण किया, शिव-सेवा की, शिव-पूजाका विस्तार

किया, शिवशरण कहलाकर शिवका सर्वस्व शिवार्पण करके स्वयं शिव-रूप बने हुए भक्त को देख मेरे निजगुरु स्वतंत्र सिद्ध लिंगेश्वरा।

टिप्पणी :—सतत परमात्मरत भक्तों के आंतरिक लक्षण ऊपरके वचनोंमें कहे हैं। सर्वस्वका परमात्मार्पण, तदेक निरत ध्यान, सतत स्मरण, कालातीत पूजा आदि अब उनके बहिरंग लक्षण भी कहे हैं।

(२९५) वाणीमें नामामृत, नयनोंमें रुपामृत, मनमें सतत स्मरण, कानोंमें तेरी कीर्ति-कथा भरी है कूडलसंगमदेवा अपने चरणकमलमें सौंदर्य सुषमाका भोजन देकर संतुष्ट भ्रमर बनाकर रख।

(२९६) मन विलीन होनेसे मन तेरे प्रेममें पिघल कर कोमल होगया हो, स्पर्शसे रोमांच होकर रोम रोमसे आनन्द टपकता हो, आंखोंसे आनंदाश्रु स्रवते हों, वाणी गद्‌गद् हुई हो यही भक्तिका प्रतीक है। यही तेरी भक्तिका द्योतक है कुडल संगमदेव वह मुझमें नहीं है, मुझे तुम ढोंगी मत समझो।

(२९७) न खेल करके, पैर थकते हैं, न देख कर आंखें थकती हैं। न सेवा कर हाथ थकते हैं, न गुणगान कर वाणी थकती है, और क्या चाहिए? क्या चाहिए? तुम्हारी पूजा करके मन नहीं थकता, और क्या चाहिए कूडलसंगम देवा सुनो।

(२९८) हृदय भरकर फूटने तक, मन भरने तक, गाते-गाते वाणी तुतलाने तक अपना नामामृत पिलाओ मेरे परमपिता! कलिकाके खिलनेकी भाँति मेरा हृदय-कमल तेरे चरण-स्पर्शसे खिलने दो मेरे कूडल संगम देव।

टिप्पणी :—यह निःसीम भक्तिमय हृदयकी उमंगे हैं ऐक्यानुभव होने तक उसका समाधान असंभव है।

(२९९) आमके बागमें बबूलका पेड़ हूँ मैं। तुम्हारे शिव शरणोंके सामने मैं अपनेको भक्त कहलानेकी निर्लज्जता दिखाता रहा हूँ। कूड़ल संगम देव मैं कैसा भक्त हूँ तेरे शरणोंके सामने?

(३००) मैं भक्त नहीं हूं बाबा! मैं तो भक्तका स्वांग हूँ, खूनी कसाई किरात ये मेरे नाम हैं कूड़ल संगम देवा मैं तुम्हारे शरणोंकी संतान हूँ।

(३०१) सिंहके सामने क्या हरिणकी उछल कूद चलेगी? प्रलयाग्निके सामने क्या पतंगका खेल चलेगा? सूर्यके सामने क्या जुगनू चमकेगा? तुम्हारे सामने मेरा खेल चलेगा क्या कलिदेव? देव।

(३०२) तू ही मेरे माता, पिता, बंधु, बान्धव, सब कुछ है तेरे अतिरिक्त मेरा दूसरा कोई नहीं कुछ भी नहीं कूड़ल संगम देव जैसे चाहे वैसे रखो!

(३०३) मेरे शरीरका स्वामी तू है, मेरे घरका स्वामी तू है, मेरे धनका

स्वामी भी तू ही है और मेरा ज्ञान और स्मरण भी तेरा ही है। मेरा विस्मरण और अज्ञान भी तेरा ही है। कूडलसंगमदेव "भृत्यापराधे स्वामिनो दंड" यह सोचकर देख मेरे स्वामी।

(३०४) मेरे गुणावगुणोंका विचार न कर, मैं क्या तेरे समान हूँ? अप्रतिम महिम मैं तेरे समान हूँ? अप्रतिम कूडलसंगमदेव तेरे बनानेसे बना हूँ मैं, मुझसे अप्रसन्न होगा क्या परम पिता?

(३०५) धन नष्ट हुआ तो तन तेरे समर्पण करूँगा। तन नष्ट हुआ तो मन तेरे समर्पण करूँगा। मन नष्ट हुआ तो भाव तेरे समर्पण करूँगा। भाव नष्ट हुए तो निर्भाव तेरे समर्पण करूँगा कूडलसंगमदेव चन्नबसवण्णाका सेवक होनेसे मैं भी तुममें विलीन होकर शुद्ध बनूँगा मेरे स्वामी!

(३०६) भक्ति ही भोजन है, सत्य ही उसका व्यंजन है, ऐसा निजत्व ही गुहेश्वर लिंगके सामने रखनेवाले संगबसवण्ण हैं।

(३०७) मैं भक्त नहीं, मैं मुक्त भी नहीं, मैं तो तेरी सूत्रमें बंधी गुड़िया हूँ। मेरा पृथक् अस्तित्व है क्या? मेरे मानाभिमानका स्वामी मेरी भूलोंका विचार करनेके पहले यश दो कूडलसंगमदेव।

(३०८) मेरा अंतरंग तू है, मेरा बहिरंग तू है, मेरा ज्ञान भान तू है, मेरा स्मरण विस्मरण तू है, मेरी भक्ति तू है, मेरी मुक्ति तू है, मेरी युक्ति तू है, मेरा आलस्य तू है, मेरी परवशता तू है। समुद्रमें उतरने के बाद समुद्र कभी अपनेमें डूबे हुएके पैरोंके अवगुण देखेगा? मेरा भला बुरा तू ही जानता है मेरे स्वामी! तेरे चरण ही इसके साक्षी हैं और मेरा मन कूडलसंगमदेवा।

(३०९) मेरे शरीरको अपनी वीणाका दंड होने दो, मेरे सिरका तुंबा बना लो, शिराओंको तार और अंगुलियोंको मिजराब बना लो! उसमेंसे तेरा दिव्य संगीत गूंजने लगे, बत्तीस राग आलापने लगे, मेरे विकारोंको नष्ट करके अपना यशोगान गवालो कूडलसंगमदेवा।

विवेचन—भक्ति नवविध है। उसमें आत्मार्पण अथवा आत्म समर्पण ही सबसे महान् है। आत्मनिवेदनमें भक्त सम्पूर्ण रूपसे अपनेको भगवानके हाथोंमें सौंप देता है। ऐसा करनेसे भक्तका अन्तःकरण परमात्मामें विलीन हो जाता है। वह परमात्माके हाथका यन्त्र बन जाता है। यह भक्तकी अत्यन्त उच्च स्थिति होती है। भक्तका परमात्मैक्य प्राप्त करनेके उपरान्त उस स्थितिको अद्वैत भक्ति अथवा ऐक्य भक्ति अथवा समरस भक्ति कहते हैं।

वचन—(३१०) और कोई तुम्हारा स्मरण करेगा, मैं तुम्हारा स्मरण नहीं करता, क्योंकि तुम्हारा स्मरण करनेका साधन रूप मेरा मन ही स्वयं "तुम" बन गया है। और कोई तुम्हारी पूजा करेंगे, मैं नहीं करता, क्योंकि तुम्हारी पूजा करने-

वाला यह शरीर ही तुम्हारा बन गया है। मेरा सर्वस्व पहले ही तुम्हें अर्पित हो जानेसे मैं तुम्हें अब कुछ भी अर्पण नहीं कर सकता और कोई तुम्हें अपना समर्पण करेगा। "भक्त देहि देव" ऐसा श्रुति वचन जान करके तुम्हारा स्पर्श कर तुमसे अभिन्न हो गया हूँ **कूडलसंगमदेवा**।

(३११) शरीर ही तेरा रूप बननेके अनन्तर किसे देखूं? मन एकरूप होनेके पश्चात् किसका स्मरण करु ? प्राण तेरे रूप बन जानेके उपरान्त किसकी आराधना करु ? जब ज्ञान ही तुममें स्थिर हो गया, तो और किसको जानूं ? **चन्नमल्लिकार्जुना** तुमसे तुम ही बनकर तुम्हें ही जानती हूँ।

साधनामार्ग-कर्मयोग

विवेचन—पिछले दो अध्यायोंमें ज्ञान और भक्ति इन दो साधना-मार्गोंका विचार किया गया, इस अध्यायमें कर्ममार्गके विषयमें वचनकारोंने क्या कहा है, इसका विचार करें। कर्म शब्दका मूल अर्थ अत्यंत व्यापक है। प्रत्येक प्रकारकी बाह्य और आंतरिक हलचल अथवा अंतरबाह्य शक्तिका प्रयोग कर्म कहलाता है। इस दृष्टिसे विचार करने पर, ध्यान, ज्ञान संपादन, एकाग्रता, भक्ति, यह सब कुछ कर्म कहा जाएगा। इतना ही नहीं, कर्मके अत्यंत विरोधसी दीखने वाली क्रिया निद्रा, विश्रांति, आलस्य, मृत्यु आदि भी एक प्रकारसे कर्म ही है। किंतु यहाँ एक विशिष्ट और संकुचित अर्थमें कर्म शब्दका प्रयोग किया गया है। यहाँ "अपने व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवनकी धारणा और विकासके लिये अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार किया जानेवा कर्तलाव्य" इस अर्थमें कर्म शब्दका प्रयोग किया गया है।

जैसे ज्ञानका आधार बुद्धि और भक्तिका आधार भाव है वैसे ही कर्मका आधार मनुष्यकी संकल्प शक्ति है। किसी कामको करनेकी संकल्प शक्ति, तथा उस संकल्पको कार्यमें परिणत करनेकी कर्मेन्द्रियोंकी शक्ति दोनों मिलकर क्रिया शक्ति कहलाती है। शुद्ध ज्ञान प्राप्त होनेके लिये जैसे निर्दोष निरीक्षण विवेचन, शुद्ध तर्क आदिकी आवश्यकता है वैसे ही मुक्त कर्मके लिए निर्मल संकल्पशक्तिकी आवश्यकता है, निष्काम समर्पणभाव, और निरंहकार उत्साह-युक्त क्रिया शक्तिकी अवश्यकता है।

इस प्रकार किया जानेवाला कर्म साधकके लिए बंधनका कारण नहीं होता किंतु मुक्तिका साधन होता है। ऐसे कर्मको वचनकारोंने योग-युक्त कर्म कहा है। वचनकारोंने इस साधनामार्गको भी स्वतंत्र स्थान नहीं दिया है। ज्ञान, भक्ति, क्रिया और ध्यान, इन चारों साधनोंको अविभाज्य रूपसे प्रयोग करनेका समन्वय मार्ग अथवा पूर्णयोग ही वचनकारोंका साधनामार्ग है। इसीको उन्होंने कहा है। किसी भी साधना मार्गका विचार करते समय वचनकारोंके इस विशिष्ट दृष्टिकोणको स्मरण रखना अत्यावश्यक है।

वचन—(३१२) क्रिया-मन्थनसे पहले क्या ईश्वरकी मधुरता चखी जा सकती है? बिना मथन-क्रियाके दूधमें जो मक्खन रहता है, जो घी रहता है वह पा सकते हैं? लकड़ीमें स्थित अग्नि मथन क्रियाके बिना देखा जा

सकता है ? इसलिए "गुहेश्वर लिंगको अपनेमें देखा, जाना," ऐसा कहने वाले महात्माके लिए सत्क्रियाचरणकी साधना आवश्यक है।

(३१३) गति, मति, चैतन्य, शब्द जिसमें है वह अपनी क्रियाके अनुसार चलेगा। मेरे मन आतुरता किस बातकी ? अरे मन ! क्रियानुसार चलो। वृक्ष में फूल उगते ही फल पक्व हो जाएगा क्या ? जबतक लिंगमें मन लीन नहीं होगा सकलेश्वरदेव कैसे प्रसन्न होगा ?

टिप्पणी:—क्रियानुसार चलना=सदाचरणसे चलना।

(३१४) बिना पकाकर खानेके भूख मिटानेका और क्या प्रकार है ? बिना कर्मयोगके चित्त निर्मल करनेका और कौन-सा साधन है ? पकाए बिना भोजन करनेका और कौनसा प्रकार है कपिलसिद्धमल्लिकार्जुना।

टिप्पणी:—देह पोषणका कार्य एक सामान्य-सा कर्म है किंतु वह अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् जीवित रहनेके लिए कर्म आवश्यक है। यह कहकर वचनकारोंने कर्मका महत्त्व समझाया है।

(३१५) कायकके अभावमें भला प्राण कैसे रहेंगे ? भाव शुद्ध न हों तो भला भक्ति कैसे ? मारप्रिय अमरेश्वर लिंगको पहुँचा है।

टिप्पणी:—बिना भाव शुद्धिके भक्ति असम्भव है वैसे ही बिना कायकके जीवित रहना असम्भव है। कायकका अर्थ ईश्वरार्पित कायकार्य, अथवा ईश्वरार्पित शरीरश्रम ! इस वचनमें जो "पहुँचा" शब्द आया है वह मूल वचनके "मुट्टिदे" इस शब्दके अर्थमें आया है। मुट्टिदे=स्पर्श किया है, पहुँचा है, ऐसे दो भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं।

(३१६) विश्वमें ज्ञानकी प्रतिष्ठा होती है। गायके शरीरमें जो घी होता है, उससे क्या गायको पुष्टि मिलती है ? उस गायको पालकर, दूध दूहकर, उसे गरमकर, जमाकर, मथकर, मक्खन निकालकर, उसे गरमकर घी बनाकर गायको खिलानेसे वह पुष्ट होती जाएगी। वैसे ही सत्कर्मोंके उपचारसे ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानसे सम्यक् ज्ञान होता है। सम्यक् ज्ञानसे प्राण ही लिंग बनता है इसमें कोई संशय नहीं महालिंगगुरुसिद्धेश्वरप्रभु।

विवेचन—वचनकारोंका कहना है बिना कर्मके सिद्धि नहीं मिलेगी। जीवनमें गति, मति, इंद्रिय आदि ठीक हैं तबतक कर्म करते रहना अनिवार्य है। देह पोषणके लिए भी कर्म करना पड़ता है। केवल ज्ञान ही सर्वोच्च है, किंतु ऐसा कहनेसे ही वह कहींसे आकर मस्तिष्कमें नहीं घुसेगा। सत्कर्मोंके द्वारा उसको प्राप्त करना पड़ता है। सत्कर्मोंसे ही वह विकसित होगा, तभी सिद्धि सम्भव है।

"जीवनमें कर्त्तव्य कर्म करना अनिवार्य है" यह सिद्धान्त मान्य करनेपर

कठिनसे कठिन प्रसंग आनेपर भी अपना कर्त्तव्य कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। परिस्थितिसे, कठिनाइयोंसे डरकर अपना कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। किसी भी रूपमें उससे विमुख नहीं होना चाहिए।

वचन—(३१७) कर्म रूपी जालमें पकड़ा गया हूँ। अपने सेवककी बात सुन! विनय सुन! अब अन्तिम युद्धमें कूदता हूँ। शरीरको उसमें झोंक देता हूँ। तेरे बुलाने तक यदि पीछे हटा तो तेरा सेवक नहीं। शिव शरणोंकी सेना तो है ही, शिव भक्तोंके मेलेमें रमता रहूँगा **कूडलसंगमदेवा**।

टिप्पणी:—यह वीर भक्तकी वीर वाणी है। मृत्युके आलिंगन करने पर भी अपना कर्तव्य करते रहनेकी प्रतिज्ञा है।

(३१८) भागनेवाला भगोड़ा सेवक नहीं होता, माँगनेवाला भिक्षुक भक्त नहीं होता। सेवकको भागना नहीं चाहिए, भक्तको माँगना नहीं चाहिए। न भागूंगा और न मांगूंगा **कूडलसंगमदेवा**।

(३१९) डरनेसे नहीं रुकता, सहमनेसे नहीं रुकता वज्र पंजरमें जा बैठनेपर भी ललाट लिखित नहीं रुकता। अकुलानेसे, रोने धोनेसे, क्या होगा? धीरजखोकर, मन मारकर बैठे रहनेसे होनेवाला रुकेगा नहीं और न मिलनेवाला मिलेगा नहीं **कूडलसंगमदेवा**।

टिप्पणी:—जो होनेवाला है वह होकर रहेगा। जब यह सुनिश्चित है तब भला रो-धोकर, धीरज खोकर जीनेमें क्या धरा है? सतत धैर्यसे आनन्दसे प्राप्त परिस्थितिका स्वागत क्यों न करें? वचनकारोंने सच्चे कर्मयोगीकी भाँति निष्काम भावसे, शान्त मनसे कर्म करते रहनेकी शिक्षा दी है।

(३२०) शिव अपने भक्तोंको भी अपने जैसा जोगी बनाकर छोड़ेगा। सोनेकी भाँति कसौटीपर कसकर देखेगा, अपने भक्तोंको। चन्दनके सदृश रगड़-रगड़कर देखेगा अपने भक्तोंको, ईखसा निचोड़-निचोड़कर देखेगा, धैर्यसे दृढ़ रहा तो प्रेमातिशयसे हाथसे उठाकर गोदमें बिठा लेगा हमारा **रामनाथा**।

टिप्पणी:—वचनकारोंका कहना है कि कर्तव्य पथमें आनेवाली अनेक कठिनाइयाँ भगवानकी ओरसे आनेवाले परीक्षा प्रसंग ही हैं। ऐसे समय अपने रास्तेसे अलग नहीं होना चाहिए। तब भगवान निश्चित रूपसे प्रसन्न होगा। ऐसे अनेक वचन हैं। ऊपरका वचन उनमेंसे एक है। आगे जीविकोपार्जन करनेके लिए किये जानेवाले कर्मके विषयमें कहे हुए वचन देखें।

(३२१) कायक निरत साधकको गुरु दर्शन होनेपर भी उन्हें भूलना चाहिए, लिंग पूजा भी भूलनी चाहिए, आगे बैठे जंगमकी ओर भी दृष्टि उठाकर नहीं देखना चाहिए, क्योंकि कायक ही कैलास है। **अमलेश्वर लिंगका** दर्शन कायकमें ही होता है।

टिप्पणी:—जीविकोपार्जनके लिए किये जानेवाले शिवार्पित कर्मको कायक कहते हैं। यह वचनकारोंका अपना पारिभाषिक शब्द है। उन्होंने कायकको शिव पूजा माना है और कायकसे मिलनेवाले फल अर्थात् पारिश्रमिकको प्रसाद।

(३२२) व्रत भंग सहन कर सकते हैं किन्तु कायकमें खंड पड़ना असह्य है **कर्म हर कालेश्वरा**।

(३२३) कायकसे ही गुरुकी भी जीवन मुक्ति होती है, कायकसे ही लिंगका शिला कुल टूटता है, कायकसे ही जंगमका वेश पाश टूटता है यह **चन्नबसवण्ण प्रिय चन्देश्वर लिंगका** ज्ञान है।

(३२४) अपना नियमित कायक छोड़कर, समय पर भक्त लोगोंके घर जाकर भिक्षा माँग खाना कितना कष्टकर है? यह गुण **अमलेश्वर लिंगसे** दूर ले जानेवाला है।

टिप्पणी:—वचनकारोंका कहना है कि साधकका कायक समाजहितका कार्य है। ऐसे किसी कार्यसे, समाज, साधकके भोजन वासनका दायित्व अपने पर लेता है। कायक छोड़ करके भिक्षा माँगना अनुचित है। ऐसा कायक कैसे करना चाहिए?

(३२५) सत्य शुद्ध कायकमें चित्त तल्लीन होना चाहिए। चित्तका विक्षोभ नहीं होना चाहिए। नित्यके कायकमेंसे नियमित प्रसाद मिलना चाहिए। नित्यका नियमित प्रसाद छोड़कर धनके मोहमें उसको स्पर्श किया तो जीवन भरकी सेवा-साधना समाप्त समझनी चाहिए। तेरी सेवा मेरे लिए तेरा प्रसाद और प्रसन्नता है तथा **चन्देश्वर लिंगका** प्राण है।

(३२६) जिसका मन शुद्ध नहीं है उसके लिए धनका अभाव है, चित्त शुद्ध होकर कायक करनेवालेको जहाँ देखो वहाँ लक्ष्मी आगे आकर गले लगाएगी **मारप्रिय अमलेश्वर लिंगका** सेवक होनेके नाते।

(३२७) घेरकर, सताकर, उलझाकर, लजाकर जिनको देखा उनसे, जहाँ तहाँसे, माँग मूँगकर, जंगमके लिए, लिंगके लिए किया गया संकटपूर्ण कर्म न लिंग पूजा, न लिंग सेवा, न लिंग नैवेद्य कहलाएगा। अपना शरीर गलाकर, रगड़कर, मन मारकर किया गया निःसंशय अखंड कर्म ही शिवलिंगका दासोह कर्म है। शुद्ध कायकसे लाए गए सूखे पत्ते भी लिंगार्पित हैं किन्तु दुराशा से लाया गया छप्पन भोग भी उसको अनर्पित है। इसलिए सत्य शुद्ध कायकका नित्या हव्य ही **चन्देश्वर लिंगको** अर्पित है और कुछ नहीं।

विवेचन—साधकके लिए शुद्ध कायक अत्यन्त महत्त्वका है। उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। गुरु जन, भक्त तथा संन्यासी कोई भी कायकसे मुक्त नहीं हो सकते। भिक्षा माँगकर किया हुआ कर्म न पूजा है, न दान है, न अर्पण है। वचनकारोंका यह स्वानुभव है कि निष्ठासे कायक करनेवालेको किसी प्रकारका

अभाव नहीं होगा ।

कायक शुद्ध होना चाहिए । अहंकारसे कायक अशुद्ध होगा तथा परमात्मार्पण रहित कर्म कायक नहीं कहा जा सकता ।

वचन—(३२८) मैंने प्रारम्भ किया है गुरु पूजाके लिये, मैं उद्योग व्यवहार कर रहा हूँ लिगार्चनके लिये । मैं परसेवा कर रहा हूं जंगम दोसोहके लिये । मैं कोई भी कम क्यों न करूं तू देगा इस विश्वाससे दिया हुआ धन तुम्हारे कार्यके अतिरिक्त अन्य कार्यमें व्यय नहीं करूंगा कूडल संगमदेवा ।

टिप्पणी:—भक्तका संपादन भी भगवानके कार्यमें उनके चरणोंमें अर्पण करनेके लिये होता है ।

(३२९) पंडित हो या पामर, संचित कर्म भोगे बिना चारा नहीं । प्रारब्ध कर्म भोगे बिना गत्यंतर ही नहीं है । मैं किसी लोकमें जाऊँ.तो भी वह मुझे नहीं छोड़ेगा । कर्मफलोंको कूडलसंगमदेवका आत्म नैवेद्य करनेवाला साधक ही धन्य है ।

(३३०) आँखोंके सामने रखा हुआ ध्येय कभी ओझल नहीं होगा । अपने कर्ममें लगाया हुआ चित्त उसके सामनेसे नहीं उतरेगा । मैंने किया है यह भाव चित्तमें रहा तो चित्त स्वस्थ नहीं होगा । इस चित्त स्वास्थ्यके अतिरिक्त लिंग नहीं दिखाई देगा आयदक्कि मारैया ।

(३३१) जिस वीरने युद्ध क्षेत्रका निश्चय किया है उसको भला घरकी क्या चिंता ? अर्थ, प्राण और अभिमानको शिवार्पण करनेके पश्चात् भला उनके बोझको सिरपर उठालेनेमें सद्भक्ति है क्या ? यह चंदेश्वर लिंगको असम्मत कर्म है ।

(३३२) अन्न दानसे पुण्य मिलेगा, वस्त्र दानसे पुण्य मिलेगा, धनदानसे पुण्य मिलेगा, यह सब अन्यान्य फल पदकी संपत्ति है कूडलसंगमदेवा ।

(३३३) आगसे निगली वस्तुका आकार प्रकार कैसे ? समुद्रमें डूबी हुई नदीका प्रथक् प्रतीक कैसा ? लिंग स्पर्शित अंगको कहाँका पुण्य और कहाँका पाप नास्तिनाथा ।

(३३४) कर्ममे फलाशा नहीं होनी चाहिये । क्योंकि सकाम कर्म भक्तिसे पुरातन परमात्मा प्रसन्न नहीं होता । हमारा अखंडेश्वर किसी आशा आकांक्षा करनेवाले भक्तको नहीं चाहता ।

(३३५) हाथमें हथियार पकड़नेवाले सब हत्यारे होते हैं क्या ? हथियार चलानेवाले सब युद्ध कर सकते हैं क्या ? सकाम भावनासे, उद्देश्यपूर्तिके लिये कर्तव्य कर्म करनेवाले सब भक्त कहलाएंगे क्या ? वह चंदेश्वर लिंगको न पहुँनेवाला कार्य है ।

टिप्पणी:—आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें सकाम कर्मका कोई स्थान नहीं है। क्योंकि कामनायुक्त कर्म बंधनका कारण है। वचनकारोंने बार-बार इस बातको अच्छी तरह समझाया है।

(३३६) तन माँगा तो तन मिलेगा, मन माँगा तो मन मिलेगा, धन माँगा तो धन मिलेगा तुम्हारे शरणोंको, किन्तु "मुझे चाहिए" यह भाव भी मनमें आया तो तेरे चरणोंकी सौगंध ! तन मन वचनसे बिना तेरे और कुछ चाहा तो पुनः संसार रूपी घोर नरकमें रख **कूडलसंगमदेवा**।

(३३७) अमृतको भूख है क्या ? पानीको क्या प्यास है ? महापुरुषोंको कैसी विषयाशा ? सद्‌गुरु करुणासे लिंगार्चन करनेवाले शिवशरणोंको भला मुक्तिकी भी आशा कैसी ? उनका तो वह स्वयंभू सहज स्वभाव है। स्वयं तृप्तिने कभी शांति खोजी है क्या **उरिलिंगपेद्दिप्रिय विश्वेश्वरा**।

टिप्पणी:—यह निरपेक्ष निष्काम कर्मका अंतिम आदर्श है। अपने अंतिम साध्यकी भी आशा नहीं की जानी चाहिये यह वचनकारोंने कहा है।

(३३८) मुक्ति अपने गलेमें लटका लो, मुक्ति पद अपने ही हृदयमें भोंक लो, मुझे तुम्हारी यह सेवा ही पर्याप्त है **महालिंगकल्लेश्वरा** अपना वह परम पद सिरमें लपेट लो !

टिप्पणी:—कर्मयोगीको अपना कर्म करते समय जिस कर्मानंदका अनुभव होता है उसमें ही वह इतना तन्मय रहता है कि उसे अपने अंतिम साध्य मुक्तिका भी महत्व नहीं रहता। उसकी साधना ही साध्य रूप बन जाती है। साध्यको भी भूलकर जो साधनामें तन्मय हुआ उसका साध्य उसके पास आकर वरण करेगा।

विवेचन—काम्य बुद्धिसे किया हुआ कर्म भगवानको अर्पित नहीं होता ऐसा वचनकारोंका कहना है काम्य बुद्धिसे किये गये सत्कर्मसे भी कर्म बंध नहीं छूटता। सकाम कर्म काम्य कायक है सकाम भक्ति भी ईश्वरार्पित नहीं हो सकती। निरहेतुक प्रेम जैसे भक्तिकी आधारशिला है वैसे ही निष्काम कर्म, कर्म-मार्गकी आधारशिला है। सच्चा कर्मयोगी निष्काम भावसे अपना सर्वस्व परमात्मार्पण करके सतत कर्मरत रहता है। उसकी मुक्तिकी इच्छा भी परमात्मार्पण होती है। ऐसी हालतमें भला उसकी ओर कौनसी आशा आकांक्षा रहेगी ? ऐसा निष्काम निरपेक्ष कर्मयोगी ही भगवानको तेरा मुक्ति पद भी गलमें लटका ले, कह सकता है। ऐसा साधक निर्भय रहता है। ऐसे कर्मयोगीकी अंतिम स्थिति कैसी होती होगी ? वचनकारोंने जो उसका वर्णन किया है उसका दर्शन करें !

वचन—(३३९) कार्य करते समय यदि मैंने अपनेको जानकर कार्य किया

हो, देते समय कभी मैंने उसका कुछ भान रखकर दिया हो, देते समय बदलेमें अपनी रुचिके अनुसार कुछ चाहा हो, तो वह शिव-द्रोह होगा मेरे स्वामी! करते समय, देते समय, यदि मैं शुद्ध न रहा होऊं तो तुम मेरी नाक काट लो कूडलसंगमदेवा।

(३४०) करनेवाला भक्त भी तू है और करा लेनेवाला भगवान भी तू है ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए अखंडेश्वरा तेरे फल पदादिकी ओर ताका भी नहीं, और तूने प्रसन्न होकर दिया भी नहीं!

(३४१) प्रपंचमें रहकर उसमें निर्लेप रहती हूँ, आकार पकड़कर निराकार होकर चलती हूँ, बहिरंगसे व्यवहाररत रहकर अंतरंगमें विस्मृत रहती हूँ। जली हुई रस्सीके बटकी भांति रहती हूँ मेरे देव चन्नमल्लिकार्जुना! दसमें ग्यारह होकर पानीमें डूबे कलमसी रहती हूँ!

टिप्पणी:—भोजन करके उपवासी व्यवहाररत रहकर ब्रह्मचारी कर्म करके अकर्मी रहनेकी स्थितिका वर्णन है यह! ऐसा कर्म निवृत्त कर्म कहलाता है जिसमें मुक्ति निहित ही है।

(३४२) इस पर, इसके लिए एक, उसके लिये एक ऐसे कहनेवालोंका यह और ही प्रकार है। जैसे जीभ घीसे निर्लेप रहती है, हवा धूलसे निर्लेप रहती है, दृष्टि अंजनसे निर्लेप रहती है, वैसे सिम्मलगिय चन्नराम सब कुछ करके भी न करनेवाले-का-सा रहता है।

विवेचन—निष्काम कर्मयोगी अपनी सभी शक्तियोंसे समाजकी धारणा तथा लोकहितार्थ निरपेक्ष भावसे सतत कर्मरत रहते हैं। वे ऐसे कर्ममें डूबे रहनेपर भी सदैव अन्तःमुक्त रहते हैं। बहिरंगसे कर्मयुक्त और अन्तरंगमें परमात्मयुक्त!

साधनामार्ग—ध्यान योग

विवेचन—मुक्तिके अनेक साधनामार्गोंमें ध्यान-योग भी एक साधना-मार्ग है। उनको राजयोग, लययोग, अष्टांगयोग, अथवा पातंजलयोग भी कहते हैं। वचन साहित्यका अध्ययन करते समय इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि वचनकारोंमेंसे अनेक वचनकारोंने इसका अभ्यास किया था। शिवमें समरसैक्य होना ही शिवशरणोंके जीवनका मुख्य उद्देश्य था। इसलिए वे अपने साधनामार्गको शिवयोग कहते हैं। वचनकारोंका शिवयोग और पतंजलिका राजयोग तत्वतः एक ही है। किसी भी साधनामार्गका अनुसरण क्यों न करें सबका उद्देश्य मनः संयम, चित्तशुद्धि है। चित्त वृत्तियोंका निरोध ही पतंजलिका राजयोग है। चित्तके संयमनको ही इस योगने अपना उद्देश्य मान लिया है। इसलिए यह योग प्रत्येक प्रकारके साधनामार्गमें सहायक है।

समुद्रमें जैसे अनंत तरंगें उठती हैं वैसे ही चित्तसागरमें अनंत संकल्प विकल्प उठते हैं। उन्ही संकल्प विकल्पोंको वृत्ति कहते हैं। वृत्तिका अर्थ है तरंगें, लहरें; उन तरंगोंका उठना, गिरना, फैलना, और किनारेसे टकराकर, जहाँसे उठी थीं वहींको लौटना और पुनः उनका उठना तथा पुनः-पुनः वही सब। यही चित्त चांचल्यका कारण है। यदि वे वृत्तियां नहीं उठतीं तो जैसे शांत निर्मल जलाशयमें निरभ्र नीलाकाशका प्रतिबिंब पड़ता है वैसे ही शांत चित्त सागरमें परम सत्यका प्रतिबिंब पड़ता है। इसलिए चित्तकी उन वृत्तियोंका निरोध करके, चित्तकी समता, एकाग्रता, अथवा स्थिरताकी साधना ही इस योगका ध्येय है।

इस योगको अष्टांग योग कहते हैं क्योंकि इसके आठ अंग माने जाते हैं। किन्तु इस योगका मुख्य उद्देश्य तो चित्तकी एकाग्रता है। और अंग तो चित्तकी एकाग्रताके लिये साधना रूप अथवा पोषक हैं। कुछ समय तक सिथर रूपसे ध्यान करनेकी शक्ति जब प्राप्त होती है अथवा ध्यानका अभ्यास बढ़ता है तब उसको धारणा कहते हैं और ध्येयमें चित्तका लय होनेपर समाधि। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार यह ध्यानसिद्धिके पूर्व साधन हैं। इसलिए यह पूर्व योग भी कहलाता है। आमका रस चूसकर जैसे उसकी गुठली फेंक देते हैं वैसे ही वचनकारोंने अपनी साधना प्रणालीमें पांतजल योगका मुख्य भाग ले लिया है और उसका समुचित उपयोग करके अन्य बातोंको छोड़ दिया है। इतना ही नहीं कहीं-कहीं उसका विरोध किया है। वचनकार तथा अन्य ध्यान योगियोंमें

यही अन्तर है । वचनकार सतत अपने अंतिम ध्येय स्वरूपपरशिव को ही अपने सामने रखते हैं; किंतु अन्य ध्यानयोगी ऐसे किसी बंधनसे बाध्य नहीं हैं । वह नाद, बिंदु, ज्योति, अमृत, ओंकार, ऐसे अन्य अनेक प्रतीकोंको भी अपने सामने रखते हैं । तथा उनपर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं ।

यम नियम तो केवल तन-मनकी शुद्धिके लिएही स्वीकार किये जाते हैं ।

> ब्रह्मचर्यं दयाक्षांतिर्दानं सत्यमकल्पता ।
> अहिंसाऽस्तेय माधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥

ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, अकल्पना, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य और दम यह दस यम हैं ! तथा

> शौचमिज्या तपोदानं, स्वाध्यादोपस्थ निग्रहः ।
> व्रतमौनोपवासंच स्नानंच नियमा दशाः ॥

शौच, यज्ञ. तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थ निग्रह, व्रत, मौन, उपवास, और स्नान यह दस नियम हैं । किसी भी प्रकारके स्थिर देह विन्यासकोही आसन कहते हैं । देहका चांचल्य दूर करना ही इसका उद्देश्य है । प्राणोंको स्थिर करनेके लिए वायुका जो निरोध किया जाता है उसको प्राणायाम कहते हैं । इंद्रियोंको विषयोंसे संवरण करके उनको विषय निवृत्त करना अथवा इंद्रिय जय प्रत्याहार कहलाता है । इन तत्त्वोंको वचनकारोंने अपनी साधनामें प्रयुक्त किया है । उसे किस रूपमें स्वीकार किया है, तथा किस प्रकार प्रयुक्त किया है यह वचनोंमें ही देख सकते हैं ।

वचन—(३४३) यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधि यह अष्टांग योग है । इस योगमें उत्तर भाग और पूर्व भाग ऐसे दो भाग हैं । पहले पांचका पूर्व भाग है । ध्यान धारणा समाधि यह तीन उत्तर भागमें हैं । इसका विवेचन इस प्रकार है—अनृत, हिंसा, परधन, परस्त्री, परनिंदा, इनका त्याग करके, केवल लिंगार्चन करना यमयोग है । ब्रह्मचर्यसे, निरपेक्ष होकर जीवनयापन करना, शिवनिंदा न सुनना, मानसिक, वाचिक तथा उपांशिक इन तीन प्रकारकी इंद्रियोंसे प्रणव पंचाक्षरीका जप करते हुए जीवनयापन करना····· पाप भीरू होना, यह नियम योग है । सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, अर्धचन्द्रासन, पर्यकासन, इन पांच आसनोंमेंसे किसी आसनमें सुस्थिर चित्त होकर, मूर्त रूपसे शिवार्चन करना आसन योग है····· इला पिंगलामें चलायमान रेचक पूरकका भेद न जानकर, मन और प्राणपर लिंगारोपण करके, मन, पवन, प्राणोंको लिंगमें विलीन करके, हृदयकमल मध्यमें प्रणव पंचाक्षरीका उच्चारण करते हुए परशिव ध्यानमें तन्मय रहना ही प्राणायाम है । सभी इन्द्रियोंको सधकर लिंगभिमुख कर लेना ही प्रत्याहार है......

यह हैं पांच पूर्वयोग।······लिग ही परमात्म बोधक चिन्ह है, यह जानकर, उसीको आधार बनाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, ब्रम्हरंध्र आदि प्रमुख स्थानोंमें ध्यान करना ही ध्यानयोग है। उस लिंगको भाव, इंद्रिय, मन, आदि प्रमुख अंगोंमें धारण करना ही धारणा योग है। सन् क्रिया ज्ञान-योगसे बिना भिन्नताके एकार्थ होना ही समाधियोग है।········· यह आठ अन्य मतवालोंका अष्टांगयोग है। अन्यों द्वारा किये जाने वाले इस कर्म कौशलमें लिंग नहीं है रे!·········अपने आप अपनेमें स्थित होना ही शिवयोग है देख महालिंगेश्वर गुरु सिद्धेश्वर प्रभु।

टिप्पणी:—वचनकारोंने अष्टांग योगको किस प्रकार परिवर्तित करके अपने जीवनमें प्रयुक्त किया और सामान्य पातंजलयोग और वचनकारोंके शिवयोगमें क्या अंतर है यह ऊपरके वचनमें स्पष्ट हो गया है।

(३४४) इड़ा-पिंगला सुषुम्ना नाड़ीमें आत्माका संचार नहीं होना चाहिए ऐसा कहनेवालोंकी बात तो सुनो ······ साकारकी खोपड़ीमें निराकारका अमृत पीनेकी बात सत्य कैसे होगी? वंध्या गायमें दूधका थन कैसे होगा······ आत्माका अस्तित्व तो घटमें स्थित आकाशका अस्तित्वसा है; सूर्यमें स्थित किरणोंके अस्तित्वका-सा है····· शरीरमें बैठे हुए ओंकारका अस्तित्व न जानते हुए ध्वस्त हुए यह कर्मकांडी! स्फटिक घटमें रखे पानीकी भांति अपने आपको अंतर बाह्य समझ लो रे! निष्कलंक मल्लिकार्जुन लिंगमें—सर्वांग लिंग भरित होनेसे पहले लिंगांग योग नहीं है।

(३४५) आधार स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, नामके षडाधार चक्रोंमें वर्णदल, अक्षर, अधिदेवतामें विलीन होकर दिखाई देनेवाला तत्त्व एक ही है अनेक नहीं। लोग चक्रोंके हिसाब किताबके आधीन होकर नाम रूपके जालमें आ फसे हैं। जिन योगियोंमें निश्चित ध्येय नहीं है उन ध्येयरहित योगियोंका यह प्रकार देख लो। न देखनेकी वस्तु देखकर पकड़ी है शरणोंने भेदन न करनेकी वस्तुका भेदन करके देखा, असाध्य वस्तुको साध्य करके देखा निज गुरु स्वतत्र सिद्धेश्वरा तेरे शरणोंने।

(३४६) आशा, रोष, हर्षरूपी इंद्रिय भावोंको स्पर्शकर आचारको शिवाचार करके दिखाऊंगा अमृतमय भक्तिसे निर्वचक मनसे भावशुद्ध पूजा करूंगा, अपनी प्राण शक्तिसे मिलूंगा कूडलसंगमदेवा।

(३४७) बहनेवाले मनके वायुओंको, उत्साहित करके, मनको स्थिर बनाकर, सगुण ध्यानमें रगड़ते हुए, निर्गुणमें स्थित होना, उस निर्गुण ध्यानमें शक्ति संपादन करके, सगुण निर्गुणमें विलीन होकर सत्यमें मनोलय करनाही निजगु स्वतंत्रसिद्ध लिंगेश्वरका परमराजयोग है।

टिप्पणी:—ऊपरके वचनोंमें संयम और ध्यान, विशेष करके निर्गुण ध्यान, का विचार किया गया है।

(३४८) अंतरंगमें प्रकाशनेवाली ज्योति ही सब ज्योतियोंका परमाश्रय है, वही अपने आप समरस रूपसे अंतरबाह्य व्याप्त है। मनके स्मरण-संकल्पके विस्मरणरूप उस ज्योतिर्लिंगके स्मरणसे सुखी बना रे मेरे निजगुरु स्वतन्त्र सिद्ध-लिंगेश्वरा।

(३४९) पूर्वद्वार और अधोद्वार बंद करके, ऊर्ध्वद्वार खोलकर, अपलक दृष्टिसे अंदर देखता था तुम्हें टकटकी लगाकर। तुममें मन स्थिर हुआ था, सतत परम सुख पा रहा था मैं। अब नहीं डरूँगा, नहीं डरूँगा। जनन-मरण अतिक्रमण हो गया निजगुरु स्वतन्त्रसिद्धलिंगेश्वरमें समरस हो जाने से।

टिप्पणी:—इस वचनके पहले वाक्यमें उड्डियान बंध नामकी यौगिक क्रिया करते हुए की जाने वाली प्रक्रियाका वर्णन है। पूरक करते समय गुदद्वारसे अपानको अंदर खींचकर (मूलबंध क्रिया द्वारा) कुंभक द्वारा कुंडलिनी शक्तिको जागृत करनेकी प्रक्रियाका वर्णन है। उपरोक्त स्थितिमें ध्यानमग्न साधककी स्थितिका वर्णन है।

(३५०) देह वासनाका अतिक्रमण कर, आत्मबंधनकी चटकनी तोड़ते हुए परात्पर प्राणलिंगसे मिलनेका साधन कौनसा है यह सब शिवभक्त समझें ऐसी भाषामें कहता हूं सुनो ! चौरासी आसनोंमें सर्वश्रेष्ठ आसन है शुद्धासन। वह शुद्धासन कैसे साधना है ? गुद गुह्य मध्य स्थानमें जो योनिमंडल नामका द्वार है उस द्वारसे बाएँ पैरकी एड़ी सटाकर, दाहिने पैरकी एड़ी मेंट्र स्थानपर सटाते हुए, अपना मेरुदंड सीधा रखकर बैठना। दोनों दृष्टियोंको एक कर उन्मनीय स्थानपर स्थिर करना, नेत्र, जिह्वा श्रोत्र, प्राण, और हृदयको छः अंगुलियोसे दबानेसे, मूलाधार स्थित मूलाग्नि, वायुसे मिलकर तीव्रतर गतिसे ऊर्ध्वको जाती है। वह मनको स्थिर करती है ; और उभय लिंगाश्रित महालिंगमें विलीन होकर अनंत सूर्याग्नि चन्द्रप्रकाशसे, वहीं सूक्ष्म होतो हुई अंगुल प्रमाण शुद्ध नक्षत्रसा आंखोंको करतलामलककी भांति प्रत्यक्ष हो दिखाई देनेवाले प्राणलिंगमें जो प्राण संभोग करना जानता है वही प्राणलिंग संबंधी है वही प्रलयादि रहित है अखंडेश्वरा।

टिप्पणी:—सिद्धासनमें बैठकर षण्मुखी मुद्रा साधकर लगाए गए ध्यानका अनुभव है।

(३५१) अर्धोन्मीलित अपलक दृष्टि नासिकाग्रमें स्थिर करके हृदय कमलमें बसे हुए अचल लिंगमें ज्ञान दृष्टिमें देखते हुए तन, मन, इंद्रियोंको खोलकर, मन को निर्वात ज्योतिकी तरह स्थिर करके सत्य समन्विश होनेकी क्रिया जानने

वाला ही निजगुरु स्वतन्त्रसिद्ध लिंगेश्वर।

विवेचन—उपरोक्त वचनमें एक न एक प्रकारसे ध्यानयोगके सम्ब तत्व आए हैं। वचनकारोंने अपनी समन्वयकी दृष्टिके अनुसार क्रियादि रहित ध्यान योगको महत्त्व नहीं दिया है। ज्ञान, भक्ति, कर्म, जैसे परस्पर पोषक हैं वैसे ही ध्यानयोगमें भी इन तीनोंका समन्वय होना आवश्यक है ऐसा उनका कहना है। इसलिए वह लिंगरहित ध्यानका विरोध करते हैं। उसको हेय बताते हैं। वे मानते हैं कि हर एक बातमें ध्यानकी आवश्यकता है।

वचन—(३५२) यदि कुरूपी सुरूपीका ध्यान करने लगी तो क्या वह सुरूपी हो जायगी? निर्धन धनिकका स्मरण करने लगे तो वह धनिक हो जाएगा क्या? अपने पुरातनोंका स्मरण करके कहते हैं हम कृतार्थ हुए। जिनमें भक्ति और निष्ठाका अभाव है उनको देखकर गुहेश्वर प्रसन्न नहीं होता।

(३५३) कायक छोड़कर कर्म पूजाकी आवश्यकता प्रदिपादन करते हैं। कहते हैं जीवन संचार होते रहने तक ज्ञान जानना चाहिए। ज्ञान ध्यानसे देखने पर क्या ज्ञानसे शरीरकी मुक्ति होती है? ध्यानसे दिखाई देने वाला प्रतीक मुझे एक बार दिखा दो न कैयुलिगत्तिअडिगूंटकडेयागबेडअरिनिजात्मरामना।

साधनामार्ग—ज्ञान-भक्ति-क्रिया-ध्यानका संबंध
(समन्वय योग)

विवेचन—वचनकारोंकी दृष्टिसे परमात्माको अपना सर्वस्व समर्पण करके परम सुख अथवा परम पद प्राप्त कर लेना ही जीवनका सार सर्वस्व है। सर्वार्पण भावसे उनकी साधनाका प्रारंभ होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि साधकको अपने तन, मन, प्राण और भावसे अर्थात् अपनी क्रिया शक्ति, भाव-शक्ति, ध्यानशक्ति और बुद्धिशक्ति द्वारा परमात्म-प्राप्तिका सतत प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रयत्नसे साधकके जीवनका प्रत्येक क्षण और कण अपने ध्येयकी प्राप्तिमें बीतता है। प्रत्येक क्षण उसको अपने ध्येयकी ओर ले जाता है। इन बातोंको भली भांति समझानेके लिए साधककी शक्तियोंको बुद्धिशक्ति, भाव-शक्ति, क्रियाशक्ति तथा ध्यानशक्तिके नामसे चार भागोंमें विभाजित किया है; और पिछले चार अध्यायोंमें इन शक्तियोंके द्वारा साधक कैसे आगे बढ़ता रहता है यह दिखाया गया है। ऐसे विश्लेषण करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इनमेंसे कोई एक मार्ग अपनेमें पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। पिछले सभी अध्यायोंमें यह बात स्पष्ट कही गयी है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंका न्यूनाधिक मात्रामें विकास होना स्वाभाविक है। सबको अपनेमें विकसित विशिष्ट शक्तिके प्रयोगके द्वारा साधना पथपर आगे बढ़ना होता है और यह स्वभाविक भी है। इसीलिए पिछले चार अध्यायोंमें क्रमशः बुद्धि, भाव, क्रिया और ध्यान शक्तिका विवेचन वचनकारोंके वचनों द्वारा ही किया गया है। अब प्रश्न यह है कि उन सब शक्तियोंका परस्पर संबंध क्या है? और वह कैसा होना चाहिए? इसपर वचनकारोंका जो मत है उसको देखनेसे सम-न्वय मार्ग अथवा शरणमार्गका यथार्थ वर्णन होगा।

साधारण मनुष्यको भी इन चारों शक्तियोंकी न्यूनाधिक प्रमाणमें जीवनमें आवश्यकता होती है। केवल कर्म, अथवा भाव, अथवा बुद्धि अथवा ध्यानके सहारे जीवन व्यवहार चलना संभव नहीं। व्यक्ति-व्यक्तिमें इन शक्तियोंका प्रमाण न्यूनाधिक हो सकता है। किंतु इन चारों शक्तियोंका अस्तित्व आवश्यक है। केवल क्रियाशक्ति मनुष्यको जड़यंत्र बना देगी। केवल भाव शक्ति मनुष्यको अनियंत्रित कर देगी; उसके जीवनको अनेक प्रकारोंके उफानोंका अखाड़ा बना देगी। केवल बुद्धि शक्ति मनुष्यको क्रिया शून्य बना देगी तथा उसका जीवन सब तरहसे उलझा देगी। और केवल ध्यान शक्ति आश्चर्य विमूढ़ बना

देगी। इन सब शक्तियोंके समुचित समन्वय द्वारा ही मानवी जीवनका सर्वांगीण विकास होगा।

इन चारों शक्तियोंके समन्वयके विषयमें कहते समय ऐसा कहा जा सकता है कि सत्य-ज्ञान अथवा आत्मज्ञानके अभावमें सत्य-भक्ति अथवा आत्म-भक्ति असंभव है तथा निष्काम कर्म भी असभव है। आत्म-भक्तिके अभावमें आत्म-ज्ञान शुष्क होगा, वह सरस और रम्य नहीं होगा तथा उसके अभावमें कर्मका परमात्मार्पण भी संभव नहीं। क्रियाके अभावमें ज्ञान और भक्तिकी परीक्षा नहीं होगी। उसको कसौटी पर कसकर देखनेका अवसर नहीं आएगा। वह जीवनव्यापी नहीं होगा। ध्यान शक्तिके अभावमें इनमेंसे किसीको स्थिरता प्राप्त नहीं होगी तथा इन तीनोंके बिना ध्यान अर्थशून्य हो जाएगा। यही बात और एक प्रकारसे कही जा सकती है। ज्ञानरहित भाव अंधा है, भाव-रहित ज्ञान नीरस और लंगड़ा है, क्रिया-रहित ज्ञान और भाव अव्यक्त ही रहेंगे। ध्यान, ज्ञान, भाव, और क्रियाका मार्गदर्शक है। भाव, ज्ञान और कर्मको सरस बनानेवाला है, इसलिए जीवनदायी है। क्रिया, ज्ञान और भावको व्यक्त रूप देकर जीवन-व्यवहारमें उनकी परीक्षाका अवसर देती है। ध्यानमें उन सबको स्थिर बनानेकी शक्ति है। ज्ञान, साधना-शरीरकी दृष्टि है तो भावना प्राण है, कर्म कर्तृत्वशाली हाथ हैं और ध्यान आधारभूत पैर! साधकका समग्र साधना जीवन ध्यानके आधार पर ही खड़ा है। वचनकारोंने बुद्धि, भाव, क्रिया और ध्यानमें जो निकट संबंध है उसको भली भांति समझाया है। इन सब शक्तियोंका समुचित समन्वय ही सर्वसमन्वय मार्गकी आत्मा है। यही पूर्णयोग है, यही शरणमार्ग है। अब इन्ही बातोंको वचनकारोंके अनुभवपूर्ण शब्दोंमें देखें।

वचन—(३५४) जल, फल, पत्र, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आदिसे पूजा करके थक गए, किंतु जिसकी पूजा करते हैं वह क्या है कैसा है, यह कुछ भी नहीं जानते। कहते हैं न "जनको देखकर जग नाचता है" उस भावसे पूजा करते-करते कुछ भी न पाकर नष्ट हो गए गुहेश्वरा।

टिप्पणी:—मूल वचनमें "जनको देखकर जग नाचता है" इस अर्थमें "जन मरुलो जात्रे मरुलो" यह लोकोक्ति आई है। उसका शब्दशः अर्थ है "व्यक्ति पागल है या दुनिया ही पागल है" अर्थात् एकसे एक पागल हैं इस अर्थ में उस लोकोक्तिका प्रयोग होता है।

(३५५) पेटपर भोजन और पाथेयकी पोटली बांध देनेसे क्या भूख मिटेगी? अंग-अंगपर लिंग बांध देनेसे क्या वह आत्मलिंग होगा? वृक्ष लताओं पर रखा हुआ पत्थर मिला तो क्या वह लिंग बनने वाला है? उससे क्या वह

वृक्ष भक्त बने ? उसपर पत्थर रखने वाला गुरुदेव बना क्या ? ऐसे लोगोंको देख-कर मैं लजा जाता हूं गुहेश्वरा ।

(३५६) बाह्य वस्तुओंको लेकर उनकी पूजा करते-करते लोग सब बाहर ही पड़ गए ! यह रहस्य न जानते हुए लिंगकी पूजा करके पूजा करने वाला हाथ ही लिंगमें फंस गया । दृढ़ मनसे सतत तुम्हारा स्मरण करनेसे शरीर भी उसमें विलीन होगा गुहेश्वरा ।

(३५७) मन एकाग्र न होनेसे कर्म कर-करके मर गए, दे देकर दब गए सत्यानुभव न होनेसे । आत्म गुणसे करने, और देने वालोंसे मिलकर रहता है हमारा कूडलसंगमदेवा ।

विवेचन—शुद्ध भाव, उत्कट भक्ति, सच्चा ज्ञान, एकाग्रचित्त इनके अभावमें शरीरगत कर्म व्यर्थ है । ऐसी स्थितिमें मनुष्यकी सब क्रियाएं यांत्रिक हो जाती हैं, इसलिए वह जड़ है । इसका यह अर्थ नहीं है कि पूजादि कर्म नहीं करने चाहिए । किंतु वचनकारोंने यह जोर देकर कहा है कि निराकार निर्गुण परमात्माका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सगुण रूपकी पूजा-उपासना आदिकी आवश्यकता है किंतु वह केवल शरीरगत कर्म नहीं होना चाहिए ।

वचन—(३५८) ऊंचे चढ़ते समय बिना सीढ़ीके नहीं चढ़ना चाहिए, चिद्रूप जाननेके लिए नित्य नियमसे बिना पूजा अर्चा किए नहीं रहना चाहिए । सचाईके साथ पूजा अर्चा करके असत्यको भूलनेसे वही सत्य है नास्तिनाथा ।

(३५९) भोजन करके मुखमंडलकी सवारी निकाली कहनेवालेकीसी मूर्खता है मेरी । ज्ञातव्य जाननेके लिए प्रतीक दिया तो यह प्रतीक है यह भूलकर "सब जाना" कहने वाले मूर्खोंको देख जांभेश्वरा।

टिप्पणी:—वाङ्मनको अगोचर परमात्माको जाननेके लिए प्रतीक दिया तो उस प्रतीकको सब कुछ मान बैठना मूर्खता नहीं तो और क्या है ? साधकको प्रतीकोंके सहारे ज्ञान, भक्ति, एकाग्रचित्त आदिको बढ़ाकर सिद्धि प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए ।

(३६०) शिव स्मरण करते ही संसार पाश टूटेगा ऐसा कहने वाले विवेक हीनोंकी बात नहीं सुनी जाती । ऐसे क्यों ? क्योंकि ज्योतिके स्मरणसे ही अंधकार मिटता है क्या ? मिष्टान्नके स्मरणसे क्या पेट भरता है ? रंभाके स्मरणसे ही क्या काम विकलता मिटेगी ? यह सब मेरी समझमें नहीं आता । निर्धारसे उभय कुलका अतिक्रमण करके स्वयंसे मिलना चाहिए सद्गुरु सिद्धेश्वर लिंग ।

टिप्पणी:—उभयकुल द्वंद्वभाव ।

(३६१) जैसे आंख बंद करके दर्पणमें देखते हैं वैसे अंगुलियां गिनकर परमात्म

प्रसूति करना आश्चर्य नहीं है क्या ? नाक पकड़कर मोक्ष पानेवालोंको मैं क्या कहूं **कूडलसंगमदेवा** ।

(३६२) भगवानके स्मरणसे ही मुक्ति पानेवाले युक्तिशून्योंकी बातें सुनी नहीं जातीं। क्योंकि भगवान क्या दूर है जो उसका स्मरण किया जाय ? दूर बसने वालोंका स्मरण किया जाता है यह जानकर तुझमें जा छिपा मैं **महालिंग गजेश्वरा** तेरा स्मरण किया ही नहीं ।

टिप्पणी:—वचनकारोंका यह स्पष्ट मत है कि ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म आदिके अभावमें स्मरण, जप, ध्यान, पूजा, आदि हास्यास्पद है । ध्यानके साथ ज्ञानादि हो तो परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है ।

(३६३) सुन्दर वर्ण न हो तो भला सोनेको सुवर्ण कौन कहेगा ? जहाँ कुसुमकलि खिलकर महकती है वहाँ भला सुगंध क्यों नहीं होगी ? अरे क्रिया शुद्धिके साथ ही **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुन लिंगकी** भावशुद्धि होती है ।

(३६४) भूमिकी कृषि शुद्ध होनेके पहले भला खेतीका पौदा कैसे शुद्ध होगा ? मूर्तिके ध्यानसे अर्चना अर्पित करनेसे पहले वह अर्चना शुद्ध नहीं होती ! **ईशान्य मूर्ति मल्लिकार्जुनलिंगको** जाननेके लिए यह निश्चित रूपसे आवश्यक है ।

(३६५) जिसकी क्रिया शुद्ध हुई है उसकी भाव-शुद्धि हुई, जिसकी भाव-शुद्धि हुई है उसकी आत्म-शुद्धि भी हुई । जिसकी आत्म-शुद्धि हुई है उसका अहम् नष्ट हुआ और सामने आकर खड़ा हुआ सत्य ही प्राण लिंगका संबंध है **निष्कलंक मल्लिकार्जुना** ।

(३६६) भक्ति क्या शब्द सुमन माला है ? कर्मोंसे तन मन धन गलानेसे पहले क्या भक्ति मिलती है ? **कूड़लसंगमदेव** प्रसन्न हुआ तो आनन्दसे विनोद करेगा। सहन करनेसे पहले क्या भक्ति मिलेगी ?

(३६७) कर्मरहित भक्त मनुष्य है, कर्मरहित शैव-संन्यासी राक्षस है, क्रिया-रहित प्रसादि यवन और क्रियारहित प्राण लिंगी भवी । क्रियारहित शिव-शरण अज्ञानी है तो क्रिया रहित लिंगैक्य पुनर्जन्मके है **कूडलसंगमदेवा** ।

विवेचन—जैसे अपने सुन्दर वर्णके कारण ही सोनेको सुवर्ण कहते हैं वैसे ही क्रिया शुद्धिके कारण साधक साधु कहलाता है । यदि साधककी क्रियाएँ शुद्ध नहीं होंगी तो उसके भाव शुद्ध नहीं होंगे और वह भक्त भी नहीं बन सकेगा । क्रिया शुद्धिके बिना भाव शुद्धि असंभव है । भाव शुद्धिसे ही आत्म-शुद्धि होगी और आत्मशुद्धिसे सत्य ज्ञान चमकेगा । इसलिए सर्वप्रथम परमात्माके कार्यमें अपना तन मन धन गलाना चाहिए । तभी सच्ची भक्ति स्थिर होगी । कर्मरहित भक्त, ज्ञानी, ध्यानी, कभी पूर्ण मुक्तिके अधिकारी नहीं होंगे । कर्म,

भक्ति, ज्ञान, ध्यानका इतना निकट संबंध है। यह सब जैसे वृक्षकी जड़, तना, डाल, पत्ते, फूल, फल आदिका निकट संबंध है वैसे ही निकट संबंधित हैं।

वचन—(३६८) भक्ति जड़ है, विरक्ति उसका वृक्ष, उसका फल है ज्ञान, पक्व होकर पेड़से टूटा कि परमज्ञान बना, उसको चूसकर खाया कि अंतर्ज्ञान हुआ, उस सुखमें तन्मय हुआ कि दिव्यज्ञान हुआ। वह दिव्यज्ञान आत्मज्ञान हुआ कि पूर्णता हुई। उसे (पूर्णताको) महान् कहनेमें कोई संशय नहीं है **चन्न बसवण्ण प्रियभोग मल्लिकार्जुन लिंग** अप्रमाण होनेसे।

(३६९) साधनाका आश्रय पाने तक अर्चनाकी आवश्यकता है। तथा पुण्यको जानने तक पूजाकी। शरीर रहने तक सुख दुःखका अनुभव अनिवार्य है। डोंगी पर खड़े हो जानेसे ही नदी पार हो जानेकी भाँति क्रिया-शुद्धि होते ही ज्ञानकी प्रतीति होती है। यह सर्वमयी युक्ति है **ईशान्यमूर्ति मल्लिकार्जुन लिंगको** जाननेकी शक्ति है।

(३७०) किये जाने वाले कर्मसे ही अन्य बातें जानी जा सकती हैं। ज्ञानसे श्रद्धाका साथ होना चाहिए। ज्ञानको श्रद्धाका साथ मिलनेसे शून्यका भ्रम दूर होकर हमारे **गुहेश्वर लिंगमें** आत्मपद प्राप्त कर देगा मारैया।

टिप्पणी:—शरीरादिके रहने तक, शरीरका भान रहने तक, कर्म करना आवश्यक है। वह अपरिहार्य है। उस कर्मके द्वारा ही साधकको ज्ञान प्राप्त कर लेना होता है। ज्ञान होनेके बाद भी कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, कर्म करते रहना चाहिए यह वचनकारोंका कहना है।

(३७१) सत्कर्माचरण नहीं हुआ तो ज्ञान होकर भी क्या लाभ? केवल स्मरण करते रहनेसे बिना कर्मके वह ज्ञान कैसे व्यक्त होगा? अंधा मार्गावलोकन नहीं कर सकता और लंगड़ा चल नहीं सकता। बिना एकके साथके मार्ग काटना संभव नहीं। ज्ञानरहित कर्म जड़ है और कर्मरहित ज्ञान भ्रमका नाम है; इसलिए **सोमनाथमें** उन दोनोंकी आवश्यकता है।

(३७२) आग जलाना जानती है चलना नहीं और हवा चलना जानती है जलाना नहीं। आग और हवा मिलकर एक दूसरेके साथ जलाते चलते हैं इसी प्रकार मनुष्यको कर्म और ज्ञानकी आवश्यकता है **रामनाथा**।

(३७३) क्रिया ही सर्वतोपरि है ऐसा कहनेवाले बड़े-बड़े सिद्धान्तियोंकी बात मुझे अच्छी नहीं लगती। क्योंकि जैसे कोई पक्षी अपने दोनों पंखोसे गगन विहार करता है वैसे ही अंतरंगमें सम्यक् ज्ञान और बहिरंगमें सत्कर्म यही ज्ञान संपन्न शिवशरणोंका शरणपथ दिखाकर मेरी रक्षा करो **अखंडेश्वरा**।

(३७४) बिना कर्मके ज्ञान निरर्थक है क्योंकि बिना शरीरके प्राणका क्या आश्रय है? तथा बिना प्राणके शरीरमें चैतन्य कैसे आएगा? अर्थात् बिना कर्मके ज्ञानका आधार नहीं और बिना ज्ञानके कर्मका प्रयोजन नहीं। क्रिया

ग्रौर ज्ञानका सम्यक् प्रकाश ही लिंगका ग्राधार है। इसलिए ज्ञान क्रियोपचार होना चाहिए ऐसा कहता हूं **महालिंगगुरु सिद्धेश्वर प्रभु।**

(३७५) कर्मके ग्रभावमें बुद्धि हीन होती है। बुद्धिके ग्रभावमें ज्ञान हीन हो जाता है। ज्ञानके ग्रभावमें प्रकाशकी सुषमा गयी। **ईशान्यमूर्ति मल्लिका-र्जुनलिंग** ऐसोंसे छिपकर दूर हो जाता है।

(३७६) जब तक ठंड है उष्णताका प्रतिपादन करना चाहिए, जब उष्णता हुई तब शीतका। सुबह जगनेके बाद रातको सोने तक ग्रद्वैत ग्रशक्य है। इसलिए क्रियाको नही भूला। ज्ञान क्या है? "शून्य है" कहकर उसको नहीं छोड़ा। वह तो पृथ्वीके ग्रंतर्गत छिपी ग्राग-सी है। तिलमें छिपा हुग्रा तेल है। **बसवण्णप्रियनागेश्वरलिंगको** जाननेके लिए इनकी प्रसन्नता चाहिए।

टिप्पणी:—यहां ज्ञान ग्रौर क्रियाका समन्वय कहा गया है।

(३७७) ज्ञान प्राप्ति हो जानेपर भी कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। मधुरमें मधुर मिलानेसे क्या माधुर्यमें न्यूनता ग्राएगी? धनमें धन मिलानेसे क्या निर्धनता ग्राएगी? तेरे किये हुए कर्मोंमें शिवपूजाका भाव दृश्य होना चाहिए। वह **कलिदेवके** मिलनका सौंदर्य है।

(३७८) वेदांतके ग्रंथ देखकर ज्ञान लुटानेवाले शैवभक्त क्रियाहीन हुए तो उसमें समरसता नहीं ग्राएगी, क्योंकि उनकी करनी कथनीसे मेल नहीं खाएगी ग्रौर जहां करनी ग्रौर कथनीका मेल नही वहां **चन्नसंगमदेव** खड़ा नहीं रहेगा सिद्धरामैया।

(३७९) बहिरंगमें न दीखने तक ग्रंतरंगमें ज्ञान होनेसे क्या लाभ? बिना देहके प्राणका क्या ग्राधार? बिना दर्पणके भला ग्रपना प्रतिबिंब कैसे दिखाई देगा? साकार निराकार एकोदेव है हमारा **कूडलसंगमदेव।**

विवेचन—केवल बौद्धिक ज्ञान निरर्थक है। वह ठोस नहीं होता। ज्ञानके ग्रनुसार कर्म होना चाहिए। ज्ञान ग्रौर कर्म साधकके लिए दो पंख है। ग्रात्मा-नंदके गगन विहारके लिए इन दोनों पंखोंकी ग्रत्यंत ग्रावश्यकता है। क्रिया ही ज्ञानका ग्राधार है। ज्ञानियोंके लिए भी कर्म करते रहना ग्रावश्यक है। ग्रन्यथा वह ज्ञानहीन हो जाता है। साम्यभावका विकास नहीं होगा। क्रिया ग्रौर ज्ञानसे ग्रंतरबाह्यका एकाकार कर परमात्माका साक्षात्कार करना सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। तत्वतः ज्ञान ग्रौर कर्म एक है। एकका त्याग करके दूसरेको स्वीकार करना ग्रपने ग्रज्ञानका प्रदर्शन करना है।

वचन—(३८०) ग्रंतरंगका ज्ञान ग्रौर बहिरंगका कर्म यह उभय संपुट एक होनेसे शरणोंका तन-मालिन्य ग्रौर मन-मालिन्य मिटता है। **कूडल चन्न संगैयमें** हमारे सब इंद्रिय संग हुए।

(३८१) क्रिया ही ज्ञान हैं और ज्ञान ही कर्म है। ज्ञानका अर्थ है जानना और कर्मका अर्थ है जैसा जाना वैसा करना। परस्त्री संग नहीं करना चाहिए यह ज्ञान हुआ और तदनुसार आचरण करना ही कर्म। बिना आचरणके ज्ञान अज्ञान हो जाता है **कूडलचन्नसंगमदेवा**।

(३८२) अंतरंगके ज्ञानके लिए आचार ही शरीर है, आचरणका शरीर न हो तो ज्ञानका कोई आश्रय नहीं है। ज्ञानको आचरणमें समाविष्ट किये हुए लिंगैक्यको क्रियाबद्ध कहना पंच महापातक करनेके समान है। यही भावपूर्ण भक्ति भजन भी है। तुम्हारे ज्ञानका सांचा बनकर, आचारका सेवक बनकर **गुहेश्वर** तुम्हारे अधीन हुए हैं अब अपनी सुख समाधि दिखाओ सिद्धरामैया।

(३८३) कस कच्चे फलमें रहता है फल पकनेपर वह नहीं दिखाई देता। शारीरिक कार्य करके जीव ज्ञान प्राप्त करनेके अनंतर त्रिविध भाव शुद्ध हुए बिना **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुनलिंगको** नहीं देखा।

(३८४) बीजमें स्थित वृक्षका फल कभी चखा जा सकता है? वर्षाके बूंदमें स्थित पानीदार मोतियोंकी मुक्तामाला क्या पहनी जा सकती है? खोजते रहनेपर भी दूधमें घी मिलेगा? ईखमें जो गुड़ है वह ईखमें दिखाई देगा? अपनेमें छिपा हुआ शिवतत्व केवल स्मरण करनेमात्रसे प्राप्त होगा? भावनासे, ज्ञानसे, अंतरबाह्य मंथनसे, प्रयोगोंसे प्रसन्न कर लेना पड़ता है। उस सुखानुभवमें प्रसन्न मनसे विचरण करना कुशल शिवशरणोंके अतिरिक्त और कौन जानता है **महाघनदोड्डदेशिकार्य गुरुप्रभु**।

(३८५) शरीरसे कर्म, भावसे लिंग देखकर, लिंगसे स्वानुभव करनेपर अंगके संगसे परे गया **कंदर्पलिंग** जाननेसे।

टिप्पणी:—अंगके संगसे परे जाना शरीर, गुणके परे जाकर आत्मगुणमें स्थित होना।

साधकके लिये आवश्यक गुण-शील कर्म

विवेचन—साधकको साधनाका प्रारंभ करनेके प्रथम अपना सर्वस्व परमात्माके चरणोंमें अर्पण करके साधनाका प्रारंभ करना चाहिए। अपनी सब शक्तियोंकी जैसे क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति, बुद्धिशक्ति तथा ध्यानशक्ति आदि-की यत्किंचित् भी अवहेलना न करते हुए परमात्माके चरणोंमें अर्पण करके साधनाका प्रारंभ करना चाहिए। यही वचनकारोंने कहा है।

इस प्रकारका जीवनयापन करते समय अथवा इस साधना पथपर चलते समय साधकके लिए अनेक प्रकारके गुण-शील और कर्मोंकी आवश्यकता होती है। इस विषयमें वचनकारोंने जो मार्गदर्शन किया है उस ओर देखें।

साधकके लिए आवश्यक गुणोंमें विशेषरूपसे श्रद्धा, निष्ठा, चित्तशुद्धि, गुरुकारुण्य, निरहंकारिता, सदाचार, सत्य, अहिंसा आदि हैं। साधकको अपने समाजमें कैसे चलना चाहिए? यह अत्यंत महत्त्वका है। क्योंकि उसका आचरण उसे इस सिद्धिकी ओर ले जानेवाला हो जाना चाहिए।

साधकके अंतरंगके गुण और बाह्य आचारमें इतना मेल हो जाना चाहिए, कि वह दोनों उसको उच्च स्थितिमें ले जा सकें। सच पूछा जाय तो अंतरंग और बहिरंग एक ही व्यक्तिके व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप हैं। गुणोंका अर्थ अव्यक्त कर्म-शक्ति है और कर्मका अर्थ है व्यक्त गुण। साधकको इन दोनोंको परमात्माके चरणोंमें अर्पण करके अपनी साधनाका प्रारंभ करना होता है। नहीं तो वह मिथ्याचार कहलाएगा।

अंतःशुद्धि सब साधनोंका आधार है। बीज कितना ही अच्छा क्यों न हो भूमि अच्छी न हो तो फसल अच्छी नहीं होगी।

वचन—(३८६) जबतक मन शुद्ध नहीं है तन नंगा रखकर क्या होगा? जबतक भाव शुद्ध नहीं है सर मुंडवानेसे क्या लाभ? अपने वासना-विकारोंको जलानेके पहले विभूति रमानेसे क्या होगा? इस आशयका वेष और उसकी भाषाको **संगबसवण्णा गुहेश्वरकी** सौगंध है यूं कहता है।

(३८७) जिसका अंतरंग शुद्ध नहीं है उसको क्षुद्रता नहीं छोड़ती। जिनका अंतःकरण शुद्ध हो उनको पके केलेकी तरह सगुण दर्शन होता है। इसलिए अंतरंग शुद्ध न होनेवालोंका संग नहीं करना चाहिए **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरा।**

(३८८) एक ओरसे थोड़ी-थोड़ी शुद्धि होने लगी है। अभी मन पूरा शुद्ध

नहीं हुआ है। भगवानको स्पर्श करके पूजा करना चाहूं तो मेरे हाथ शुद्ध नहीं है। मानसिक पूजा करना चाहूं तो मन शुद्ध नहीं है। भाव शुद्ध होते ही **कुडलसंगमदेव** यहां आकर गोदमें उठा लेगा।

(३८९) अन्दरसे न धोये जानेसे बाहरसे धोकर पीते हैं। पादोदक प्रसाद आदिका रहस्य न समझकर साथ लाये हुए काड़ोंमें डूबते रहे हैं। **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी:—शौचाशौच, आंखोंको दीखनेवाली बाह्य-शुद्धि आदिसे अंत: शुद्धि, अर्थात् मानसिक निर्मलता ही श्रेष्ठ है। परमार्थ साधनामें वही अधिक आवश्यक है।

साधकके लिये श्रद्धाकी अत्यंत आवश्यकता होती है। श्रद्धाका अर्थ अपने ध्येयमें अचल विश्वास और उसको प्राप्त करके रहूँगा यह आत्मविश्वास। साधकमें इस श्रद्धाका उत्पन्न होना अत्यत महत्वका है।

वचन (३९०) श्रद्धासे पुकारा तो "ओ !" कहेगा वह शिवजी किन्तु बिना श्रद्धाके पुकारा तो ओ कहेगा क्या ? जो श्रद्धा नहीं जानते, प्रेम नहीं जानते वह दांभिक भक्त हैं। बिना श्रद्धाके, बिना प्रेमके वैसे ही पुकारोगे तो वह मौन ही रहता है **कूडलसंगमदेवा**।

(३९१) किसीने श्रद्धा की, प्रेम किया, अपना सिर उतार दिया, तो शरीर हिला-हिलाकर देखेगा तू, मन हिला-हिलाकर देखेगा, पास जो कुछ है वह सब हिला-हिलाकर देखेगा; इन सब बातोंसे नहीं डरा तो हमारा **कूडलसंगमदेव** भक्ति लंपट है।

टिप्पणी:—परमात्मा ही सर्वस्व है ऐसा विश्वास चाहिये। उसपर जो विश्वास है उसमें किसी भी प्रसंगसे न्यूनता नहीं आनी चाहिये। तभी इष्ट साध्य होगा। श्रद्धा परमार्थ पथका पाथेय है और जितनो श्रद्धाकी आवश्यकता है उतनी ही निष्ठाकी आवश्यकता है। निष्ठाका अर्थ है अपने कर्ममें स्थिरता। अपने साधना पथके विषयमें दृढ़ता। हाथमें लिए कामको दृढ़ताके साथ, लगनके साथ आगे बढ़ानेकी शक्तिको निष्ठा कहते हैं। प्रत्येक काम लगनसे करते जाना चाहिये।

(३९२) निष्ठायुक्त भक्त बीच जंगलमें पड़ा तो क्या हुआ ? वही शहर-सा लगेगा। और निष्ठारहित भक्त बीच शहरमें हो तो भी उसके लिए वह बिना ओर छोरका जंगल होगा **रामनाथा**।

(३९३) भक्ति करनेवालोंमें शक्ति होनी चाहिये। पकड़कर नहीं छोडूंगा यह भाव होना चाहिये। पकड़े हुए व्रत नियमोंको जकड़कर रखनेका बल होना चाहिये। अपने **अंखडेश्वर** लिंगमें मिलकर अलग नहीं होऊंगा ऐसी निष्ठा होनी

चाहिये।

टिप्पणी:—अपनी श्रद्धाके अनुसार स्वीकार किए गए व्रत नियमादि अत्यंत महत्वके हैं। क्योंकि उसीसे हमारी श्रद्धा दृढ़ होती है किसी नियमका अखंड रुपसे सतत पालन ही व्रत है।

(३९४) व्रत नामका एक दिव्य रत्न है। व्रत नामका एक तेजस्वी मोती है, व्रत जीवनका प्रकाश है, व्रत जीवनका शांति समाधान है। व्रतभंग **उरिलिंग-पेद्दिप्रियविश्वेश्वरको** स्वीकार नहीं है।

(३९५) मौत कभी नहीं छूटती यह जानकर भी व्रतभंगसे उसी दिन मरनेसे क्या लाभ ? निंदापात्र बननेसे पहले शरीर छोड़कर चित्तमें आत्मलिंग प्रतिष्ठित कर **मनक्केमनोहर संश्वेश्वरलिंगका** रूप दो।

टिप्पणी:—वचनकारोंका स्पष्ट कथन है कि व्रतभंगसे मृत्यु अच्छी है।

विवेचन—साधकके लिए पथप्रदर्शक कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमें वचनकारोंका कहना है कि स्वानुभव और सद्‌भक्तोंका संग। दीक्षा गुरु कोई भी हो अंतरंगका अनुभव ही सच्चा गुरु है। अपने आपको जाननेसे वह ज्ञान ही गुरु है।

वचन—(३९६) कथनी करनी रहित गुरुके पास उपदेश लेने गये, तो वह बोले ही नहीं, (मैं) बोला तो (उन्होंने) सुना नहीं। अनंत कार्यका प्रारंभ कैसे हो भाई ! गूंगोंकी भेंट-सी है। मेरे अंदर तो ज्ञानकी सुगंध और बाहर मुग्ध अवस्था यह कैसे ? हाथीका मदोत्साह अपने आप रहनेसे भिन्न होगा क्या **गुहेश्वरा**।

टिप्पणी:—ज्ञान ज्योति आत्मगत ही होती है। अंदर ज्ञान बाहर मौन।

(३९७) शिववचन, गुरुवचन, आप्तवचन, सुनकर जीओ, उसे सुनोगे तो कृतार्थ हो जाओगे। तन, मन गलाकर, धुलाकर, भाव-भक्तिसे शरणोंका अनुभाव पाना ही मुक्ति है। ऐसा न करके व्याकुल मनके गीत ही मन लगाकर सुनते रहोगे तो भला कोई उपदेश कैसे मिलेगा ? **महालिंग कल्लेश्वरा (गुरुमुख-पराङ्मुखोंका)** संसार पाश नहीं टूटेगा।

टिप्पणी:—शिववचन = वेदवाणी।

(३ ८) बिना संगके न आग पैदा होगी, न बीज पैदा होगा। बिना संगके न यह देह पैदा होगी, न सुख ही पैदा होगा। **चन्नमल्लिकार्जुनदेव** तुम्हारे शरणों-का अनुभव संगसे ही प्राप्त है, उसीसे मैं परमसुखी होकर जी रही हूं।

टिप्पणी:—संग = सत्संग।

(३९९) अरे तुमसे क्या मैं आयु मागूंगा ? मैं क्या इस संसारसे डरता हूं ? तुमसे क्या धनकी याचना करता हूं ? वह तो परस्त्रीगमनका पाप-सा है।

और क्या मैं तुमसे मुक्ति मांगता हूं ? यह तो तुम्हारा पद है। **सकलेश्वरा** ! मैं नहीं चाहता। मैं नहीं चाहता वह सब ! मुझे तुम्हारे शरणोंका संग मिला, वह बहुत है।

विवेचन—अनुभव करनी कथनी रहित गुरु है। वह मुग्धरूपसे हमें सब सिखाता है। साधकको वही सन्मार्ग पर चलाता है। वही काम सत्संग करता है।

अहंकार हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। उस शत्रुको अंदर रखकर मुक्तिकी आशा करना व्यर्थ है। देखनेमें हमारा शरीर समाजके अन्य लोगोसे भिन्न सा लगता है किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। वह समाजसे तथा विश्वके अन्य अनेक तत्वोंसे ताने-बानेकी भांति बुना हुआ है। मैं विश्वसे अलग हूं यह भाव ही अहंकार है। इस अलगावसे स्वार्थ जनमता है। वस्तुतः सब परमात्माका है, परमात्ममय है।

वचन—(४००) मैं तू यह अहंकार जहां आया कपट कुटिल कुहक तंत्रकी हवा बहने लगी; वह हवा आंधी बनी, आंधी चली कि ज्ञानज्योति बुझी, ज्ञान-ज्योति बुझते ही "मैं जानता हूं" कहनेवाले सब तमांधकारमें, राह भूलकर, मर्यादा खोकर निर्नाम हुए हैं **गुहेश्वरा**।

(४०१) भक्ति बिना मेरी गति बिना तिलहनके कोल्हू खींचनेवाले बैलोंकी-सी हो गयी, पानीमें भीगे नमककी-सी हो गयी। **कूडलसंगमदेवा** "मैंने किया" रूपी ज्वालाओंने मुझे जलाया रे ! अब भी क्या कम हुआ प्रभु ?

(४०२) तुम कहते हो मद्य मांसको नहीं छूते हैं हम। तो क्या अष्टमद मद्य नहीं है ? संसारका संग मांस नहीं है ? जिसने इस उभय अवनतियोंका अतिक्रमण किया है उन्हींको **गुहेश्वरलिंगमें** लिंगैक्य मिलेगा।

टिप्पणी:—अन्न, अर्थ, यौवन, स्त्री, विद्या, कुल, रूप और उद्योग इन आठ प्रकारके अभिमानको अष्टमद कहा गया है। इस अष्टमदकी भांति आशा, आकांक्षा आदिको भी अत्यंत त्याज्य माना गया है। आशा ही सब प्रकारके दोषों-का मूल है।

(४०३) अरे मन ! क्षुद्र आशा व्यर्थ है वह नहीं करना। जंगलमें पड़ी चांदनीकी संपत्ति सच्ची नहीं है। कभी न विकृत होनेवाला सर्वोच्च पद पानेके लिए **कूडलसंगमदेवकी** पूजा कर।

(४०४) जैसे मकड़ी अपने स्नेहसे घर बांधकर अपने धागोंसे अपनेको ही कसकर मरती है वैसे ही मैं जो मनमें आया सो चाहते हुए उसी चाहमें बंधकर तड़प रही हूं न ! मुझे मनकी दुराशासे मुक्त करते हुए अपनी राह दिखाओ रे **मल्लिकार्जुना**।

(४०५) जिसमें आशा होती है वह कभी स्वतंत्र नहीं होता, मनकी आशाका अंतिम छोर जाननेवाला कैलाशके उस पार केवल तुम्हारा ही होकर रहेगा **अंबिगर चौडैया।**

(४०६) अरण्यमें घर बनाकर हिंसक जंतुओंसे डरने लगे तो कैसे चलेगा? समुद्रके किनारे घर बनाकर समुद्रकी लहरोंसे डरने लगे तो भला कैसे चलेगा? हाटमें घर बनाकर शोरगुलसे डरने लगे तो कैसे चलेगा? इस संसारमें जन्म लेनेपर निंदा स्तुतिसे डरकर कैसे चलेगा? संसारमें जन्म लेनेपर, जो आता है वह सब, बिना क्रोधित हुए, दुखित हुए शांतभावसे सब सहन करना चाहिए **चन्नमल्लिकार्जुना।**

(४०७) अपनेसे अप्रसन्न होनेवालोंसे भला क्यों अप्रसन्न रहें? क्या उन्हें क्या हमें; तनका क्रोध अपने बड़प्पनका घातक है। मनका क्रोध अपने ज्ञानका घातक है। घरकी आग अपना घर जलाना छोड़कर पड़ोसका घर जलाएगी **कूडलसंगमदेवा** ?

(४०८) अज्ञानीके लिए छोटा बड़ा है तो ज्ञानीके लिए भी छोटा बड़ा है क्या? मृत्युको भय है, तो अजन्माको क्या भय? **कपिलसिद्ध-मल्लिनाथमें** अक्कमहादेवीको स्थित देखकर उन्हें शरण शरण कहकर मैं कृतार्थ हुआ **चन्नबसवण्णा।**

(४०९) चंदनको काटकर, सुखाकर, तराशकर, रगड़कर, जला डालनेसे भी क्या वह महकना छोड़ देगा? सोनेको लाख ठोक-पीटकर जलाकर, गला देनेसे क्या वह अपना सु-वर्ण छोड़ेगा? गन्नेको काट-काटकर, कोल्हूमें पेरकर उबाल देनेसे क्या वह अपनी मिठास छोड़ देगा? पीछे किये हुए सारे मेरे हीन कर्म लाकर मेरे सामने रखनेसे भला मेरा क्या जाएगा और तुम्हें क्या मिलेगा? मेरे पिता **चन्नमल्लिकार्जुनदेवा** तेरे मारनेपर भी शरण आई हूं। शरण आने-वालीको न रोक।

(४१०) किसीने अविचारसे सिरपर पत्थर पटका, किसीने या सिर-पर गंधाक्षत रखकर पूजाकी, तो क्या हुआ? किसीने पूजाकी तो क्या और प्रहार किया तो क्या? मन चंचल न हो, जैसेका वैसा रहे ऐसा तुम्हारा वह समता गुण मुझपें आएगा क्या **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुना।**

टिप्पणी:—ऊपरके वचनोंमें श्रद्धा, निष्ठा व्रत, अहंकार, क्रोध आदि कहकर सहनशीलताके विषयमें कहा गया है। अब आगे निश्चल मन, उदारता, स्त्री-पुरुष संबंध, सदाचारका महत्त्व आदिके वचन हैं।

(४११) न तीर्थयात्राकी परिक्रमा करके आया हूं, न गंगामें लाख बार डबकी लगाकर आया हूं और उस कोनेके मेरुपर्वतके शिखरको स्पर्श कर आया

हूं। नित्य स्मरण करनेवाले मनको, समय कुसमय यहां वहां बहनेवाले मनको, चित्तमें स्थिर करनेकी क्रिया जाननेसे सर्वत्र केवल प्रकाश ही प्रकाश है गुहेश्वरा।

(४१२) दारिद्रय ? कैसा दारिद्रय ? तनका या मनका ? जंगल चाहे जितना बड़ा क्यों न हो कुल्हाड़ीकी नोकमें उस जंगलको काट डालनेकी शक्ति नहीं है ? कुल्हाड़ीकी नोक अरण्यसे बड़ी है ? सच्चे शिवभक्तोंको दारिद्रय नहीं है। सत्साग्रहियोंको दुष्कर्म नहीं है। मारैयप्रिय अमरेश्वरलिंग होने तक किसीकी परवाह नहीं है।

(४१३) घर देखनेसे अकिंचन है और मन देखा तो संपन्न। धन देखा तो गरीब और मन देखा तो संपन्न। कूडलसंगमदेव शरण करुणा रहित शूर सिपाही है, हमें किसीको क्षमा नहीं करना चाहिए।

(४१४) अपनेको महान् माननेवाले महात्मा हैं इस जगतमें, इस बड़प्पनसे क्या होगा ? बड़ा छोटा यह शब्द मिटने पर ही गुहेश्वरलिंगके शरण हैं।

टिप्पणी:—कन्नड़ व्याकरणमें शब्दोंका कोई लिंग नहीं होता ! मानव पुरुष पुल्लिगी है, और मानव स्त्री स्त्रीलिंगी, अन्य सारा विश्व नपुंसकलिंगी। किन्तु हिन्दीमें शब्दोंका ही लिंग होता है ! शरण शब्द भक्त इस अर्थमें पुल्लिगी है तथा भगवान्‌की शरण जाना इस अर्थमें स्त्रीलिंगी। इसलिए मूल वचनके भाव—अनेक भाव—व्यक्त करना असंभव हो जाता है। "बड़ा-छोटा मिटते ही गुहेश्वरलिंगकी शरण है" यह वाक्य दूसरा भाव देता और, "बड़ा छोटा मिटतेही गुहेश्वर लिंगका शरण है। यह वाक्य दूसरा भाव देता है। किन्तु कन्नड़ वाक्य यह दोनों भाव देता है।

(४१५) स्त्रियोंकी आत्मामें क्या स्तन होते हैं ? ब्राह्मणकी आत्माको क्या यज्ञोपवीत होता है ? अंत्यजोंकी आत्माने क्या झाड़ पकड़ रखी है ? तूने जो संबंध बांध रखा हैं वह यह जड़ मूढ़ लोग क्या जानें रामनाथा ?

टिप्पणी:—वचनकार मानव मानवमें कोई भेद भाव नहीं रखते थे। उनके लिए मानव मात्र एक थे। यदि कोई भेद-भाव है ही तो साधक असाधकका था। उन्होंने सदैव यह कहा है तत्वतः यह सब विश्व, विश्वके मानव, तथा अन्य सब कुछ परमात्माका अंश है। यह भाव साधकको साम्य दृष्टि देकर नम्र बनाता है। अब सदाचार विषयक वचन हैं।

(४१६) आचरण रहित गुरु भूत है, आचार रहित लिंग शिलाखंड है, आचार रहित शैव योगी सामान्य मानव है और आचार रहित पादोदक पानी ! आचार रहित भक्त दुष्कर्मी है, क्योंकि शिव पद पर चढ़नेके लिए सीढ़ी ही साधन सोपान है। शिव पद पानेके लिए श्री गुरुके कहे सदाचार ही सोपान है।

गुरु उपदेशकी अवहेलना कर मनसोक्त (जैसे मनने कहा वैसा) आचरण करने वालोंका मुंह मत दिखाओ **महालिंगगुरु सिद्धेश्वर प्रभु।**

(४१७) अरे! इहपर दोनोंका अतिक्रमण करके, दोनोंको जीते हुए भक्त शिवयोगीको भी सदाचार पाठ (आवश्यक) है। सदाचार न जाननेवाला पापी सूअरसे भी हीन है...... **कलिदेवरदेवा।**

(४१८) सदाचार रहितको, सदभक्ति रहितको मैं नहीं चाहता उनकी आराधना ही एक दंड है। नित्यका प्रयश्चित किस कामका **कूडलसंगम देवा।**

(४१९) करोड़ों बार अद्वैत कह सकते हैं किन्तु क्या एक क्षणभी सद-भक्तिका आचरण कर सकते हैं? कहने जैसे करने और रहने वाले महात्माको चरण पकड़कर बचाओ कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन।

टिप्पणी:—वचनकारोंके अनुसार करणी और कथनी एक होनी चाहिए। वस्तु संगति और शब्दका एक रूप होता चाहिए। यही सत्य धर्म है। शरण-मार्गमें सत्य, अहिंसा आदिका अत्यन्त महत्त्व है।

(४२०) देव लोक, मृत्यु लोक, ऐसा भेद नहीं है। सत्य बोलनाही देवलोक है और असत्य बोलना ही मृत्युलोक है। सदाचारही स्वर्गलोक है और अनाचार ही नरक है। तुम ही इसके प्रमाण हो **कूडलसंगमदेवा।**

(४२१) सच बोलना शील है, सत्य चलना शील है, सज्जनोंके लिए सदा-चारसे चलकरके सत्य जानना ही शील है **महालिंगगुरु सिद्धेश्वर प्रभु।**

(४२२) सच बोलना, उसके अनुसार चलना; झूठ बोलकर उसके अनुसार चलनेवाले प्रपंचियोंको वह **कूडलसंगमदेव** नहीं चाहता।

(४२३) सच न बोलनेवालों से हजारोंमें एक बार न बोलना ही अच्छा है। लाखोंमें एक बार न बोलना ही अच्छा है, उन लोगोंका स्वामित्व जल जाए! काल कवल हो जाये **गुहेश्वरा** तुम्हारे शरणोंको ऐसे लोगोंके सामने मुंह नहीं खोलना चाहिए।

(४२४) दया रहित धर्म कौनसा है रे! प्रत्येक प्राणिमात्रके लिए दयाकी आवश्यकता हैं। दया ही धर्मका मूल है रे **कूडलसंगमदेवा।**

(४२५) मैं क्यों तलवार पकडुं हाथमें? किसको काटकर क्या जानूंगा मैं? सारा संसार तू है **रामनाथा।**

(४२६) सब जान लेनेके बाद मारने मरनेमें क्या अंतर है? सब जाने हुए शरणके लिए हार जीतके लिए लड़नेकी बात कैसी? सब पुराण के पढ़ लेनेके अनंतर किसी जीवको मारने काटनेमें क्या महत्त्व है? श्रुति सुनकर, स्मृतिका अंगीकार करके सर्वहित करनेमें क्या गति होगी? आत्मामें सर्वभूत हितरत होनेपर उसीको यह सब वस्तु स्वयं अतीत **दसेश्वरलिंग** है।

विवेचन—प्रत्येक धर्ममें एक न एक प्रकारसे अहिंसा तत्त्वका उपदेश दिया है। भगवान सर्वव्यापी है। अर्थात् किसीको मारनेसे अथवा अपमानित करनेसे भगवानपर ही उसका आघात होगा ऐसा वचनकारोंने कहा है। किसी भी धर्म शास्त्रमें हिंसाको उचित नहीं माना। वही बात अस्तेयकी है। जो वस्तु अपनी नहीं है वह अपने लिए लेना, अथवा अपनी होने पर भी आवश्यकतासे अधिक उसका संग्रह करना भी चोरी है। केवल स्वार्थ बुद्धिसे अत्यंत अल्प वस्तुको ग्रहण करना भी चोरी कहलाएगा अर्थात् दूसरोंकी वस्तु न लेना और अपनी आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना और स्वार्थ बुद्धिसे किसी वस्तुका स्वीकार न करना अस्तेय व्रत है।

वचन—(४२७) पराया धन त्याग दो मेरे भाई! पराये धनको पास रखकर किया हुआ त्याग त्याग नहीं भोग है। पराये धनको पास रखकर किया हुआ स्नान व्यर्थ है। चोरी छोड़कर त्यागमें डूबा तो हमारा **कूडलसंगमदेव** प्रसन्न होगा।

(४२८) रास्ते पर पड़े हुए स्वर्ण वस्त्रालंकारको भी मैंने छुआ, तो तेरी सौगंध है स्वामी! तुम्हारे शरणोंकी सौगंध है। क्योंकि मैं तुम्हारे वचनमें हूँ! ऐसे न करके, मैंने चंचल मनसे, आशासे, पराए धनको स्पर्श भी किया, उसको देखा भी तो तू नरकमें पड़ जायगा। इसलिए तू मुझे छोड़कर, जाएगा **शंभु-जक्केश्वरा**।

टिप्पणी:—सत्य, अहिंसा, अस्तेयकी भांति ब्रह्मचर्य भी एक महत्त्वपूर्ण व्रत है। सब प्रकारसे स्त्री सहवासको छोड़ देना अथवा केवल अपनी धर्मपत्नीसे ही धर्म सम्मत सहवास रखना ब्रह्मचर्य है। इस विषयमें वचनकारोंके वचन देखें।

(४२९) जहां देखा वहां मन दिया तो तेरी सौगंध! तेरे भक्तोंकी सौगंध। परस्त्रीको महादेवीकी तरह देखता हूं **कूडलसंगमदेवा**।

(४३०) स्त्रीको देखकर कांतिहीन न हो मेरे मन। उद्दंडतासे व्यवहार करनेवाले निर्लज्जोंको नरकमें रखे बिना क्या हमारा **सोड्डल देवराज** चुप रहेगा।

(४३१) अन्नका एक कण भी देखा तो कौवे अपनी जातिवालोंको बुलाते हैं न? एक घूंट पानी देखा तो मुर्गा अपने सगे संबंधियोंको बुलाता है। शिव-भक्त होकर भक्ति-पक्ष न हो तो कौवे मुर्गेसे भी हीनतर है **कूडलसंगमदेव**।

(४३२) थोड़ा-सा मिष्ठान्न चींटियोंके बिलके दरवाजे पर डालना क्या शिवाचार है? वह तो पत्थरके नागके सामने दूध रख करके जीवित नाग देखते ही मारो-काटो कहनेकासा है। जब खानेवाला परमात्मा आता है भागो-भागो कहते हैं और न खानेवाले पत्थरके परमात्माके सामने छप्पन ढंगके भोज्य वस्तु

रख कर खा-खा कहते हैं। इस प्रकारके दंभका विचार न रखकर लिंगको देना चाहिए कहता है **हमारा अंबिगर चौडय** ।

टिप्पणी:—परमात्मा सर्वव्यापी हैं। मनुष्यको परमात्माको संतुष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए। परमात्माके निर्जीव प्रतीकोंको नैवेद्य दिखाकर सजीव प्रतीकोंको भूखों मारना धर्म नहीं दंभ है। यह वचनकारोंका स्पष्ट मंतव्य है। वचनकारोंका यह भी कहना है कि जो दान देना वह कायकमें से देना चाहिए।

(४३३) सत्व शुद्ध कायकसे प्राप्त आय से चित्त चंचल नहीं होना चाहिए। नियमित कायक नियत समय पर मिलना चाहिए। नियमित कायककी आयको छोड़कर स्वार्थवश धनको स्पर्श भी किया तो सब सेवा व्यर्थ होगी। स्वार्थः तू अपनी आशके पाशमें स्वयं जा, मुझे अपने जंगम प्रसादमें ही **चंदेश्वरलिंग** प्राण हैं।

(४३४) कुलस्वामी तेरे बिना चलाए मैं एक कदम भी नहीं चल सकता। मेरे अपने पैर हैं ही नहीं। तेरे और मेरे कदम एक हो जानेकी बात से दुनियाके लोग क्या जानें **रामनाथा** ?

(४३५) तुमसे मैं हुआ, मुझे देह इंद्रिय मन प्राण आदि मिले। इन देह, मन, इंद्रिय, प्राणादिका कर्त्ता तू ही है। यह "मैं" बीचका भ्रम मात्र है। तुम्हारा विनोद तू ही जानता है **देवराज सोड्डला** ।

टिप्पणी:—यह सर्वार्पण किए हुए साधककी भावना है। वह भगवत्प्रेरणा से इस लीलामय विश्वमें विचरण करता है तथा परमात्मानंदका भागी होता है।

विधि-निषेध

विवेचन—अब तक परमात्मा, विश्व, मुक्ति, उसकी साधना पद्धति, साधक के जीवनमें आवश्यक गुण-शील-कर्म आदिके विषयमें वचनकारोंने जो महत्वपूर्ण वचन कहे हैं उसको देखा, अब साधकके लिए करने और न करनेके, अथवा स्वीकार करने और अस्वीकार करनेके कुछ विषयों पर वचनकारोंका क्या मत है इसका विचार करें। "कोई काम करो" ऐसा कहना विधि है और "न करो" ऐसा कहना निषेध। किसी भी साधना मार्गका विचार क्यों न करें वह विधि निषेधात्मक ही दिखाई देगा। अब तक इस पुस्तकमें जो लिखा गया उसमें भी अनेक प्रकारके विधि-निषेध आ चुके हैं। संभवतः इस अध्यायमें उनकी पुनरुक्ति भी हो सकती है। फिर भी विचार करने पर विधि-निषेधात्मक वचनोंका अलग स्वतंत्र अध्याय देना आवश्यक लगा।

वचन—(४३६) पराई संपत्तिको न छूना ही व्रत है। परस्त्रीसे संबंध न रखना ही शील है। किसी जीवको न मारना ही नियम है। तथ्योंको गलत न समझना ही सत्य नियम है। यह **ईशान्यमूर्तिमल्लिकार्जुनलिंगको** संदेह न होने-वाला व्रत है।

(४३७) जो सामने आया उसको स्वीकार करना ही नियम है। वंचना न करना ही नियम है। प्रारंभ करके न छोड़ना ही नियम है। झूठ न बोलना तथा वचन भंग न करना ही नियम है। **कूडलसंगमदेवकी** शरण जाने पर उसको सर्वस्व समर्पण करना ही नियम है।

(४३८) शील शील कहकर अभिमानसे बोलते हो शील क्या है यह पता भी है? सुनो! जो है उसको निर्वचनासे व्यक्त करना ही शील है। जो नहीं है उसको न दिखाना ही शील है। पराये धन और पराई स्त्रीको न छूना ही शील है। अन्य देवता तथा कालके लिए न रोना ही शील है। हमारे **कूडल-संगमदेवकी** शरण गए हुओंका समर्पण करना ही आत्यंतिक शील है।

(४३९) शील शील कहकर बोलने वाले सब हैं किंतु शीलका रहस्य जानने वाला कोई नहीं। ताल, कुआं, नदी, नाला आदिके पानीका उपयोग नहीं किया तो क्या शील हुआ? कलसे पर कपड़ा बांधकर नैवेद्यका पानी छानकर लाना क्या शील हुआ? पके फल, कंद मूल आदि न खाना क्या शील हुआ? नमक, तेल, दूध, घी, हींग, मिर्च, सुपारी आदि न खाना क्या शील है? नहीं, क्योंकि ये सब बाह्य व्यवहार है। अंतरंगके शत्रु षड्वैरियोंको नहीं छोड़ा। माया मोह

की फसल काटकर खाना नहीं छोड़ा । अष्टमद नामका मसाला, मिर्च, सुपारी नहीं छोड़ा । सब इंद्रियोंका इंद्रियजन्य सुख सुफल खाना नहीं छोड़ा । मन नामके कलसे पर मंत्र रूपी कपड़ा नहीं बांधा । चित्त रूपी मटकेमें चिदमृत रूपी पानी भरकर चिन्मय लिंगका अभिषेक नहीं किया । अंतरंगके विचार जान लेनेके पहले अर्थहीन संकल्पोंसे बाह्य-पदार्थोंको छोड़ करके मुक्ति पानेकी बातें करने वाले युक्ति हीनोंका द्वंद्व चक्र नहीं टलेगा । इस प्रकारके अज्ञानियोंकी हालत बलिमकके अंदर बसे सांपको मारनेके लिए बलिमकपर लकड़ी पीटनेका-सा है **अखंडेश्वरा** ।

टिप्पणी:—वचनकारोंने बाह्य शुद्धि, आचार, बाह्य शौच अशौच आदिको कोई खास महत्त्व नहीं दिया है । उन्होंने सत्य, अहिंसादि यम-नियमके विषयमें बार-बार जोर देकर कहा है । साथ-साथ उन्होंने जहां तहां पाये जाने वाले देवी-देवताओंकी पूजाका भी विरोध किया है ।

(४४०) विश्वासी पत्नीका एक ही पति होता है रे ! निष्ठावान भक्तोंका एक ही भगवान होता है । नहीं, नहीं, अन्य देवी देवताओंका संग अच्छा नहीं है । उनका साथ व्यभिचार है ; **कूडलसंगमदेव** यह देखेगा तो नाक काटेगा ।

(४४१) पत्थर लिंग नहीं है । वह छेनीकी नोकसे फूटा है । पेड़ भगवान नहीं वह आगमें जलता है । मिट्टी भगवान नहीं वह पानीमें गलती है । इन सबको जाननेवाला चित्त भगवान नहीं है । वह इंद्रियोंके समूहमें फंसकर स्वत्व-हीन हो गया है । इन सबको अलग करनेपर जो बचा उसके अंदर जाकर इन सबके आधारभूत, व्रतमें दूसरा कुछ न मिलाकर, जहां जो मिला उसमेसे न लेते हुए, विश्वाससे, निष्ठा और श्रद्धासे, दृढ़ रहकर, बिना उस लिंगके, और कुछ न जानते हुए **सर्वांगलिंगीवीरवीरेश्वरकी** शरण जा ।

टिप्पणी:—परमात्मा शुद्ध चैतन्यरूप है । वचनकारोंने उस चैतन्यरूप परमात्माकी सात्विक पूजाका विधान बताया है । सब प्रकारकी तामसिक पूजाका विरोध किया है ।

(४४२) ढेर-ढेर पत्रपुष्प लाकर लिंगकी चाहे जितनी पूजाकी तो क्या ? तन मन धन समर्पण करके पर-धन, पर-दारोपहार, असत्याचरण आदिमें चलनेवाली पागल बुद्धिका दुराचार दूर होने तक हमारा **अखंडेश्वर** भी दूर ही रहेगा ।

(४४३) सर्वस्वका त्याग करनेके पश्चात् बचे हुए फूलोंको लाकर, हारजीत के परेका पानी भरकर, सब इंद्रियोंको आंखोंमें भरकर सदैव अपने शरीर और मनोगत इच्छाओंको भूलकर लिंगकी पूजा करनी चाहिए **अंबिगर चौडय** ।

टिप्पणी:—तामसिक पूजा छोड़ते ही साधकका काम पूरा नहीं होता ।

साधकको शुद्ध मनसे, द्वंद्वातीत होकर, परमात्माका ध्यान करना चाहिए। तीर्थ यात्रा आदि दिखावा है, बाह्य आडंबर है। वह सच्चा धर्म नहीं है यह वचन-कारोंका स्पष्ट मत है।

(४४४) जहां पानी देखा वहां डूबने लगे, जहां वृक्ष देखा वहां परिक्रमा करने लगे, सूखनेवाले पानी और वृक्षपर विश्वास करोगे तो वह तुम्हें क्या जाने **कूडलसंगमदेवा**।

(४४५) श्रेष्ठ गंगाको स्पर्श करनेवाले सब देवता बनने लगे तो स्वर्गगंगाका संचार हजारों मील है, उसमें बसनेवाले प्राणी तो अनंतानंत हैं, यह सब प्राणी देवता बनेंगे तो स्वर्गमें रहनेवाले देवता सब अप्रसिद्ध होंगे **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुना**।

(४४६) अष्टाषष्ठ कोटि तीर्थोंका स्नानकरनेवालोंने नहीं देखा। गिनकर लक्षालक्ष कोटि जाप करनेवालोंने, ध्यान, मौन अनुष्ठान करनेवालोंने नहीं देखा। एक सौ बीस बार भूप्रदक्षिणा करनेवालोंने नहीं देखा। काशी, केदार, श्रीशैल, शिवगंगा आदि यात्रा किये हुए लोगोंने नहीं देखा। यह सब भ्रम है रे बाबा! उनकी जगह हम बताते हैं। श्रीगुरु करुणासे विजय पाकर, उनका दिया हुआ लिंग हाथमें पकड़कर, अनेक जगह गया हुआ अथवा जानेवाला मन पकड़कर उस लिंगमें बांधते हुए दृढ़ रखा तो परमात्मा वहीं रहता है। यही सच है और सब झूठ, सफेद झूठ है **महालिंग गुरुसिद्धेश्वरप्रभु**।

(४४७) निश्चल शरणोंके आंगनमें अष्टाषष्ठ कोटि तीर्थ आकर खड़े रहते हैं। तू किंचित्-सा प्रसन्न हुआ तो वह सब आकर खड़े रहते हैं **कपिलसिद्ध मल्लिनाथैया**।

टिप्पणी:—वचनकारोंने कहा है कि परमात्मा तीर्थक्षेत्रोंमें नहीं होता। वह भक्तोंके अंतरंगमें चिद्रूप होकर रहता है। वह भटकनेवाले मनको ध्यानसे स्थिर करनेसे मिलेगा।

जैसे सैंकड़ों तीर्थ और देवता त्याज्य हैं वैसे ही चंडी, भैरव, शीतला आदि देवता और सगुन-असगुन भी त्याज्य हैं। हिंदी प्रदेशमें जैसे चंडी, भैरव, शीतलदेवी, कालिका, वाहाणदेवी आदि प्रचलित हैं वैसे ही कन्नड़ भाषा प्रदेशमें मारी, मसणी, मासति, आदि नाम आते हैं। अर्थात् वचनोंमें वही नाम रखे गये हैं।

(४४८) मारि, मसणी आदि दूसरे तीसरे देवता नहीं है, मारि क्या है? जो नहीं देखना चहिए वैसा कुछ देखा तो वह मारि है, वाणीको जो नहीं बोलना चाहिए वह बोला तो वही मारि है, हमारे **कूडलसंगमदेवको** भूला तो वह महामारी है।

(४४६) मनका संशय सपनेका भूत बनकर दीखता है। मनका संशय मिटा कि सपनेका भूत दूर हुआ देख **महालिंग गुरुसिद्धेश्वरप्रभु**।

(४५०) स्वामीका भक्त होकर कदम बढ़ाकर आगे जाते समय असगुनके रूपमें कौवा, पंछी, बिल्ली, गदहा, सांप आदिको देखकर कदम रोका, मन, शंका-कुशंका और संकल्प-विकल्पके आधीन हुआ तो व्रतभंग हुआ। शरण शिवचरणसे दूर हुआ है। क्योंकि, मनको, शरीरगत आचारको, ज्ञानपूर्ण व्रत-नियममें रखा तो इससे बढ़कर परिहारका क्या साधन है ? ऐसा सत्क्रियात्मक कष्टकर जीवनके प्रतीकके पीछे पड़ा तो वह आचारभ्रष्ट है और है **एकेश्वरलिंग**-से दूर।

टिप्पणी:—भक्तको कोई निश्चय करनेपर सगुन-असुगनके आधीन नहीं होना चाहिए। वह सामान्य लोगोंके लक्षण हैं। भक्तोंको ऐसी बातोंसे चित्तको भ्रष्ट नहीं करना चाहिए।

(४५१) मलिनतामेंसे पैदा होकर पवित्र कुल खोजता है क्या ? अरे मातंगीका पुत्र है तू ! मरे हुएको खींचनेवाले क्यों नीच हैं ? तुम बकरा लाकर मारते हो, तुम्हारे शास्त्र बेचारे बकरेकी मौत हैं। वेद क्या हैं ? यह तुम जानते भी नहीं। **कूडलसंगमदेवके** शरण कर्मरहित हैं। शरण सन्निहित हैं। अनुपम चरित्र हैं। उनकी दूसरी उपमा है ही नहीं।

टिप्पणी:—मालिन्य जाति या कुलमें नहीं कर्ममें है। प्रत्येक मनुष्य मालिन्य-मेंसे पैदा होता है इसलिए मलिन है।

कन्नड़ भाषामें "स्त्रीरज"को "होले" कहते हैं और "अंत्यज"को "होलेय"। होलेयल्लि हुट्टिदात होलेय=होलेमें जो पैदा होता है वह होलेय है। यहां श्लेष है। अंत्यज होलेय है, होलेमेंसे जो पैदा हुआ वह होलेय है, अर्थात् रजमेसे उत्पन्न प्रत्येक अंत्यज है।

(४५२) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेषरूपी शरीरा-वयवमें राग-द्वेष आदि द्वंद्वोंका गमनागमन होते हुए "अहं ब्रह्मास्मि" का कोरा भाषाद्वैत शोभा नहीं देता। विश्वास रखकर सुखसागरको जान **उरिलिंगपेद्दिप्रिय-विश्वेश्वरा**।

(४५३) व्याध, जालगार (जाल फैलाकर मछली पकड़नेवाला) हेमचोर आदिकी भांति धोखेबाज बनकर ब्रह्मकी बातें करते हुए, संसार सागरमें डूबते-डूबते, रचते-पचते, सिसकते-रोते हुए भी ब्रह्म सन्मानका सुख लूटना चाहते हो ? ऐसा नहीं बोलना चाहिए, अवसर नहीं खोना चाहिए, कर्म जानकर उसको नहीं छोड़ना चाहिए। यही ज्ञान है। यह रहस्य जानकर चलनेवालोंको छोड़ दिया जाय तो औरोंको **कालकर्मातीत त्रिपुरांतकलिंग** जानना असंभव है।

(४५४) लोगोंने पूछा, पीछा किया, तो शुभलग्न कहो बाबा ! राशि, कूट, गणादि संबंध है ऐसा कहो बाबा ! चंद्रबल, तारा बल, गुरुबल है, ऐसा कहो, कलसे आजका दिन ही पूजाके लिए अच्छा है ऐसा कहो **कूडलसंगमदेवकी** पूजा-का फल मिलेगा।

(४५५) आजकल ऐसा मत कहो, शिवशरणोंको सब दिन एकसे हैं। न भूलकर हमारे **कूडलसंगमदेवका** स्मरण करनेवालेके लिए सब दिन एकसे हैं।

टिप्पणी:—ऊपरके वचनोंमें कहा गया है कि अद्वैत बातोंका विषय नहीं है। वह अनुभवका विषय है। योग्य सत्कर्म करते हुए उसे जानना चाहिए। वैसे ही सगुन-असगुनमें विश्वास नहीं करना चाहिए। शिवशरणोंके लिए हर क्षण शुभ है। वचनकारोंने यह भी कहा है कि पापक्षालनका उत्तम साधन पश्चात्ताप है। प्रायश्चित्तका दंभ नहीं है।

(४५६) भक्तोंकी एक ही बात है, केलेका एक ही फल है। यदि विरक्त छोड़े हुएको पकड़ेगा तो मरे हुएका मालिन्य है। और सत्कर्मोंमें चलनेवालोंको अपना नित्य नियम छोड़कर बुरे रास्ते पर चलकर धनदानसे अपना पाप परि-हार करनेका ढोंग रचते देखा तो **मरुलशंकरप्रियसिद्धरामेश्वरलिंग** मिलकर भी बात नहीं करेंगे।

(४५७) अरे पाप कर्म करनेवाले ! अरे ब्रह्महत्या करने वाले ! एक बार शरण आओ रे ! एक बार शरण आओ तो पाप कर्म भाग जायंगे। सब प्रकार के प्रायश्चित्तका वह स्वर्ण पर्वत है, उस एकको शरण आओ हमारे **कूडलसंगम देवको**।

टिप्पणी:—पैसा देकर, दान देकर, पंडितोंसे प्रायश्चित्त, मुद्रा लगवा लेना, पापसे मुक्त होनेका साधन नहीं है। उसका साधन है परमात्माकी शरण और पश्चात्ताप।

(४५८) परमार्थकी बातें करते हुए हाथ फैलाकर दूसरोंसे मांगना बड़ा कष्टकर है। पुरातनोंकी भांति बोलें क्यों और किरातों की भांति बरते क्यों? आशासे, इच्छासे क्यों बोलते हो ? आशासे इच्छासे परमार्थकी बातें करना मूत्र-पान करनेकासा है ! शिवशरण कभी ऐसा करेगा ? वचनसे ब्रह्मकी बातें करते-करते मनसे आशाका पाश बुनना देखकर मुझे घृणा होती है **महालिंगगुरु सिद्धेश्वरप्रभु**।

टिप्पणी:—पुरातन-वीर शैवोंमें "पुरातनरु" अथवा "आधरु" कहकर ६३ शैव संतोंकी पूजा होती है। उनको आदर्श पुण्य-पुरुष माना जाता है। किरात-शिकारी।

भक्तको आशासे कोई काम नहीं करना चाहिए। साधना पथपर आगे बढ़ते जानेपर अनेक प्रकारकी सिद्धियां मिलना असंभव नहीं है। साधकको न उनकी इच्छा करनी चाहिए न उनका उपयोग। इससे साधनाकी हानि होती है। कभी-कभी वह सिद्धियां भ्रामक भी होती हैं।

(४५९) "अग्नि स्तंभ" (एक विद्या जिससे अग्निका परिणाम नहीं होता) की रक्षण होते हुए घर जल गया। दक्षिणवर्ती शंख (जो लक्ष्मीका रूप माना जाता है) होते हुए भी अपना स्थान-मान खोया। एकमुखी रुद्राक्ष (जो सर्व कार्य सिद्ध करने वाला होता है) रहते हुए काम नहीं बना, यह सब साधकर भी नहीं सा हुआ गुहेश्वरा।

टिप्पणी:—बलमुरि शंख-दाहिनाशंख जो संपत्तिका लक्षण माना जाता है। एकमुखी रुद्राक्ष, सर्वकार्य सिद्धकर माना जाता है।

(४६०) रसवादोंको सीखनेसे लोहसिद्धि होती है रससिद्धि नहीं। अनेक कल्प, योग, अदृश्य वस्तुओंको सीखनेसे शरीरसिद्धि होगी आत्मसिद्धि नहीं। अनेक प्रकारके वाग्वादोंसे ढेरों वाक्सुमनोंकी माला गूँथी जायगी पर आत्म-हित कहां? गोरक्षपालक महाप्रभु सिद्धसोमनाथ लिंग तू मैं हुआ किंतु उस लिंगमें विलीन होकर मैं लिंग नहीं बना।

(४६१) कवि-साधक, सब अकुलाकर बैठ गए, विद्या-साधक सब बुद्धिहीन होकर बैठ गए। पवन-साधक तो चील कौवे बनकर उड़ गए। जल-साधक मेंढक और मछली बनकर डूब गए। अन्न-साधक प्राणी भूत बन गये गुहेश्वरा।

टिप्पणी:—वचनकारोंने जैसे सिद्धियोंकी निष्फलता बताई है वैसे ही संयम और निग्रहका भेद बताया है। वचनकार निग्रहके विरोधी हैं किंतु संयमका अर्थ है इंद्रियोंको अपने समुचित विकासके लिए स्वातंत्र्य देना।

(४६२) ज्ञानका प्रतीक न जाननेसे शरीर और मनको रुलाकर गला देनेसे क्या लाभ? इंद्रिय निग्रहसे विषयोंको बांधकर आत्मबंधन करनेसे आत्मा-बंधन होगा उससे और क्या होगा? शरीर सुखानेसे पेड़ोंको लाकर धूपमें सुखाने-कासा होगा। शरीर सुखानेसे क्या लाभ? मनकी मलिनता जानेसे पहले संसार पाश टूटा कहनेवाले ढोंगियोंको क्या कहा जाए महालिंग गुरु सिद्धेश्वर प्रभु?

(४६३) लड़के! मुंहसे कहे शब्दोंसे तेरे मनका रोग दूर नहीं हुआ है रे! सच जान लेनेके अनंतर संसार छोड़नेकी क्या आवश्यकता? सत्य जान लेनेके पश्चात् हाथ पकड़ी स्त्रीको छोड़नेसे अघोर नरकमें रखेगा वह केदार गुरुदेव उस दिनसे।

टिप्पणी:—वचनकारोंका यह सिद्धांत ही है कि धर्मानुकूल तथा धर्मसे अविरोधी भोग परमात्माका प्रसाद है।

(४६४) सरकनेवाले सांपसे नहीं डरता। आगकी लपटसे नहीं डरता। तलवारकी नोकसे नहीं डरता किंतु एकसे डरता हूं। डरता हूं परस्त्री रूपी जूएसे। भय क्या है यह न जाननेवाला रावण भी नष्ट हुआ। डरता हूं उससे **कूडलसंगमदेवा** ?

(४६५) कहां शिवपूजा और कहां विषयोंकी मिठास ? उन विषयोंकी मिठासके नशेमें शिवपूजाको छोड़कर, वेश्याका झूठन खानेमें न हिचकनेवालेको क्या कहूं **रामनाथा**।

(४६६) अपनी ही लाई हुई स्त्री अपने ही सिरपर चढ़ बैठी। अपनी ही लाई हुई स्त्री अपनी ही गोदमें चढ़ी। अपनी ही लाई हुई स्त्री ब्रह्माकी जिह्वापर चढ़ी। अपनी ही लाई हुई स्त्री विष्णुकी छातीपर चढ़ी। इसलिए स्त्रा स्त्री नहीं है राक्षसी नहीं है वह स्वयं **कपिलसिद्धमल्लिकार्जुन** रूप है।

टिप्पणी:—वचनकारोंने क्रमशः गंगा, पार्वती, सरस्वती, लक्ष्मीका संदर्भ देकर स्त्रीका महत्त्व समझाया है। स्त्रीको भोग्य न समझकर प्रत्यक्ष देवता स्वरूप देखना चाहिए। इससे मनुष्यकी विषय-वासना दुर्बल होगी। उसके लिए इंद्रिय निग्रह आसान होगा।

(४६७) शरणोंको श्रोत्रसे ब्रह्मचारी होना चाहिए, त्वचासे ब्रह्मचारी होना चाहिए, नासिकासे ब्रह्मचारी होना चाहिए, नेत्रोंसे ब्रह्मचारी होना चाहिए जिह्वासे ब्रह्मचारी होना चाहिए, इस प्रकारसे सर्वेन्द्रियोसे ब्रह्मचारी होकर **कूडलसंगमदेवको** अपना बना लेनेके लिए प्रभुदेव ब्रह्मचारी बने।

टिप्पणी:—केवल स्त्री संभोग छोड़ना ही सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं है। काया वाचा मनसे उस विषयकी कल्पना तक न करते हुए सतत ब्रह्म-चिंतनमें रत रहना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है।

वचनकारोंने संत वचनोंके महत्त्वके विषयमें भी बहुत कुछ कहा है।

(४६८) हाथी मिले, लक्ष्मी मिले, कोई राजा राज देने लगे तो भी नहीं लूंगा। तुम्हारे शरणोंका कहा हुआ एक वचन एक स्थान पर रखा तो तुम्हें ही रखा **रामनाथा**।

(४६९) दूध स्रवनेवाले स्तनमें जैसा गुड़सा कीचड़, चीनीसी रेत और अमृतकीसी लहरें होती हैं, वैसे ही आद्योंके वचन; उन आद्योंके वचनोंको छोड़ कर दूसरा कुवां खोदकर खारा पानी पीनेकी सी हुई मेरी स्थिति। तुम्हारे वचन न सुनकर अन्य पुराणोंको सुनकर नष्ट हुआ मैं **कूडलसंगमदेवा**।

(४७०) आचार-विचारोंकी गलतीमें शरणोंके वचनोंके बिना दूसरा कोई वाद नहीं है। शरणोंके वचन मोक्षका स्थान, शरणोंका वचन लिंगका मंदिर है, शरणोंका वचन **कलिंगदेवकूल** मायाका घातक है।

टिप्पणी:—भक्तोंकी वाणी प्रत्यक्ष दैवी स्फूर्तिकी वाणी है। उसको मानकर उसके अनुसार चलना चाहिए। इससे परमार्थ हाथ लगेगा। वेदशास्त्र पुराणोंसे शरणोंके वचन अधिक महत्त्वके हैं।

(४७१) क्या शास्त्रोंको महान् कहते हो ? वह कर्मोंका सृजन करते हैं वेदोंको महान् कहोगे तो वह प्राणियों का वध करनेकी आज्ञा देता है। श्रुतिको महान् कहोगे तो वह तुझे आगे रखकर खोजती है। वहां कहीं तू न होनेसे त्रिविध दासोहम्‌को छोड़कर और कुछ नहीं देखना चाहिए **कूडलसंगमदेवा**।

(४७२) आदि पुराण असुरोंकी मौत है, वेद बकरोंकी मौत है, रामपुराण राक्षसोंकी मौत है, भारत पुराण गोत्रोंकी मौत है, यह सब पुराण कर्मोंका प्रारंभ है। तुम्हारे पुराणको दूसरी उपमा नहीं **कूडलसंगमदेवा**।

(४७३) वेद, शास्त्र, आगम पुराणरूपी धान कूटकर उसमेंसे निकला हुआ भूसा भी क्यों कूटें ? यहां वहां भटकनेवाला मन यदि शिव-दर्शन कर सकता है तो सर्वत्र शून्य ही हैं **चन्नमल्लिकार्जुना**।

टिप्पणी:—वेदशास्त्र पुराण आदि केवल कर्मोंको कहते हैं। श्रुति "नेति नेति" कहकर परमात्माकी खोज करती है। शुद्ध चिद्‌घन न जानते हुए आत्म-ज्ञान होनेसे साक्षात्कार नहीं होगा।। वचनकारोंने उपरोक्त वचनोंमें यह बात कही है। सत्य ज्ञानके विषयमें वचनकारोंके जो विचार हैं वह देखें।

(४७४) वेद पढ़नेसे पाठक बनेंगे, ज्ञानी नहीं। शास्त्र पढ़ेंगे तो शास्त्री बनेंगे और पुराण पढ़ेंगे तो पौराणिक बनेंगे किंतु ज्ञानी नहीं। व्रत, नेम, कष्ट, पूजा आदिसे क्या होगा ? दिव्यज्ञानका स्थान जानना चाहिए। यह रहस्य जाना तो इसमें मन भर जाता है **मारेश्वरा**।

(४७५) वेद पाठक, शास्त्र संपन्न, पुराण बहुश्रुतिवंत, वादि भेदक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देश्य आदिके वाचक, चार्वाकमुखसे संघर्ष करनेवाला मायावादसा है। मूलिका सिद्धि, रस सिद्धि, अदृश्यीकरण, कार्यसिद्धि, आदि कुटिलताओंका रास्ता अगोचर है। अंग-लिंग-संबंधी शरणका अस्तित्व ऐसा है कि जैसे शुद्ध स्पर्श न करनेवाली लहरें, हवासे स्पर्श न होनेवाले सुमन, हाथसे स्पर्श न होनेवाली गति, स्निग्धताका स्पर्श न होने वाली जिह्वा, पवन, स्पर्श न होने वाले पत्ते हैं, वैसे ही भाव भ्रममें रहकर भी न रहनेवाले शरणोंका स्थान **सदाशिवमूर्तिलिंग** मात्र है।

टिप्पणी:—वचनकारोंने सच्चे शिवशरण कितने अलिप्त रहते हैं यह बताते हुए, वह कोरा पाठक, पंडित आदि नहीं, वह सिद्धियोंके पीछे पड़ा हुआ पागल भी नहीं आदि कहा है। तथा हठयोगके पीछे कष्ट उठानेवाले लोगोंको भी उन्होंने कहा है तुम व्यर्थके कष्ट मत उठाओ। उसमें कुछ नहीं है। तुम शरण

मार्ग स्वीकार करो, ऐसा उपदेश दिया है ।

(४७६) हठयोग, लुंबिका आदि कहकर आकुंचन करना, वज्र अमरिका कल्प आदि कहकर मलमूत्रोंका सेवन करना, नवनाथ सिद्धोंका मत कहकर कापालिकाचरणका आचरण, उसका अनुकरण शिवशरण नहीं करता। अथवा मस्तिष्कके वात पित्त कफादि निकालकर उसको अमृत कहनेका हीन दृश्य विश्वके संमुख वह नहीं रखता। बहनेवाला सब पानीका परिणाम है। रस, क्षीर, घृत, फलादिका ग्रहण करते हुए अन्न छोड़नेकी भूत चेष्टा शिव-शरण नहीं करते। यह सब गड़बड़ है, मिथ्या है, भ्रम है, ऐसा निर्धार है तुम्हारे शरणोंका गुहेश्वरा ।

टिप्पणी—वचनकारोंका कहना है कि शरणपंथ सरल है। इसमें कुटिल, कुहक, कपटादिके लिए तथा किसी प्रकारके ढोंग-सोंगके लिए स्थान नहीं है। उन्होंने वैराग्यके विषयमें भी कहा है ।

(४७७) अर्थ संन्यासी होनेसे क्या लाभ ? कहीसे आनेपर भी उसे नहीं लेना चाहिए। स्वाद संन्यास लेनेसे क्या लाभ ? जिह्वाकी नोकसे वस्तुकी माधुर्य-प्रतीति नहीं होनी चाहिए। स्त्री संन्यास लेनेसे क्या लाभ ? जागृति सुषुप्ति, स्वप्नमें भी तटस्थ रहना चाहिए। दिगंबर बननेसे क्या लाभ ? मन आवरण मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार शरण मार्ग पर नहीं चलनेसे सब नष्ट हुए **मल्लिकार्जुन** ।

(४७८) स्वांग कहां नहीं होता ? वेश्याओंमें नहीं होता ? भांडोंमें नहीं होता ? बहुरूपियोंमें नहीं होता ? स्वांग दिखाकर अपनी रबड़ी-रोटीका प्रबंध कर लेनेवाले भांडोंमें सत्य भक्ति कहांसे आएगी ? आचार ही प्राण है, **रामेश्वर लिंगमें** ।

(४७९) पुण्य पाप सब अपना-अपना इष्ट हैं। "अजी" कहनेसे स्वर्ग और "अबे !" कहनेसे नरक है। "देव भक्त जय जय" ऐसी भाषामें कैलास समाया है **कूडलसंगमदेवा** ।

(४८०) न मैं ब्रह्म पद चाहता हूं न विष्णु पद, मैं रुद्र पद अथवा अन्य कोई पद भी नहीं चाहता **कूडलसंगमदेवा** ! अपने शरणोंके चरणोंमें बैठनेका महापद दे मेरे प्रभु !

टिप्पणी:—शरण सदैव नम्र होता है। वह और अधिक नम्र बननेका प्रयत्न करता है। वह कुल-जाति आदिको भी महत्त्व नहीं देता ।

(४८१) देवादिदेव मेरी विनय सुन ! ब्राह्मणसे अंत्यज तक सब शिवशरण एकसे हैं प्रभु ! ब्राह्मणोंसे चांडाल तक सब संसारी एकसे हैं। मेरे मनका यह विश्वास है। मेरी कही हुई इस बातमें तिलके नोक इतना भी संशय हो तो

आज ही तू मेरी नाक काट ले **कूडलसंगमदेवा** ।

(४८२) आचार-विचार-उच्चारमें सिद्धांतानुसार चलें तो कोई कुल चांडाल कुल नहीं हैं । असत्य वचन, अधम आचार, हुआ कि चांडालता आई । दुनियाभरकी मलिनता, चोरी, परस्त्रीसंग आदिमें उतरकर ध्वस्त होनेवालोंके लिए कौनसा कुल है ? सदाचार ही कुलशील है । दुराचार ही मलिनता है । ऐसा इन दोनोंको जानकर समझना चाहिए **कैयुलिगत्ति अडिगू ंट कड़ेयागबेड अरि निजात्मरामना** ।

(४८३) खून करनेवाला ही चांडाल है । मल खानेवाला मातंग । ऐसे लोगोंका कैसा कुल है रे ! सफल जीवात्माओंका भला चाहनेवाले हमारे **कूडलसंगमदेवके** शरण ही कुलवान है ।

टिप्पणी:—वचनकारोंका कहना है कि आचार-विचारसे उच्चता तथा नीचता माननी चाहिए, जन्मजात कुलसे नहीं । उनके ऐसे भी वचन हैं कि शरणोंको लोकापवादसे नहीं डरना चाहिए । आत्मसाक्षीसे सब काम करना चाहिए ।

(४८४) जीवन है तब तक मौत नहीं है । भाग्य है तब तक दारिद्रय नहीं है । तब भला लोकापवादसे क्यों डरें ? उसके लिए क्यों रोएं **कूडलसंगमदेवा** तेरा सेवक होनेके उपरांत ?

(४८५) सर्वसंग परित्याग किए हुए शिवशरणोंसे संसारी लोग प्रसन्न रहें तो कैसे रहेंगे ! गांवमें रहा तो उपाधियुक्त कहेंगे, और अरण्यमें रहा तो पशु कहेंगे ! धन त्याग दिया तो दरिद्र कहेंगे और स्त्रीको त्यागा तो नपुंसक कहेंगे । पुण्यको छोड़ा तो पूर्वकर्मी कहेंगे और मौन रहा तो गूंगा कहेंगे तथा बोला तो बातूनी कहेंगे । खरी खरी बात कहो तो निष्ठुर कहेंगे, सौम्यतासे समत्वपूर्ण बातें कहेंगे तो डरपोक कहेंगे इसलिए **कूडलचन्नसंगैय** तेरे शरण न लोक इच्छासे चलेंगे न लोक इच्छासे बोलेंगे ।

टिप्पणी:—वचनकारोंने अनेक प्रकारसे कहा है कि शरणोंको आत्मप्रकाशसे अपना मार्ग चलना चाहिए तथा निंदा-स्तुतिको कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए ।

(४८६) ज्ञानियोंको दर्पणके बिंबकी भांति रहना चाहिए। ज्ञानियोंको अपने ज्ञानमें सोनेकी भांति रहना चाहिए । ज्ञानियोंको संशयातीत होना चाहिए । ज्ञानियोंको समूचे संसारको अपने जैसा समझना चाहिए । ज्ञानियोंको कभी कहीं पापवासनाका दर्शन नहीं होना चाहिए । ज्ञानियोंको कभी दूसरोंकी बातोंमें नहीं आना चाहिए । ज्ञानियोंको सदैव अपनेसे बड़े और गुरुजनोंसे नम्र रहना चाहिए । ज्ञानियोंको दूसरोंकी निंदा नहीं करनी चाहिए । ज्ञानियोंको सदैव

परस्त्रीको अपनी माताकी भांति देखना चाहिए। ज्ञानियोंको कभी विश्वासघात नहीं करना चाहिए। ज्ञानियोंको औरोंको दोष नहीं देना चाहिए। ज्ञानियोंको परद्रव्यापहार नहीं करना चाहिए। ज्ञानियोंको गुरुसेवा, लिंगपूजा, जंगम दासोहम् नहीं छोड़ना चाहिए। ज्ञानियोंको दिया हुआ वचन नहीं तोड़ना चाहिए। ज्ञानियोंको औरोंसे उपकृत होकर नहीं रहना चाहिए। ज्ञानियोंको किसीको वचन नहीं देना चाहिए। ज्ञानियोंको असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए। ज्ञानियों-को राजाके सामने झूठी साक्षी नहीं देनी चाहिए। ज्ञानियोंको लोकापवादका कारण नहीं होना चाहिए। ज्ञानियोंको मताभिमान नहीं होना चाहिए। ज्ञानियों-को ज्ञान होनेके पश्चात् कपिलसिद्धमल्लिकार्जुनसे किसी बातसे नहीं गिरना चाहिए।

टिप्पणी:—मूल वचनमें प्रत्येक वाक्यमें "ज्ञानियोंको ज्ञान होनेके पश्चात्" ऐसा जोड़ा गया है। वचनमें विशिष्ट प्रकारके वाक्यांशका पुनः पुनः पुनरा-वृत्ति होनेके कारण उसको छोड़ दिया है।

इन वचनमें वचनकारोंने विधिनिषेधकी पूरी तालिका दी है। वह केवल ज्ञानियोंको ही नहीं किंतु ज्ञानसाधनाके साधकके लिए भी है। इन नियमोंका निष्ठासे पालन करनेवाला साधक अवश्य सिद्धावस्थाको प्राप्त करेगा।

षट्स्थल शास्त्र और वीर-शैव संप्रदाय

विवेचन—अब तक वचन साहित्यके आधारभूत दर्शन, उसका साध्य, उस साध्यको प्राप्त करनेके साधन आदिके विषयमें विवेचन किया गया। इसमें अधिकतर पारिभाषिक शब्द वेदान्त, दर्शन, आदिके लिये गए हैं। संप्रदायकी भाषा अथवा परिभाषा नहीं आई। किंतु इस परिच्छेदमें षट्स्थल संप्रदाय विशेषके बारेमें आये वचनोंका संकलन किया गया है। अब तक वचनामृतमें आय हुए तत्वज्ञान, सत्य अहिंसादि नैतिक आचार, सर्वार्पण, ज्ञान, भक्ति, ध्यानदि साधन मार्गोंका पुनः यहां विवेचन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर, जिन बातोंसे इस संप्रदायको एक वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है उन्हीं बातोंका विचार किया गया है।

इस संप्रदायमें शिव ही सर्वोत्तम है। वही परात्पर दैवत है। शिवैक्य अथवा लिंगैक्य इस संप्रदायका सर्वोच्च ध्येय है। लिंगको शिवका प्रतीक माना जाता है, तथा जीवको अंग कहा जाता है। इससे शिवैक्य, अथवा शिव सारूप्यको लिंगांग संयोग, कहा जाता है। इस साधनामार्गको शरणमार्ग, शिवयोग, अथवा लिंगांगयोग भी कहा जाता है। इस साधनामार्गमें जीव शिवमें अथवा अंग लिंगमें, शिवके सब प्रकारके चलन-वलन में समरस होकर रहता है, इसलिए शिवैक्यको समरसैक्य भी कहते हैं। जीव शिवमें, अथवा अंग लिंगमें, समरसैक्य होनेकी स्थितिमें परमानंद अनुभव करता है। इसे लिंगांग समरसैक्य भी कहते हैं।

सांप्रदायिक पद्धतिसे इस साध्यको प्राप्त करनेके लिए, आवश्यक साधन क्रम बतलानेसे पहले षट्स्थल सिद्धांतका बोध होना आवश्यक है। यही इस संप्रदायका वैशिष्ट्य है। इस संप्रदायमें साधनाकी छः अवस्थाएं मानी गई हैं और उनको छः भिन्न-भिन्न नाम दिए गये हैं। वे नाम हैं भक्तस्थल, महेश-स्थल, प्रसादिस्थल, प्राणलिंगिस्थल, शरणस्थल और ऐक्यस्थल। इन सबमें ऐक्यस्थल सबसे ऊंचा है। वचनकारोंकी दृष्टिसे यही सिद्धावस्था है। इसे "वचन सिद्धावस्था" कह सकते हैं। साधनाकी इस स्थितिमें जीव और शिवका ऐक्य हो जाता है। इसलिए उनको ऐक्यस्थल कहते हैं। यहां जीवकी स्थिति संपूर्णतः नष्ट हो जाती है। वह शून्यमें विलीन हो जाता है, इसलिए इस स्थितिको शून्य संपादन कहते हैं। भारतीय दर्शनके अनुसार सारूप्य मुक्ति कह सकते हैं। वचनकारोंने इसे शिवैक्य, लिंगैक्य, निजैक्य आदि कहा है।

अब यह प्रश्न आता है कि यह छः स्थल कैसे सिद्ध हुए ? उनके लक्षण क्या हैं ? साधककी आत्मा अथवा जीवका, परमात्मा अथवा शिवसे जिस प्रकारका संबंध है, अथवा वह जिस प्रकारका आचरण करेगा इसपर वह स्थल निर्भर है। साधक जीव है और परमात्मा शिव। इस संप्रदायमें जीवको अंग कहते हैं तथा शिवको लिंग। निःकल शिवत्व अपनी शक्तिके चलनसे द्विविध हो गया। लिंग और अंग। लिंगके पुनः तीन प्रकार हुए।—गुरु-लिंग, जंगम-लिंग और आचार-लिंग। पुनः इनमेंसे प्रत्येक लिंगके दो प्रकार बने—महालिंग, गुरु लिंग, प्रसाद लिंग, जंगम लिंग, शिव लिंग, आचार लिंग। वैसे ही अंगके तीन प्रकार बने—त्यागांग, भोगांग, और योगांग। पुनः इनमेंसे प्रत्येक अंगके दो-दो बने—ऐक्य, शरण, प्राणलिंगि, प्रसादि, महेश, और भक्त। इस प्रकार छः लिंग स्थल और छः अंग स्थल बने।

अंग और लिंगके इस विशिष्ट प्रकारके संबंधके कारण अथवा स्थलके कारण इस संप्रदाय को षट्स्थल संप्रदाय कहा जाता है। अब इनके लक्षणोंका विचार करना है। लिंगमें संपूर्ण विश्वास ही भक्त स्थलका लक्षण है। वह विश्वास दृढ़ होकर गुरु-लिंग जंगमकी सेवा करना महेशका मुख्य लक्षण है। साधकका सब कुछ लिंगार्पण करना और प्रसाद रूप जीवन व्यतीत करना प्रसादिका लक्षण है। अपने प्राणको लिंगमें विलीन करके दोनोंके अभेदका अनुभव करना प्राणलिंगीका लक्षण हैं। लिंगांग योगका अनुभवयुक्त ज्ञान ही शरणका लक्षण है; और वह ज्ञान स्थिर होकर समरसैक्यका अनुभव करना ऐक्य स्थलका लक्षण है। यह सब अत्यंत संक्षेपमें कहा गया है। इन सबका विस्तार उन वचनोंमें देख सकते हैं तथा परिचय खंडके सांप्रदायिक परिच्छेदमें भी। उस परिच्छेदमें कुछ अधिक विस्तारके साथ इसका विवेचन किया है।

षट्स्थल शास्त्रके अनुसार, यह छः स्थल ही मुख्य हैं, किंतु उसमें भी पर्याय-से ३६,१०१ और २१४ स्थलोंकी कल्पना की गई है। जैसे इन छः स्थलोंमें भक्तका भक्त, भक्तका महेश, भक्तका प्रसादि आदि। ऐसे ही प्रत्येक स्थलमें अन्य पांच स्थलोंकी कल्पनाके संयोगसे ३६ स्थल हुए। वैसे ही भक्तका आचार लिंग, भक्तका गुरु लिंग आदि प्रत्येक अंगस्थलसे लिंग स्थलके संयोजनसे भी ३६ स्थल सिद्ध हुए। इनके अतिरिक्त भक्त स्थलसे ऐक्य स्थल तक १५-९-७-५-४-४ ऐसे अंग स्थलके संयोजनसे ४४ तथा आचारलिंगसे महालिंग तक क्रमशः ९-९-९-९-९-१२ ऐसे सब लिंग स्थलोंके संयोजनसे ५७ लिंगोंकी कल्पना की गई है। इन सबका स्पष्ट उल्लेख सिद्धलिंगेश्वरके "एकोत्तरशतस्थल" इस ग्रंथमें है। इसमें और एक प्रकारसे, जैसे भक्तका भक्त, भक्तका महेश, भक्तका प्रसादि ऐसे ३६ स्थल सिद्ध होनेके उपरांत, उसमें फिरसे भक्तके भक्तका आचारलिंग,

भक्तके भक्तका गुरु लिंग, भक्तके भक्तका जंगम लिंग, भक्तके भक्तका शिव-लिंग, भक्तके भक्तका प्रसादलिंग, भक्तके भक्तका महालिंग, ऐसे छः लिंग स्थलोंके संयोगसे ३१६ स्थल हो जाते हैं। ऐसे अनेक सूक्ष्म विवेचन विश्लेषण किए गए हैं; किंतु व्यवहारिक दृष्टिसे षट्स्थल ही उपयुक्त हैं और वही सामान्य-तथा प्रचलित हैं।

अब षट्स्थल साधनाके साध्यरूप लिंगैक्यकी प्राप्तिके साधनोंका विचार करें। इस साधनाक्रमका मूलतत्त्व सर्वार्पण, भक्ति, ज्ञान, कर्म आदिका, तथा विधि-निषेध आदि नीति नियमोंका विवेचन इसके पहले ही हो चुका है। अब उन नीति नियमोंके द्वारा यह सांप्रदायिक ध्येय कैसे प्राप्त हो सकता है यही देखना है।

तत्वतः जीवशिवस्वरूप है किंतु अज्ञानके कारण वह बद्ध है। अज्ञानवश वह बद्धजीव अपने शिवतत्वका भान होनेसे शिवैक्य प्राप्त करनेके लिए, अथवा अपने अंग गुणोंको नष्ट करके लिंग गुणोंका विकास करनेके लिए प्रयास करता है। इस प्रयासमें सहायता पहुंचानेके लिए अष्टावरण कहे गए हैं। वे अष्टावरण गुरुपूजा, जंगमपूजा, लिंगपूजा, पादोदक, प्रसादग्रहण, विभूतिधारण, रुद्राक्ष धारण, षडक्षरी मंत्रक जप, हैं। आवरणका अर्थ कवच है। कवचसे कवचधारीकी रक्षा होती है। यह कवच साधकके रक्षक है। मंत्रबोधके साथ जो करस्थलपर लिंग देता है वह गुरु है। लिंग परमात्माका प्रतीक है। उस लिंगको शरीरपर धारण करके विधिवत् उसकी पूजा करना ही लिंगपूजा है। अपना सर्वस्व उस लिंगको अर्पण करके उसका प्रसाद सेवन करना ही प्रसाद ग्रहण है। शरीरपर लिंग धारण करके मनुष्य अपने अंग गुणोंका त्याग करते-करते लिंग गुणोंको ग्रहण करते जाता है। उसी प्रतीककी सहायतासे शिवका ध्यान करना चाहिए। षटस्थलमें ऐक्य-स्थल सर्वोच्च स्थल है। उस स्थलको प्राप्त करके सिद्धावस्थामें विचरण करनेवाला जंगम है। श्रद्धासे, दास्यभावसे उसका आगत-स्वागत और पाद्यपूजा करके पादोदक और प्रसाद सेवन करना ही जंगम पूजा है तथा पादोदक और प्रसादग्रहण। रुद्राक्ष और विभूति धारणसे तन मन शुद्ध होता है। सदैव 'ओं नमः शिवाय' जप करना चाहिए। यह साधकका अष्टावरण अथवा रक्षा कवच है। इससे साधक धीरे-धीरे शिवैक्य प्राप्त करता है।

इस अष्टावरणका भांति पंचाचार भी कहे गये हैं। ये उन पंचाचारोंके नाम हैं। सदाचार, गणाचार, नित्याचार, शिवाचार और लिंगाचार। शुद्ध, सरल, नैतिक आचार ही सदाचार है। सत्य और धर्मका यथायोग्य आचरण करना ही गणाचार है। नित्य नियमसे पूजा अर्चा, जप, भस्म धारण आदि करना ही नित्याचार है। लिंगधारीको प्रत्यक्ष शिव मानकर उनका आदर

सत्कार करना ही शिवाचार है। निष्ठासे लिंग धारण करके लिंग पूजा करना, व्रतादि करना लिंगाचार है।

यह अष्टावरण और पंचाचार ही इस संप्रदायका वैशिष्ट्य है। अब इस विषयके वचन देखें।

वचन—(४८७)······पर शिवकी चित्-शक्ति अपने आप दो प्रकारकी बनी। एक लिंगाश्रित रहकर शक्ति कहलाई और दूसरी अंगाश्रित होकर भक्ति। शक्ति ही प्रवृत्ति कहलाई और भक्ति ही निवृत्ति। शक्ति भक्ति दो प्रकार बने। शिवलिंग छः प्रकारका बना। अंग भी छः प्रकारका बना। पहले लिंग तीन प्रकारका बना। वह ऐसे—भावलिंग, प्राणलिंग, इष्टलिंग। फिर प्रत्येक लिंग दो प्रकारका बना, वह ऐसे—भावलिंगकामहालिंग और प्रसादलिंग, प्राणलिंगका जंगमलिंग और शिवलिंग, इष्टलिंगका गुरुलिंग और आचारलिंग। ऐसे लिंग छः प्रकारका बना।······अब एक अंग भी पहले तीन बना, जैसे—योगांग, भोगांग और त्यागांग, यह तीनों अंग दो-दो प्रकारका बना। वह ऐसे—योगांग ऐक्य और शरण बना, भोगांग प्राणलिंगी और प्रसादि बना, त्यागांगका माहेश्वर और भक्त ऐसे एक अंगके छः प्रकार बने।······अंगका अर्थ है शरण, और लिंग सदैव उस अंगका प्राण है। अंग सतत उस लिंगका शरीर है। अंग और लिंग, बीज वृक्ष न्यायसे सदैव अभिन्न है। उनमें कोई भिन्नता नहीं। अर्थात् अनादिकालसे शरण ही लिंग और लिंग ही शरण है। इन दोनोंमें कोई भेदभाव नहीं है। स्वानुभाव विवेकसे यह जानना ही ज्ञान है। आगम, युक्ति, तर्क आदिसे जानना ज्ञान नहीं है। शास्त्र ज्ञानसे साधक संकल्पहीन नहीं होता। यह षट्स्थल पंथ द्वैताद्वैत परिवर्तन नहीं क्योंकि यह शिवाद्वैतका मार्ग है। लिंगांग संबंधको समरसैक्यसे अनुभव करनेके उपरांत ब्रह्म परब्रह्म ऐसा अपनेसे भिन्न है क्या **महालिंगगुरु शिवसिद्धेश्वरप्रभु**।

टिप्पणी:—परिचय विभागके संप्रदाय नामके परिच्छेदमें दिया हुआ स्थल वृक्ष देखनेसे इस वचनको समझनेमें अच्छी सहायता मिलेगी।

(४८८) भक्तको क्रिया, महेश्वरको निश्चय, प्रसादिको अर्पण, प्राणलिंगीको योग, शरणको एकरस होना तथा ऐक्यको निर्लेप होना इस प्रकारका यह षट्स्थलानुग्रह विरक्तके आत्मतत्त्वका मिलन है। शंभूसे स्वयंभूका अतिक्रमित अतिबल है यह **मातुळंग मधुकेश्वरा**।

(४८९) विश्वाससे भक्त होकर, विश्वासमें स्थित निष्ठासे महेश्वर होकर, उस निष्ठांतर्गत दक्षतासे प्रसादि होकर, उस दक्षताके अंदर बसे स्वानुभवसे प्राणलिंगी बनकर, उस स्वानुभवजन्य ज्ञानसे शरण हो रके वह ज्ञान अपनेमें ही समरस होते हुए निर्भाव पदमें स्थित होना ही ऐक्यस्थल है **गुहेश्वरा**।

(४६०) किंकुर्वाणतासे अपना कर्म जानकर उस कर्मको करते रहनेसे भक्त, निष्ठा एकरस होकर पानीका बर्फ जमनेकी भांति जमकर अभिलाषाओं-का अतिक्रमणकर शुद्ध विवेक होना महेश्वर, कभी अनर्पित स्वीकार न करके, काया वाचा मनसे प्राप्त कायकको ही लिंगार्पित करते हुए उसका भोग करनेवाला प्रसादि, प्राणका प्राण बनकर, सदैव दक्ष रहा तो प्राणलिंगी, लिंगका अंग और अंगका लिंग बनकर उसमें अभिन्न रहा तो शरण, सदाचार संपदामें आनेवाले अनुभवोंका अतिक्रमण करके नामरूप मिटाकर सुखी होनेवाला ही लिंगैक्य है। इसलिए कूडल चन्नसंगैयमें बसवण्णके अतिरिक्त षट्स्थल पूर्व।

टिप्पणी:—षट्स्थलोंके लक्षण कहनेमें कहीं-कहीं कुछ भिन्नता है किंतु वह महत्त्वकी नहीं। साधकका स्थल उसकी आंतरिक स्थितिसे जाना जाता है।

(४६१) स्थल कुल जानना चाहते हैं, भक्त होकर महेश्वर होना चाहते हैं। महेश्वर होकर प्रसादि होना चाहते हैं, प्रसादि होकर प्राणलिंगी होना चाहते हैं, प्राणलिंगी होकर शरण होना चाहते हैं, शरण होकर ऐक्य होना चाहते हैं। यह मिलन किससे होगा यह नहीं जानता। अन्दर बात बाहर झलकनी चाहिए, छलकनी चाहिए, "मैंने जाना" ऐसा नहीं कहना चाहिए, ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए, मुझे ऐक्य होकर शरण बनना है, शरण होकर प्राणलिंगी बनना है, प्राणलिंगी होकर प्रसादि बनना है, प्रसादि होकर महेश्वर बनना है, महेश्वर होकर भक्त बनना है, भक्त होकर सकल युक्त बनना है। युक्त होनेका निश्चय होते ही अंतर्बाह्य एक होता है। यही मैंने देखा अनुभव किया अलोकनाद शून्य शिलाके बाहर छलकते देखा तुझे।

टिप्पणी:—यह स्थल कोई पाठशालाकी श्रेणियां नहीं हैं किंतु साधकके अंतरंगकी स्थिति है।

विवेचन—स्थलका विवेचन हुआ, अब गुरु कारुण्य, अष्टावरण आदिका विचार करना आवश्यक है। इस संप्रदायका यह मूलभूत सिद्धांत है कि अज्ञान के आवरणमें तड़पने वाला जीव बिना गुरु कारुण्यके मुक्त नहीं हो सकता। "शून्य संपादने" नामके ग्रंथमें गुरुकारुण्य-स्थलमें यह बात स्पष्ट कही है। इसके साथ ही साथ "अपने आपको जान लिया तो वह ज्ञान ही गुरु है।" "अनुभव ही गुरु है" ऐसे वचन भी आते हैं। आगमकारोंके कथनानुसार "गुरु होनेवालेको सकल आगमोंका हृदयगत जानकर आदि मध्य अंत्य जानकर अपने सर्वाचार-को प्रतिष्ठित करना" होता है। तथा वही शिष्य बनने अथवा दीक्षाके लिए योग्य कहा जा सकता है जो सदाचार संपन्न हो। वहां उनकी जाति, कुल, वर्ण, लिंग आदिका कोई बंधन नहीं है। गुण कर्मके विचारसे ही किसीको दीक्षा दी जा सकती है। अन्य शैव दीक्षासे वीरशैव दीक्षा श्रेष्ठ है। इसीलिए शैव गुरुसे

प्राप्त लिंग वीरशैव गुरुके हाथमें देकर पुनः उससे प्राप्त करना होता है। यह वचनकारोंका स्पष्ट सुझाव है।

वचन—(४९२) चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, वह किसी भी जातिमें पैदा हुआ हो, जब वह दीक्षित होगा, गुरु-कारुण्यसे लिंग धारण करेगा, आचार-संपन्न होकर सत्कार्य रत होगा तो महात्मा बनकर तीनों लोकोंका अधिकारी होगा **अखंडेश्वरा**।

(४९३) वह दर्पण अपना हो तो क्या या औरोंका हो तो क्या? अपना रूप दिखाई पड़ा तो पर्याप्त है न? सद्गुरु कौन हो तो क्या अपनेको जान लिया कि हुआ **सिम्मुलिगेय चन्नरामा**।

टिप्पणी:—शिष्यको आत्मबोध कराना ही गुरुका मुख्य लक्षण है अन्य सब गौण हैं।

(४९४) भवित्वसे उकताकर भक्त होनेकी इच्छा करनेवालोंको सद गुरुकी खोज करके, गुरु कारुण्यसे मुक्त होनेकी इच्छासे गुरुको दंडवत् प्रणाम करना चाहिए, भय-भक्तिसे हाथ जोड़कर विनयसे प्रार्थना करनी चाहिए "हे प्रभो! मेरा भवित्व नष्ट कर अपनी दयासे भक्त बना दे।" ऐसी प्रार्थना करनेवाले, अपनी किंकरतामें रहनेवाले, श्रद्धायुक्त, शिष्यों को श्रीगुरु अपनी कृपायुक्त दृष्टिसे देखकर उस भविको, पूर्वाश्रमसे छुटकारा दिलाकर पुनर्जन्मसा देता है। उसके शरीर पर लिंगप्रतिष्ठा करनेका क्रम······**उरिलिंगपेद्दिप्रिय विश्वेश्वरा**।

टिप्पणी:— वचनकारोंकी यह मान्यता है कि दीक्षा लेनेके पहले मनुष्य भवि होता है। भविका अर्थ बद्ध है। वीरशैव लोग उन लोगोंको भवि कहते हैं जिसने दीक्षा नहीं ली हो। भवित्व-बद्धत्व।

शिष्यको किस भावसे गुरुकी ओर देखना चाहिए और गुरुको किस भावसे शिष्यकी ओर देखना चाहिए यह ऊपरके वचनमें कहा गया है। आगे दीक्षाकी पद्धति तथा गुरुके यथार्थ रूपका वर्णन है।

(४९५)···गुरु स्थल अपने आपमें स्वयं ज्योति प्रकाश है। वह स्वयं ज्योति प्रकाश "भांति" कहकर जब दूसरी ज्योति जलायगा तो वह ज्योति अपने जैसी जलायगा······ **कूडल चन्नसंगमदेवा**।

(४९६) शून्यको मूर्ति बनाकर मेरे करस्थलमें दिया श्रीगुरुने, शून्यकी मूर्तिको अमूर्ति बनाकर मेरे प्राणमें प्रतिष्ठित किया श्रीगुरुने, शून्यके शून्यको चाहनेसे शून्यको भावमें भर दिया श्रीगुरुने। इससे मेरा करस्थल, मनस्थल, भाव-स्थल उसकी धारणा करके अंगलिंग संबंधी बना **महालिंगगुरु सिद्धेश्वर प्रभु**।

(४९७) वेद्या दीक्षा, मंत्र दीक्षा, क्रिया दीक्षा इन दीक्षात्रयसे अंगत्रयके पूर्वाश्रयको नष्ट करके श्रीगुरुने अपने हस्तसे शिष्यके मस्तकपर लिंगत्रयका संयोजन किया। मंत्र दीक्षाके रूपमें श्रीगुरुने कानमें प्रणव पंचाक्षरीका उपदेश दिया, क्रिया दीक्षाके रूपमें उस मंत्रको रूपित करके इष्टलिंग बनाकर कर-स्थलमें दिया, तब वेद्या दीक्षासे कारण शरीरके पूर्वाश्रय नष्ट होकर इष्ट लिंगका संबंध जुड़ा। अंगत्रयमें लिंगत्रयका धारण किया है **महालिंग गुरु शिव सिद्धेश्वर प्रभु।**

टिप्पणी:—पूर्वाश्रय=आणवमल, मायामल, कार्मिकमल। प्रणव पंचाक्षरी=ओं नमः शिवाय।

(४९८) मेरे कर-स्थल मध्यमें परम निरंजनका प्रतीक दिखाया। उस प्रतीकके मध्यमें उसको जाननेके ज्ञानका प्रकाश दिखाया। उस प्रकाशके मध्यमें महाज्ञानकी उज्ज्वलता दिखाई। उस उज्ज्वलताके स्थानपर मुझे स्वयंको दिखाया। मुझमें अपनेको दिखाया, मुझको विश्वाससे अपनेमें रखे हुए महागुरुको 'नमो नमः नमो नमः' करता हूं **अखंडेश्वरा।**

टिप्पणी:—इस वचनमें सूक्ष्मसी दीक्षा पद्धति कही गयी है। उपरोक्त वचनोंके अनुसार आत्मज्ञान करा देनेवाला ही सच्चा गुरु है। लिंग परमात्माका प्रतीक है। उसकी सहायतासे अथवा उसके सहारे, उसकी पूजा, ध्यान आदिसे निर्गुणको जानना इस संप्रदायकी साधना पद्धति है। इसलिए इस संप्रदायमें लिंगका बड़ा महत्त्व है।

(४९९) लिंग पर-शक्तियुत परशिवका अपना शरीर है। लिंग पर-शिवका दिव्य तेज है। लिंग पर-शिवका निरतिशयानंद सुख है। लिंग षड्ध्वमय जगज्जन्म भूमि है। लिंग अखंड वेद है **उरिलिंग पेद्दिप्रिय विश्वेश्वरा।**

(५००) कुछ लोग लिंगको स्थूल कहते हैं, लिंग स्थूल नहीं है। कुछ लोग लिंगको सूक्ष्म कहते हैं, लिंग सूक्ष्म नहीं है। स्थूल सूक्ष्मके उस पारके ज्ञानरूप परब्रह्म ही लिंग है, इस अनुभवजन्य ज्ञानका अखंड रूप **निजगुरु स्वतंत्र सिद्ध लिंगेश्वरके** ज्ञानका स्थान है और कुछ नहीं।

(५०१) आकाशमें विचरण करनेवाले पतंगका भी कोई मूल सूत्र होता है। शूरको भी तलवारकी आवश्यकता होती है, भूमिके अभावमें भला गाड़ी कैसे चलेगी? अंगको बिना लिंगके निःसंग नहीं होता। **कूडलचन्नसंगम देवके** संगके बिना निःसंग हुआ ऐसा नहीं बोलना चाहिए।

(५०२) जो सुगंध तिलमें नहीं वह भला तेलमें कहांसे आयगी? जब तक देहपर इष्टलिंग धारण नहीं किया गया प्राणलिंगसे संबंध कैसे होगा? इसलिए **गुहेश्वरलिंगमें** इष्टलिंगके संबंधके बिना प्राणलिंगका संबंध नहीं

होगा **सिद्धरामय्या** ।

टिप्पणी:—गुरुलिंग आदिका लक्षण, महत्व और आवश्यकताको देखनेके पश्चात् जंगमके लक्षण बताये गये वचन देखें ।

(५०३) केश, कषायांबरमें क्या धरा है ? विभूति रुद्राक्षमें क्या धरा है ? साकारमें सन्मत नहीं है । निरहंकारमें निमग्न नहीं है । परमार्थमें परिणामी नहीं है । इसलिए **कूडलसंगमदेवा** जटिल हो या तापस हो, या मुंडी हो, ज्ञानवान तथा आचारवान ही जंगम है ।

टिप्पणी:—परिणामी=समाधानी, शांत ।

(५०४) दक्षता ही गुरु है, आचार ही शिष्य, ज्ञानही लिंग, समाधान ही तप और समता ही योग है । तैरना न जानते हुए चोटी काटकर मुंडी बननेसे **महालिंग कल्लेश्वरदेव** हंसता है ।

(५०५) धनसे खिचनेवाला नही, धरनी और दारासे झुकनेवाला नहीं, अशन, व्यसनसे बंधनेवाला नहीं, **कूडलचन्नसंगैया** भक्तिका पथ देखकरके आनेवाला है वह प्रभुदेव ।

टिप्पणी:—प्रभुदेव (अल्लम प्रभु) महाजंगम है । जंगम निस्पृहताकी मूर्ति होता है । अब प्रसाद, पादोदक, भस्म, रुद्राक्ष आदिका विचार देखें ।

(५०६) श्रीगुरुने शिवगणोंके बीच, मुझे उपदेश देते समय, परमेश्वरके पांच मुख ही पांच कलश बनाकर, गणोंको साक्षी रख करके, कर-स्थलमे लिंग दिया; और "वह लिंग ही पति, तू ही सती" कहकर मस्तक पर भस्मके पट्टे खींचे, हाथमें कंकण बांधा । पादोदक प्रसाद देकर सदैव सती-पति भावसे रहनेके लिए कहा श्रीगुरुने । उस उपदेशको महाप्रसाद मानकर स्वीकार किया । इसलिए बिना पतिके दूसरोंको नहीं जानता **महालिंगगुरु सिद्धेश्वरप्रभु** ।

(५०७) हस्ताब्ज मथनसे दबाकर, भस्मकर, प्रणव पंचाक्षरीके संजीवनीसे चित्तश्रोत्रमें प्रवाहित करनेसे वह खड़ा-सा रहा देख **रामनाथा** ।

(५०८) गुरुका हस्त मस्तकपर रखनेसे आत्म-शुद्धि होती है, शिवलिंग रखा हुआ स्थान ही अविमुक्ति क्षेत्र होनेसे स्थान शुद्धि होती है । शिवलिंग सन्निधिमात्रसे पवित्रीकृत होकर धन शुद्धि होती है । शिव, मंत्रमय होनेसे मंत्रशुद्धि होती है । लिंग, निर्मल, निरुपम, नित्य, सत्य होनेसे लिंगशुद्धि होती है । इस पंचशुद्धिमे प्राणलिंग संबंध होना ही आगम है, दूसरा आगम नहीं **उरिलिंग पेद्दिप्रिय विश्वेश्वरा** ।

(५०९) ······ओं नमः शिवाय यह इष्ट ब्रह्मरूपी महालिंग । वह प्रणव पंचाक्षरी ही परमेश्वर है । वह प्रणव पंचाक्षरी ही परम तत्व है । वही प्रणव पंचाक्षर परम योग, वही परंज्योति, वही परमात्म है······**कूडल चन्नसंगमदेवा** ।

टिप्पणी:—वचनकार प्रणव पंचाक्षरीको वर्णात्मक परमात्मा मानते हैं। इस वचनमें मंत्रका महत्त्व भली भांति दर्शाया है। अब आत्म-विकासमें गुरु जंगम तथा लिंगका स्थान दिखानेवाले वचन देखें।

(५१०) अजी ! मैं उसीको सद्गुरु कहूंगा जिसको क्रियाचारमें आसक्ति है, ज्ञानाचारमें निष्ठा रखनेवालेको ही सच्चिदानंद लिंग कहूंगा। भावाचारमें प्रीति करनेवालेको ही जंगम कहूंगा, इस त्रिविध आचारमें निरत ही सत्य शरण है, तो आचार, सन्मार्ग, स्थित गुरु लिंग जंगम शरण ही **गुहेश्वरलिंगका** मोक्ष मंदिर है चन्नबसवण्णा।

(५११) अपने आपको जान लिया तो आप ही गुरु है, स्वयं लिंग है, अपनी निष्पत्ति ही जंगम है यह त्रिविध एक होते ही स्वयं **कामेश्वर लिंग है**।

(५१२) ज्योतिका स्पर्श होते ही स्वयं ज्योति होनेकी भांति, सागरका स्पर्श करनेवाली नदियोंका स्वयं सागर होनेके भांति, प्रसादको स्पर्श करते ही प्रत्येक वस्तु प्रसाद बन जाती है रे ! यह त्रिविध एक हुआ कि आगे कुछ है ही नहीं। लिंगको स्पर्श करनेवाला स्वयं लिंग हो जाता है **सकलेश्वर देव** तुझे स्पर्श करनेवाले सब तू ही हो जाएंगे।

(५१३) लिंगमुख जाने हुएको अंग कुछ नहीं है। जंगममुख जाने हुएको संसार कुछ नहीं, प्रसादमुख जाने हुएको इहपर ऐसा कुछ नहीं; इस त्रिविधमें अद्वैतानुभव किए हुएके लिए आगे कुछ रहा ही नहीं। इस त्रिविधका स्थिति-स्थान ही श्रुति, स्मृति, पुराण इतिहासका ज्ञान है **कूडलचन्नसंगैया** यह तुम्हारे शरण ही जानें।

(५१४) अंगसे लिंगको सुख, लिंगसे अंगको सुख, उस अंग लिंग संग सुखमें परम सुख है देख; उस अंग-लिंग समरसैक्यका सुख **कूडलचन्नसंगैया** तुम्हारी शरण गये हुए महालिंगैक्य के अतिरिक्त और कौन जानता है ?

टिप्पणी:—वीर शैवाचारका सार सर्वस्व कहीं एक स्थानपर देखना हो तो अक्कमहादेवीका किया हुआ श्री बसवेश्वरका वर्णन देखना चाहिए। अक्क महादेवीने लिखा है कि श्री बसवेश्वरमें श्रेष्ठ शिव आचारके सब गुण विद्यमान थे।

(५१५) ······हमारे बसवण्णाने जगतके हितके लिए मृत्युलोकमें अवतरित होकरके वीर शैव मार्ग निरूपित करनेके लिए बावन गुणोंको (आचारोंको) विकसित किया है। वह गुरुकारुण्यवेध, विभूति रुद्राक्ष धारक, प्रणव पंचाक्षरी भाषा समवेत, लिंगांग संबंधी नित्य-लिंगार्चक, सर्वार्पणमें दक्ष, पादोदक प्रसाद सेवक, गुरुभक्तिसंपन्न, एकलिंगनिष्ठ, चरलिंग लोलुप, शरण संगमेश्वर, त्रिकरण शुद्ध, त्रिविध लिंगांग संबंधी, अन्य देवताओंका स्मरण भी न करनेवाला,

भविसंग न करनेवाला, भविपावक स्पर्श, परस्त्री संग न करनेवाला, परधन न चाहनेवाला, असत्य न बोलनेवाला, तामस भक्तोंका संग न करनेवाला, गुरुलिंग जंगमोंको अर्थ, प्राण, अभिमानादि समर्पण करके प्रसाद सेवन करनेवाला, प्रसाद निंदा न सुननेवाला, दूसरोंकी आशा न रखनेवाला, पात्र सत्पात्रका विचार न करनेवाला, चतुर्विध पदवीके योग्य, षड्विकारोंसे न झुकनेवाला, कुलादि अभिमानसे मुक्त, द्वैताद्वैतमें मौन, संकल्प विकल्प रहित, स्थल कालोचित जाननेवाला, क्रमशः षट्स्थल पूर्ण, सर्वांग लिंग, दासोह संपन्न, इस प्रकार बावन विद्यासे निपुण होकर जी रहा है हमारा बसवण्ण उसके श्रीचरणोंमें अहोरात्र नमो नमो कहकर जी रही हूं **चन्नमल्लिकार्जुना** ।

टिप्पणी:—श्री बसवेश्वर षड्स्थलाधीश है। वीरशैवाग्रणी । उनका आदर्श सामने रहते हुए भला दूसरा वर्णन क्यों देखें ?

प्रकीर्ण

विवेचन—अब तक विषयानुक्रमसे वचनोंका चुनाव करके उनका विवरण दिया गया है। अब वचनोंकी विविधताका भी थोड़ा दर्शन करें। इसमें संशय नहीं कि इनमेंसे कई वचन, विषयानुक्रमसे भिन्न-भिन्न अध्यायोंमें सम्मिलित किये जा सकते थे। किंतु प्रकीर्ण नामका यह स्वतंत्र परिच्छेद बनाना अधिक अच्छा समझा गया।

वचनोंके महत्त्वके विषयमें—

वचन—(५१६) शास्त्र तो मन्मथ शास्त्र है और वेदांत शुद्ध मनोव्याधि। पुराण तो मरे हुए लोगोंके गंदे गप हैं। तर्क बंदरका खेल है। आगम तो योगकी चट्टान है और इतिहास राजा रानियोंकी कहानी। स्मृति पाप पुण्यका विचार है तो आद्योंका वचन अत्यंत वेद्य है **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुना** तुम्हें जाननेमें।

(५१७) हमारी चाल चलनेके लिए पुरातनोंके वचन ही आधार हैं। स्मृति समुद्रमें जाय। श्रुति बैकुंठ जाय। पुराण भाड़में जाय। आगम हवामें उड़ जाय। हमारे वचन **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुनके** हृदयकी गांठ बनकर रहें।

टिप्पणी:—यहांपर वचनकारोंने छातीपर हाथ रखकर वचनोंका महत्त्व गाया है। उनका कहना है, वेदोंमें, पुराणोंमें ज्ञान नहीं है, वह तो मनुष्यके हृदयमें है।

(५१८) वेदवाक्य विचारोंका बीज है, शास्त्र वाक्य संशयका बीज है। पुराण पुण्यका बीज है। भक्तिका फल संसारका बीज है। एको भावकी निष्ठा सम्यक् ज्ञानका बीज है। सम्यक् ज्ञान अद्वैतका बीज है। अद्वैत ज्ञानका बीज है। ज्ञानी प्रतीक रहित, चिन्ह रहित लिंगमें समरस हो करके रहना ही जानता है **उरिलिंग पेद्दिप्रिय विश्वेश्वरा**।

(५१९) अनंत वेद, शास्त्र, आगम, पुराण, तर्क तंत्र, सब आत्माको बनाते हैं किन्तु आत्मा उन्हें नहीं बनाता। मेरे अंतरंगकी ज्ञानकी मूर्ति बनकर **उरिलिंगदेव** संकल्पसे रहा।

टिप्पणी:—अंतःज्ञान सबसे श्रेष्ठ है। आत्म प्रकाशसे ही सब होता है। यही वचनकारका अभिमत है। अब वचनकारोंके मतसे भगवान किसको और कैसे दीखता है यह देखें।

(५२०) सद्भावियोंको तू ही एकाकार लोकाकार होकर दीखता है। भाव भ्रमितोंको तेरा एकाकार ही झूठ और लोकाकार ही सच-सा लगता है। और एकाकार, लोकाकार तथा सर्वाकार होकर दीखता है तू निर्भावियोंको **सौराष्ट्र सोमेश्वरा** तू सत्याकार होकर रह रे बाबा भावैक्य महात्माओंके लिए।

टिप्पणी:—कामनायुक्त स्त्रीसंग घातक है।

(५२१) दासियोंका संग कीचड़ भरा पानी ढोनेका-सा है। वेश्याओंका संग जूठन खानेका-सा है। परस्त्रीका सग पंच महापातकोंका बोझ है। इस प्रकारका त्रिविध आचरणवाला नास्तिक है, भक्त कदापि नहीं। भक्तिके अभावमें मुक्ति नहीं हमारे **कूडल संगैयके** घर।

टिप्पणी:—अनुभाव ही सबसे महत्त्वका है।

(५२२) भक्तिके लिए अनुभाव ही मूल है रे! भक्तिके लिए अनुभाव ही आचार है। भक्तिके लिए अनुभाव ही सकलैश्वर्य श्रृंगार है। वीर शैव आचार संपन्न भक्त महानुभावोंके लिए अनुभाव ही ज्ञानका परिचायक है। इसलिए अनुभाव रहित भक्ति खींचातानी है। अनुभाव रहित मनुष्य कामनावाला होता है। उस महानुभावके कार्यमें सकल चांचल्य भरा रहता है। नम्रतासे यह बात न सुननेवालेके लिए हमारा **कूडलचन्नसंगमदेव** घोर नरकके अलावा और क्या देगा ?

टिप्पणी—सच्चा वचन और अनुभाव क्या है ?

(५२३) वचन रचनाका अनुभाव जानता हूं कहनेवाले— तुम सुनो। वचन क्या है ? रचना क्या है ? अनुभाव यदि तुम जानते हो तो कहो, नहीं तो सुनो। आत्म तृप्तिका ज्ञान जाना तो वचन, स्थावर और जंगममें लय होकर रह सके तो वचन। षड्विकारोंसे प्रभावित, प्रवाहित न होते हुए स्थिर रह सके तो अनुभावी। वेद, शास्त्र, पुराण, आगमादिको जाननेवाला पंडित है, विद्वान है, किंतु अनुभावी नहीं। क्योंकि वह ब्रह्मका जूठन है। सत्व रज श्रमको संयत करके रहनेसे सहजत्व स्थिर और स्थित होगा। यह न जानते हुए वेदाभ्यास जानता हूं कहनेवालोंका समूह क्या अनुभावी है ? नहीं, वह मुख स्तुति करके अपना पेट पालनेवाले उदरपरायण हैं। मेरे स्वामी **कूडलसंगम देवा** तुम्हारे अनुभावियोंको तुम ही कहूंगा।

(५२४) अड़सठ सहस्र वचन गा-गा करके थक गया है मेरा मन। गानेका वही वचन, देखनेका वही वचन, विषय छोड़ करके निर्विषय होनेका वही वचन **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुनमें**।

टिप्पणी:—सच्चा ब्राह्मण।

(५२५) वेद देख करके वेदाध्ययन किया तो क्या ब्राह्मण हो गया ?

"ब्रह्मजानातीति ब्राह्मणः ।" यह वेद वाक्य जानकर ब्रह्मभूत हो जानेवाला ही ब्राह्मण है **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुना ।**

(५२६) गुणोंसे ब्राह्मण हुए बिना अगणित अभ्याससे ब्राह्मण नहीं बन सकता । मलत्रयोंका अतिक्रमण करना चाहिए, अतिक्रमण करना चाहिए सृष्टि स्थिति लयका **सर्वंहारकपिलसिद्ध मल्लिकार्जुना ।**

टिप्पणी:—जाति, गुण, कर्मानुसार है, न कि जन्मसे ।

(५२७) वेदशास्त्रके लिए ब्राह्मण बने, वीर वितरणके कारण क्षत्रिय बने, हर बातमें पांच छः देखनेवाले वैश्य हुए, और हल चलानेवाले शूद्र बने । इस प्रकार जाति कुल गोत्र बने । जाति गोत्रमें नीच, श्रेष्ठ, दो कुलोंके अतिरिक्त अन्य अनेक जाति कुल नहीं है । ब्रह्म जाननेसे ब्राह्मण, सर्वजीव हित कर्मके आधीन होनेसे चमार । यह दोनों जानकर नहीं भूला **कैयुलिगत्ति अडिगूंट कडेयागबेड अरि निजात्मराम रामना ।**

(५२८) शुक्र, शोणित, मज्जा, मांस, भूख, प्यास, व्यसन विषयादिका एक ही प्रकार है, किंतु करनेके कृषि, व्यवसायमें अनेक प्रकार हैं, दिखाई देनेवाले दृश्य और जाननेवाली आत्मामें यही अंतर है । किसी भी कुलका हो, जान लिया कि परतत्वानुभावी, भूला तो मल माया संबंधी । यह भेद जानकर मैं नहीं भूला **कैयुलिगत्तिअडिगूंट कडेयागबेड अरिनिजात्म राम रामना ।**

(५२९) सांख्य श्वपच था, अगस्त्य मच्छी मार, दुर्वासा मच्चिग (लकड़ी तराशने वाला), दधीचि बढ़ई, कश्यप लुहार, रोमज ठठेरा, कौंडिन्य नाई, यह सब न जानते हुए कुल-कुल कहते हो, यह कुलका छल क्यों भला ? ये सब सप्तऋषि सत्यसे ही मुक्त हुए, यह न जानते हुए असत्य पथपर चलकर 'ब्राह्मण हम श्रेष्ठ है" कहते हुए श्रेष्ठताका बोझ ढोनेवाली बात क्यों **कैयुलिगत्तिअडिगूंटकडेयागबेड अरिनिजात्मरामरामना ।**

टिप्पणी:—वचनकारोंने ऊपरके वचनोंमें जातिभेदका विरोध किया है इतना ही नहीं उसको अस्वीकार भी किया है । उनका स्पष्ट कहना है कि जाति गुण कर्मानुसार है, जन्मानुसार नहीं । ऋषि-मुनियोंने भी अपने गुणकर्मसे ही श्रेष्ठता पाई है । वचनकारोंने सज्जनोंको अपनी जातिगत अलगावको भूलकर खान-पान विवाह आदि संबंध बढ़ानेका उपदेश दिया है ।

(५३०) पास न आनेवाला रसोईसे दूर है । जो रसोईसे दूर है वह घरसे दूर है । जो घरसे दूर है वह मनसे दूर है और **गुहेश्वर लिंगसे** दूर है **चन्न बसव ।**

(५३१) खानेमें, पहननेमें कहते हैं कर्म भ्रष्ट हुए, धर्म भ्रष्ट हुए । लेनेदेनेमें क्या कल देखना है ? क्या वे भक्त कहे जा सकते हैं ? वे क्या मुक्त कहे

जा सकते हैं ? **कूडलसंगमदेव** यह चांडाल कन्याका शुद्ध पानीसे स्नान करनेका-सा हुआ।

टिप्पणी:—संसारसे अनुभव किए हुए विषयोंकी दासतासे उकताकर आत्म-स्वातंत्र्यकी मांग करनेवाले वचन।

(५३२) पाप-पुण्य जाननेसे पहले, अनेक जन्ममें आई हूं। विश्वाससे शरण आयी हूं। तुमने कभी अलग न रह सकूं, ऐसा करो स्वामी ! तुम्हारा धर्म, तुम्हारा कर्म ! केवल तुम्हें ही मांगती हूं ! भव-बंधनसे मुक्त करो मेरे **श्रीचन्नमल्लिकार्जुना**।

टिप्पणी:—परमात्माके अनुग्रहसे ही मुक्ति संभव है।

(५३३) खोजमें भटकनेसे नहीं, तप करनेसे नहीं, वह अपने महाकालके बिना साध्य नहीं होगी। शिवकी प्रतीतिके बिना साध्य नहीं होगी। **चन्नमल्लि-कार्जुनके** मुझसे प्रसन्न होनेसे, बसवेश्वरके संगसे मैं बच गयी।

टिप्पणी:—श्रेष्ठ सत्य योगका अनुभव चखे योगीका वर्णन।

(५३४) पालनेमें पड़े राज शिशुकी भांति रहना योगीके लिए भूषण है। संधिकालके प्रकाशके सदृश्य रहना योगीके लिए भूषण है। वेश्या-ओंकी प्रीतिवत् रहना योगियोंके लिए भूषण है। पतिव्रताकी भक्ति-सा रहना योगियोंके लिए भूषण है, **कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुनको** यह तोषण (प्रिय) है सुन मेरे मन।

(५३५) संसारके नाना प्रकारके दुःखमें जन्म पाये हुए प्राणियोंको यहाँ लाये मेरे पिता। अब मैं जन्म नहीं लूंगा। अब मैं नहीं पाऊंगा यह। अब मैं जन्म-मरणके द्वंद्वसे परे गया। तुम्हारा कहा हुआ कर्तव्य किया। अब अपने-में विलीन कर लो **कूडलसंगमदेवा**।

मुक्ताय

विवेचन—यह वचनामृतका अंतिम अध्याय है। यह उपसंहार है। मानों यह वचन साहित्यका सार है। इसी दृष्टिसे इन वचनोका संकलन किया गया है। वचनोंकी उत्पत्ति के विषयमें—

वचन—(५३६) कामधेनुका कल्पित माधुर्य भला मृत्युलोकके जानवरोंमें आयगा? महाशेषके मस्तक पर प्रकाशनेवाला माणिक्य भला तालाबके फनियार सांपके सरपर होगा? ऐरावतके मस्तकपर चमकनेवाला मोती भला मुहल्ले-मुहल्ले घूमनेवाले सूअरके माथेपर रहेगा? शरणोंके मनोमध्यमें रूपित शिव अपने शरणोंकी जिह्वाकी नोकपर वचन रूपी परमामृतका दोहन कर, आस-पासके गणोंको उसका माधुर्य चखाकर उन शरणोंमें अपनी परिपूर्णताको दिखाना छोड़ कर क्या द्वैत-अद्वैतका वाद करनेवालोमें दिखाएगा **धर्नालिगियमोहदमल्लिकार्जुना।**

टिप्पणी:—दैवी स्फूर्तिसे प्रकट वाणी ही वचन है। अन्य बातें वचन कहलाने योग्य नहीं।

विवेचना—अब अन्य अनेक अध्यायोंमें जो विषय आये हैं उन्हींसे संबंधित वचनोंको साररूपसे एक ही अध्यायमें गूथ करके समग्र वचनामृतका इस अध्यायमें देनेका प्रयास किया गया है: जैसे कि उपसंहारमें किया जाता है।

वचन—(५३७) द्वीपाद्वीप जहां नहीं वहांसे, काल कर्म जहां नहीं वहांसे, कोई कुछ जहां नही वहांसे, आदि तीन जहां नहीं वहांसे, **सिम्मुलिगेय चन्नराम** नामका लिंग नहीं वहांसे।

टिप्पणी:—आदि तीन=ब्रह्मा, विष्णु, महेश।

(५३८) वेदातीत, षड्वर्ण रहित, अष्टविंशत कालातीत् व्योमातीत, अगम्य अगोचर **कूडलसंगमदेवा।**

(५३९) क्या है यह कहनेको नहीं, बोल करके कहनेको नहीं सत्यमें स्थित ऐक्यका प्रतीक जानना? वह अपनेमें आप नहीं, क्या है यह कहनेको नहीं, शून्यसे कुछ भी नहीं पाया गया। स्वयं आप नहीं अन्य नहीं **चिक्कप्रिय सिद्ध लिंग** नहीं, नहीं, नहीं!

(५४०) तुम्हारा तेज देखनेके लिए तड़प तड़पकर देखता रहा, तब शतकोटि सूर्य उदय होनेकासा प्रकाश हुआ। विद्युल्लताओंका समूह देखनेकासा चमत्कृत हुआ मन। **गुहेश्वरा** तू ज्योतिर्लिंग बना तो उसे देखकर उसकी उपमा देनेवाला कोई है ही नहीं।

(५४१) विश्व भरमें तू ही तू है प्रभो, विश्वभरित भी तू ही है, विश्वपति भी तू ही है स्वामी और विश्वातीत भी तू ही है **अखंडेश्वरा।**

(५४२) गिरिगुहाके खंडहरोंमें, भूमि खेत खलिहानोंमें, जहां देखा तू ही है प्रभो! वाङ्मनको अगम्य, अगोचर होकर जहां-तहां तू ही तू रहता है **गुहेश्वरा,** तुमसे अलग होनेके लिए मैंने चारों ओर भटककर देखा।

(५४३) वृक्षमें तुमने मंद-मंद अग्निकी ज्वालाको रखा है वृक्ष न जलने देते हुए। दूधमें तुमने घीको रखा बिना सुगंधके। शरीरमें आत्माको रखा है अदृश्य बनाकर तुम्हारे इस रहस्यको देखकर चकित हुआ मैं **रामनाथा।**

(५४४) मृत्युरहित, रूपरहित विकृति रहित सौंदर्य है मां उसका। स्थान-रहित, चिन्ह रहित सर्वांग सुंदरको मैंने वरण किया मेरी मां! कुल शील रहित निःसीम सुंदर पर मैं रीझ गयी। इसलिए **चन्नमल्लिकार्जुन** ही मेरा पति है। इन मरनेवाले सड़नेवाले पतिको भाड़में झोंक दो।

टिप्पणी:—परमात्मा अनादि, अनत, त्रिगुणातीत, कलारहित, वाङ्मनको अगोचर, विश्वव्यापी, विश्वपति और तेजोरूप है। वह सर्वव्यापी है जैसे देहमें बसी आत्मा, दूधमें स्थित घी। इन उपरोक्त गुणोंको अपने पतिमें आरोपित करनेवाली सतीकी भांति अक्कमहादेवीने भगवानका वर्णन किया है। अब सृष्टिके विषयमें—

(५४५) अपनी लीला विनोदके लिए इस सृष्टिका सृजन किया उसने। अपने विनोदके लिए विश्वको अनंत दुःखमें भरमाया उसने। मेरे **चन्न-मल्लिकार्जुन** नामके पर शिवने जगद्विलास पर्याप्त होनेसे पुनः उस माया पाशको तोड़ दिया।

(५४६) आकाश गर्जनसे वर्षा होनेपर उसी वर्षा जलके आकाशसे मिल करके जमकर ओले बन जानेकी भांति तुम्हारा स्मरण ही शक्ति बना **महालिंग कल्लेश्वरा** तुम्हारा आदिका यही प्रारंभ हुआ न?

टिप्पणी:—चिद्रूप अनादि अनंत परमात्मामें संकल्प मूलक शक्तिका निर्माण होकर सृष्टिका प्रारंभ हुआ। जीवात्मा इस सृष्टिका एक भाग है। किंतु वह "मैं" पनेके अहंकारके वश होकर इस सृष्टिसे अलग होनेका अनुभव करता है। जैसे कि यह अहंभाव नष्ट होगा "मैं ही चिन्मय हूं" का दैवी-भाव स्थिर होगा और वह मुक्त होगा। आगे उसको कभी अहंभावका अनुभव नहीं होगा।

(५४७) दर्पणमें देखनेसे प्रतिबिंब दीखेगा। वह दृश्य विपरीत होकर प्रति-बिंब मूलबिंबमें छिप गया कि अनुपम ब्रह्मके स्मरणसे वह चित् कहलाता है। उस चित्से चित्नाद, चित्कला, चित्बिंदु आदि उस मूल चित्स्वरूप शरणके देह प्राण आत्म होकर अंगके पदार्थ बन जाते हैं। वह पदार्थ सब लिंग मुखसे

समरस बनकर वह चित् चिद्‌घनके विलीनीकरणमें ऐक्य हो जाता है **अखंडेश्वरा** ।

(५४८) अजी ! अपने आपको जान लिया कि आप स्वयं पर-ब्रह्म है, अपने आप चिन्मय चिद्‌बिंदु चित्कलामूर्ति है, अपने आप सकल चैतन्य सूत्रधारी हैं, अपनेसे बड़ा दूसरा दैवत ही नहीं; अपने आप स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप चिद्‌घन लिंग है **अप्रमाण कूडलसंगमदेवा** ।

टिप्पणी:—जीव अपना औपाधिक संकुचित भावका अतिक्रमण कर गया कि मैं देह हूं, मन हूं, यह भूलकर "मैं आत्मस्वरूप" हूं ऐसा अनुभव करने लगता है । यही साक्षात्कार है । इसीसे मुक्ति है । फिर भी भला सब मुक्त क्यों नहीं होते ? क्योंकि जीव अज्ञानसे बद्ध है । तब वह अज्ञान क्या है ?

(५४६) मांके गर्भमें रहते हुए बालक मांको नहीं पहचानता । वह माँ भी बच्चेको नहीं पहचानती । उसके रूपको नहीं जानती, माया मोहके आवरणमें स्थित भक्त भगवानका रूप नहीं जानता । भगवान भी उन भक्तोंको नहीं जानता **रामनाथा** ।

(५५०) दुनियाके सब घरोंको मेरा घर कहनेवाले चूहेकी भांति जीव धन, धरा और दारा आदि सब कुछ मेरा कहता हुआ उन सबका बोझ ढोता फिरता है, सबका कर्ता धर्ता भर्ता **कूडलसंगमदेव** है यह न जानते हुए ।

(५५१) जब दर्पण पर धूल पड़ी होती है तब दर्पण नहीं देखना चाहिए, अपनी भाव शुद्धिके लिए दर्पणकी शुद्धता और चमक आवश्यक है । मेरे मनके कपटको तुम्हारी चित्त-शुद्धिकी खोज करनी चाहिए । तुम्हारी निर्मलताको मेरा मन शरीर आदि धोना चाहिए । ज्ञानके शरणकी विनय **सदशिव मूर्ति लिंगके** समरस भाव ।

(५५२) मोह, मद, राग, विषाद, ताप, शोक, वैचित्र्य रूपी सप्त मलके आवरणमें लीन होकर अपने आपको न जानते हुए, आंखोंमें छाए अज्ञानांधकारसे आगे क्या है यह न देखनेसे भला शिवको कैसे जानेंगे ? गृह, क्षेत्र, सति सुतादि बंधनोंमें बद्ध पशु भला शिवको कैसे जानेगा ? **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वर** स्वयं उन्हें उठाना भी नहीं जानता ।

टिप्पणी:—दर्पण पर पड़ी धूलकी भांति अज्ञान मनुष्यके मनको ग्रसता है । बुद्धिपर छा जानेसे मनुष्य दुःखमें छटपटाता है । काम क्रोधादि षड्वैरि, विषय सुख लालसा, अहंकार, ममत्व, राग द्वेषादि द्वंद्व, अज्ञानके विविध रूप हैं । वह मनुष्यको मोक्षकी ओर नहीं जाने देते । जब ज्ञान हुआ कि मनमें उन सबकी ओरसे उदासीनता आ जाती है । वैराग्य उत्पन्न होता है । मोक्षका संकल्प महुलाता है । वही मुमुक्षु स्थिति है । मोक्षका संकल्प भला कैसा होता है ?

(५५३) चंद्रमाकी भांति कलाएं प्राप्त हुईं मुझे। संसार रूपी राहु सर्व-ग्रासी हुआ था। मेरे जीवनमें ग्रहण लगा था। आज उस ग्रहणका मोक्ष हुआ **कूडलसंगमदेवा।**

(५५४) मुझे जहां तहां न भटक सकनेसा लंगड़ा बना रख मेरे पिता। चारों ओर न झांक सकने जैसा अंधा बना रख मेरे पिता। अन्य विषय न सुन सकने जैसा बहरा बना रख। तुम्हारे शरणोंके चरणके अतिरिक्त अन्य विषयों-की ओर न खिच सकने जैसे रख मेरे **कूडलसंगमदेवा।**

(५५५) हे भ्रमर समूह! हे आम्रवन! अरी चादनी! कोयल! तुम सबसे एक ही मांग करती हूं मेरे स्वामी **चन्नमल्लिकार्जुनको** देखा हो तो मुझे वहां पहुंचा दो री!

टिप्पणी:—मोक्षार्थीके लिए संसार सुखकी ओर मनको जाने देना अथवा विषय सुखमें मग्न रहना घातक है; जब इसका अनुभव होने लगता है तब इसमेंसे मुक्त होना चाहिए ऐसा भाव स्थिर होता जाता है। यही मुक्तिकी इच्छा है। जैसे-जैसे मुक्तिकी इच्छा तीव्र होती जाती है मुक्तिका द्वार मुक्तद्वार होता है। इसके साधनरूप वचनकारोंने सर्वार्पण का महत्त्व गाया है।

(५५६) मेरी मायाका मन तोड़ दो बाबा! मेरे शरीरकी छटपटाहट नष्ट करो। मेरे जीवकी उलझन सुलझाओ। मेरे स्वामी **चन्नमल्लिकार्जुना** मुझे लपेटे हुए इस माया प्रपंचसे छुड़ाओ। यही तेरा धर्म है।

(५५७) चलनेके पैर, उठानेके हाथ, मांगनेवाला मुंह, सबसे मिलनेवाला मन क्षीण होकर धर्नलिंगीमें विलीनहोने वालेका शरीर मानो पागलका देखा स्वप्न है, गूंगेका सुना काव्य है, पानीसे लिखी लिपी है, पानीसे उठा हुआ धुंआ है, यह किसीको असाध्य है **आतुरवैरि मारेश्वरा।**

(५५८) अरे तेरे अनुभावसे मेरा तन नष्ट हुआ रे! तेरे अनुभावसे मेरा मन नष्ट हुआ, तेरे अनुभावसे मेरा कर्म नष्ट हुआ, तेरे लोगोंके द्वारा क्षण-क्षण, कदम-कदम पर, कह-कहकर, भक्ति रूपी वस्तुको सच करके बनाए जानेसे वहां करने व सब करानेवाला तू ही **कूडलसंगमदेवा।**

टिप्पणी—तन, मन, प्राण, भाव; आदि परमात्मामें अर्पण करके उनकी अनन्य शरण जाकर, वह जैसे रखता है वैसे रहते हुए साधक अपनी साधनाका प्रारंभ करता है। तब उसकी सभी शक्तियां परमात्मा-प्राप्तिमें ही लगती हैं। इसके अतिरिक्त भी साधनाके लिए चित्तशुद्धि आदिकी आव-श्यकता है।

(५५९) जो जन सम्मत शुद्ध हैं मन सम्मत शुद्ध नहीं, कथनीमें पंडित हैं, करनीमें पंडित नहीं, जो वेशभूषामें श्रेष्ठ हैं, भाव-भाषामें श्रेष्ठ नहीं, जो धनके

अभावमें निःस्पृह हैं, धन प्राप्त होनेपर निःस्पृह नहीं, ऐसे एकांतद्रोही, गुप्त-पातकी युक्तिशून्यके "प्रसन्न हो, प्रसन्न हो!" कहनेसे क्या **सकलेश्वर प्रसन्न** होगा?

(५६०) शम, दम, विवेक, वैराग्य, परिपूर्ण भाव, शांति, कारुण्य श्रद्धा, सत्य, सद्भक्ति, शिवज्ञान, शिवानंद उदय होनेपर, उस महा भक्तके हृदयमें शिव वास करेगा। उसके दर्शन स्पर्शन संभाषणसे केवल मुक्ति ही प्राप्त होगी **निजगुरु स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वरा**।

टिप्पणी:—बाह्यशुद्धिसे अंतःशुद्धिकी आवश्यकता अधिक है। वैसे ही भक्तके लिए चित्त शुद्धि होनी चाहिए, चारित्र्य शुद्धि होनी चाहिए। जिसके जीवनमें यह विद्यमान है उसके हृदयमें परमात्माका वास है। अब निर्मोह निरहंकारके विषयमें देखें।

(५६१) शिव ही सर्वोत्तम दैवत है, काया वाचा मनसे हिंसा न करना ही धर्म है, अधर्मसे प्राप्त प्राप्तव्यका स्वीकार न करना ही नियम, आशाका त्याग करके निःस्पृह रहना ही तप, क्रोध छोड़कर अक्रोध रहना ही जप है, निर्वंचक रहना ही भक्ति, निर्दोष रहना ही समयाचार, यही सत्य धर्म है, शिव जानता है, शिवकी सौगंध **उरिलिंगपेद्दिप्रियविश्वेश्वरा**।

टिप्पणी—निर्दोष रहना=समता रखना।

(५६२) बाहरी फूल तोड़कर बाहरी पूजा करनेसे कोई परिणाम नहीं होता। उससे समाधान नहीं होता, किसी जीवकी हिंसा न करना ही शिवपूजाका प्रथम पुष्प है, सब इंद्रियोंका निग्रह करना द्वितीय पुष्प, सब प्रकारके अहंकारका त्याग करके शांत रहना तृतीय पुष्प, सब प्रकारका व्यापार छोड़कर निर्व्यापार हो जाना चतुर्थ पुष्प है, दुर्भावका त्याग करके सद्भावमें स्थिर रहनेके लिए प्रयास करना पंचम पुष्प, भोजन करके उपवासी रहना, भोग करके ब्रह्मचारी रहना (अर्थात् सदैव निर्लिप्त रहने सीखना) षष्ठ पुष्प, असत्य त्यागकर सत्यका ग्रहण करना सप्तम पुष्प, सकल संसारसे अलिप्त रहकर शिवज्ञान संपन्न रहना अष्टम पुष्प है और इस अष्ट दल कमलसे सहस्र पूजा करना जाननेवाला शरण तुम्हारा प्रतिबिंब ही है **कूडलसंगमदेवा**।

टिप्पणी:—अष्टविध अर्चना षोडशोपचार पूजा आदिको वचनकार कोई महत्त्व नहीं देते थे। सद्गुण, सदाचार, सर्वभूत हितरत, इसीको वह महत्त्व देते थे, उनके मतसे भक्तोंको सद्गुणी, सच्चरित्र, सर्वभूतहितरत होना चाहिए।

(५६३) अर्चना करनेमें वेषको जानना चाहिए। पूजा करनेमें पुण्य मूर्ति होना चाहिए, लेन-देन में सर्वभूतहित होना चाहिए, ऐसे वैभवसे रहनेवालों-

का पालागन करेगा **अंबिगर चौडैया** ।

(५६४) चोरी मत कर, खून मत कर, असत्य न बोल, क्रोध न कर, दूसरोंके लिए असत्य बात न कर, आत्मस्तुति न कर, पीठ पीछे निंदा न कर, यही अंतःशुद्धि और यही बाह्यशुद्धि, यही **कूडलसंगमदेवके** प्रसन्न होनेका मार्ग है।

टिप्पणी:—सदाचारका अर्थ नीतियुक्त आचार। यही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यह बात वचनकारोंने पुनः-पुनः कही है। उन्होंने यह भी कहा है कि साधकको सर्वभूत हितरत होना चाहिए।

(५६५) शरणस्थलका मार्ग न जानते हुए "मैं शरण" "मैं भक्त" कहनेवाले कर्मकांडियोंका मुह नहीं देखना चाहिए। क्योंकि शरण होनेवालोंको शरण होनेसे पहले अपने चित्तके कोने-कोनेमें छाये अधकारको दूर करना चाहिए। शरण होनेके पहले अपनी आत्माके चारों ओर फैले हुए मदको धोना चाहिए। शरण होनेके लिए जहां तहा भटकनेवाले मनको पकड़ते हुए जहां वह गया वहांसे लाकर लिंगमें स्थिर करना चाहिए। शरण होनेके लिए नित्या-नित्य जान करके, तत्वातत्वोंका विवेचन विश्लेषण कर महा-ज्ञानके वातावरणमें विचरण करना होगा। इस रहस्यका विश्लेषण न जानते हुए, अष्टान्न खाते-खाते, विश्वके विविध विषय प्रपंचमें विचरण करते-करते, मुक्तिका रहस्य न जानकर, मुक्तिमार्ग न दिखाई पड़नेसे व्यर्थ जीवन खोनेवालोंको देखकर हंस रहा है हमारा **अखंडेश्वर** ।

(५६६) स्वर्ण खनिकको स्वर्णकण समूहको देख करके धोना पड़ता है, जाल फेंकनेवाले मच्छीमारोंको मछलियोंसे नेह लगाकर कल्लि (जालका थैला) उतारनी पड़ती है, शिकारियोंको अपना वैभव छोड़कर वृक्षोंके पत्तोंमें छिप करके रहना पड़ता है, ऐसे भिन्न-भिन्न मार्गोंका रहस्य जानकर, उनके गुण धर्मका इतिवृत्त जानकर, उनके जीवनकी पद्धतिका अनुकरण करनेवालोंका, भिन्न-भिन्न स्थलोंका सत्य रहस्य जानते हुए, वेषचोरोंका, कार्याकार्यका इंगित देखकर, वंचक धूर्तोंकी रीति-नीति जानकर, और किसी प्रकारका अन्य भाव न लाते हुए, अपनी सत्य नीतिको फैलाकर, अपने सद्गुणोंको बढ़ाकर, अपने सद्गुणोंकी वासनाको समाजमें भरकर, भावभक्तिसे सत्यकी ही घोषणा करके रहनेवाला त्रिविधमें तथा षड्वैरियों-के जालमें नहीं आयगा। वह पंचेंद्रियोंके सुख समूहका दास होनेवाला नहीं, अन्य अनेक विषय समूहके जालमें आनेवाला नहीं। वह स्वयं **बसवण्णप्रिय विश्व-कर्मटक्के कालिका विमल रजेश्वरलिंग** ही है।

(५६७) मठकी क्या आवश्यकता? पर्वत किस लिए? जन जंजाल क्यों चाहिए जिनका चित्त शांत है उनको? और बाह्य चिंता, ध्यान, मौन, जप,

तपकी भी क्या आवश्यकता अपने आपको जाने हुए शरण को गुहेश्वरा।

(५६८) तुम्हारी पूजा करना चाहूं तो अपना शरीर ही नहीं, क्योंकि मेरा शरीर ही तुम बने हो, तुम्हारा स्मरण करना चाहूं तो ज्ञान ही नहीं, भान ही नहीं क्योंकि वह ज्ञान, भान तुम बने हो अखंडेश्वरा तुममें आग निगले कपूर-सा बना हुआ हूं।

टिप्पणी:—पूर्ण समरस ऐक्यानुभवकी स्थिति अंतिम वचनमें कही गई है। परमात्माकी स्वलीलामें वह समरस भावसे विहार करता है। पानीमें घुले हुए नमकके पुतलेका-सा। यही सारुप्य मुक्ति है। यही ब्रह्मानंद है। यही शिव समरसैक्य है। यही अमृतमय जीवन और शाश्वत सुख है। यही वचन साहित्यका उद्देश्य है।

वचनामृतमें जिन वचनकारोंके वचन लिए हैं उनके नाम

और

उनके वचनोंके क्रमांक

इस नाम सूचीमें प्रथम वचनककारोंकी मुद्रिका अंकित की है। उसके पश्चात् उनके नाम दिये हैं, अनंतर वचनोंका क्रमांक।

(१) अखंडेश्वरा····· षण्मुखस्वामी १०, १३, ४०,४२, ४८, ६१, ७८, ८१, ८६, १३३, १६३, २१७, २७६, ३३४, ३४०, ३५०, ३७३, ४३६, ४४१, ४४३, ४६२, ५४१, ५४७, ५६५, ५६८।

(२) अजगण्ण··· ···मुक्तायक्क २३५।

(३) अप्रमाण कूडलसंगमदेव······? ४, १६, २४१, २४३, २४४, ३०४ ५४८।

(४) अभिनव मल्लिकार्जुन······कक्कैय डोहर, २०१।

(५) अमरेश्वरलिंग······आयदक्कि मारैय · २५२, ३१५, ३२१, ३२४।

(६) अलोकनाद शून्य शून्यकल्लिनोलगादः····· भंडारी शांतैया ४६१।

(७) अंबिगर चौडैय ·· ··अंबिगर चौडैय ३६, ४७, १६३, १६६, १६६अ १७७, २४६, ४०६, ४३२, ४४३, ५६३।

(८) आतुरवैरी मारेश्वरा····· नगिमारितंदे १६०, ५५६।

(९) ईशान्यमूर्ति मल्लिकार्जुन लिंग······शिवलंक मंचण्ण, ३६४, ३६६, ३७५, ४३६।

(१०) उरिलिंगदेव······उरिलिंगदेव ६५, २०२, ५२१।

(११) उरिलिंग पेद्दिप्रिय विश्वेश्वर · ···उरिलिंगपेद्दि ३२, ३३७, ३६५, ४५४, ४६४, ५०८, ५१०, ५१६, ५६१।

(१२) उलिमुलेश्वरा······चिक्कैय २६२।

(१३) एन्नैयप्रिय इम्मडि निःकलंकमल्लिकार्जुन····· मोलिगेय मारय्यकी धर्मपत्नी महादेवी ४१, १४१, १७०, २४५।

(१४) एकेश्वरलिंग····· एलेशकेतकैय ४५०।

(१५) कदंबलिंग······कंमद मारैय ३८५।

(१६) कपिलसिद्धमल्लिकार्जुन ···· सिद्धरामैय २१, ३७, ६४, १४७, १८६, २१५, २२६, २३४, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २६३, २६४, २८२, ३१४, ३८४, ४१०, ४२०, ४४५, ४४७, ४८६, ५१६, ५१७,

५२४, ५२५, ५२६, ५३४।

(१७) कैयुलिगत्तिग्रडिगूंटकडेयागबेडग्ररिनिजात्मरामना···मादरचैन्नय ३५३, ४८२, ५२७, ५२८, ५२९।

(१८) कर्महरकालेश्वर······कालव्व, बाचीकायकदबसवैयकी धर्मपत्नी ३२२।

(१९) कलिदेवरदेव·· ···मडिवालमाचैय ३८, ५५, ३०१, ३८७, ४८७।

(२०) काडिनोलगादशंकरप्रिय चन्नकदंबलिंगनिर्माय प्रभुवे······काडसिद्धेश्वर २७१।

(२१) कामेश्वर······? ५११।

(२२) कालकर्मरहित त्रिपुरांतकलिंग·· ·· कीलारदा भीमण्ण, ४५३।

(२३) कलिंग देव · ·· कलिलिंग, ४७०।

(२४) कूडलचन्नसगम देव····· चन्नबसवेश्वर, ६, ८२, ९९, १०२, १०३, ११४, १५१, १९९, २०४, २१२, २५४, ३७८, ३८१, ३८२, ४४०, ४६०, ५०१, ५०५, ५०९, ५१३, ५२१, ५२३।

(२५) कूडलसंगमदेव ···श्रीबसवेश्वर, ११, २४, २८, ४३, ४५, ४६, ५३, ५४, ५७, ६२, ६८, ७६, ७७, ८०, ९२, १००, १०७, १०८, ११५, १२०, १२१, १३१, १३५, १४२, १४४, १५६, १६८, १८२, १८३, १८५, २०७, २०८, २११, २१८, २२२, २२३, २५९, २६०, २६१, २६३, २६७, २७८, २७९, २८१ २८६, २८७, २८९, २९१, २९३, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०२, ३०३, ३०५, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३१७, ३१८, ३२८, ३२९, ३३२, ३३६, ३३९, ३४६, ३५७, ३६१, ३६६, ३६७, ३८८, ३९०, ३९१, ४०१, ४०७, ४१३, ४१८, ४२२, ४२४, ४२७, ४२९, ४३१, ४३७, ४३८, ४४०, ४४१, ४४४, ४४८, ४५१, ४५४, ४५५, ४६४, ४६७, ४६९, ४७१, ४७२, ४७९, ४८०, ४८१, ४८३, ४८४, ५३१, ५३५, ५३८, ५५०, ५५४, ५५८, ५६२, ५६४।

(२६) केदार गुरुदेव······केदार ४६३।

(२७) राजेश्वरा······? १२२।

(२८) गुरु पुरदमल्लय······मल्लैय २१९।

(२९) गुहेश्वर·· ···अल्लम प्रभु, १, ३, ५, ९, १४, २३, २९, ३४, ५०, ५१, ५२ ५९, ६७, ७२, ७३, ७४, ७५, ८३, ८४, ८५, ८६, ८८, ९४, ९५, ९६, १०४, १०६, ११०, १११, ११२, ११३, ११७, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२९, १३४, १३९, १४०, १४५,

१४८, १४६, १५२, १५४, १५८, १५६, १६१, १६२, १७८, १६७, २१६, २२१, २२५, २२६, २३०, २५३, २५५, २५६, २५७, २५८, २६५, २६६, २७०, २७२, २८०, २८३, २८४, २६२, ३०६, ३५२, ३५४, ३५५, ३५६, ३७०, ३८२, ३८७, ३८६, ३६६, ४००, ४०२, ४११, ४१४, ४२३, ४६१, ५०२, ५१०, ५३०, ५४०, ५४२, ५६७॥

(३०) गोरक्ष पालक······गोरक्ष ······४८२।

(३१) धर्नलिंगियमोहद मल्लिकार्जुन······धर्नलिंगी ५३६।

(३२) चन्नबसवण्ण प्रिय चन्देश्वर लिंग······? ३२३।

(३३) चन्नबसवण्ण प्रिय भोग मल्लिकार्जुन····· प्रसादिभोगण्ण ३६८।

(३४) चन्नमल्लिकार्जुन·········महादेवी अक्क ७, ८, १०५, ११८, १३०, १३७, १३८, १४६, १५३, १८८, १८६, १६०, १६१, २२४, २३३, ३११, ३४१, ३६८, ४०४ ४०६, ४७३, ४७७ ५१५, ५३२, ५३३, ५४४, ५४५, ५५५, ५५६।

(३५) चन्देश्वर लिंग······नुलियचंदैय, ३२५, ३२७, ३३१, ३३५, ४३७।

(३६) चिक्कप्रिय इल्लइल्ल ···गहिवाकैय ६३, १०४, ५३६।

(३७) जांभेश्वरर्लिग ·····रायसद मंचण्ण ३५६।

(३८) दसेश्वरर्लिग······दासैय ४२६।

(३९) नास्तिनाथा·· ···गोग्गवें ३३३, ३५८।

(४०) निजगुरू स्वतंत्र सिद्धेश्वरा······? १५, १६, १७, २२, २७, ४४, ६३, ११६, १४३, १५५, १६६, १७१, १७२, १७३, १७५, १७६, १८०. १८१, १६५, १६६, १६८, २०६, २१३, २२८, २३२, २४८, २५०, २८५, २६४, ३४५, ३४७, ३४८, ३४६, ३५१, ३८७, ५००, ५५२, ५६०।

(४१) निःकलंक मल्लिकार्जुनः····· मोलिगेय मारैय १०६, ३४४, ३६५।

(४२) बसवण्णप्रिय नागेश्वरर्लिग······बोक्कसद संगण्ण ३७६।

(४३) बसवण्णप्रिय विश्वकर्मटक्के नागेश्वरर्लिग ···· बाचिकायबदवसवण्ण. ५६६।

(४४) बसवप्रिय कूडलसंगमदेव ···नीलांबिके ११८ १६४।

(४५) मनक्के मनोहर शंखेश्वर लिंग····· करालकेतकैय ३६६।

(४६) मरुलशंकरप्रिय सिद्धरामेश्वरर्लिग ···वैद्य संगण्ण ४५६।

(४७) महाघन दोड्डदेशिकार्य गुरु प्रभुवे······मुम्मडिकार्येंद्र ३८४।

(४८) महालिंगकल्लेश्वर ·····हाविनहालकल्लैय २७७, ३३८, ३६७, ५०६, ५४६।

(४६) महालिंग गजेश्वरा ···गणेशमसणैय ६६, ३६२ ।

(५०) महालिंग गुरु सिद्धश्वर प्रभु····· तोटदसिद्धलिंग २, ३५, ४६, ७६, ६१, ११६, १३६, ३१६, ३४३, ३७४, ४१६, ४२३, ४४६, ४४६, ४५८, ४६२, ४८७, ४६६, ४६७, ५०६ ।

(५१) मारैयप्रिय अमकेश्वरलिंग·· ···आयदल्लिमारैय ६०, २७५, ३१६, ४१२ ।

(५२) मारेश्वरा······मारेश्वसेडेय······२४७ ४७४ ।

(५३) रामनाथा····· देवरदासिमैय २०, २५, २६, ३०, ३१, १७६, २१३, २७३, २६०, ३२०, ३७१, ३६२, ४१५, ४२५, ४३४, ४६५, ४६८, ५०७, ५५७ ।

(५४) रामेश्वरलिंग······मेरे मिंडदेव ४७८ ।

(५५) रेकणगप्रिय नागिनाथा······बहुरुपि चौडैय ७१ ।

(५६) वीरबीरेश्वरलिंग······वीरगोल्लाढेय ४४१ ।

(५७) शंभुजवकेश्वर····· सत्यक्क ४२८ ।

(५८) शांतमल्लिकार्जुन······? १०१ ।

(५६) शिवलिंग ·· गूनेरसिद्धणार्य ३३ ।

(६०) सकश्लेवरदेव ·····सकलेशमादरस ३१३, ३६६, ५१२ ५५६ ।

(६१) सदाशिवमूर्तिलिंग··· · अरुविनमारितंदे ४७५, ५५१ ।

(६२) संगैय··· नीललोचने ७० ।

(६३) सिद्ध सोमनाथलिंग ·····अमुगिदेव १५०, ३७१ ।

(६४) सिम्मुल्लिगेय चन्नराम······चंदिमरस १२, १८, ३६, १४२, ४६३, ५३७ ।

(६५) सोड्डल·····सोड्डलबाचरस ६८, १६७, ३६६, ४३०, ४३५ ।

(६६) सौराष्ट्र सोमेश्वर······आयदैद ६०, १७४, २००, २२७, २५० ।

निम्न वचनोंकी मुद्रिकाका अंकित अभी अनुसंधानका विषय है।

५७, २०५, २२०, २४६, ३६०, ४८८ ।